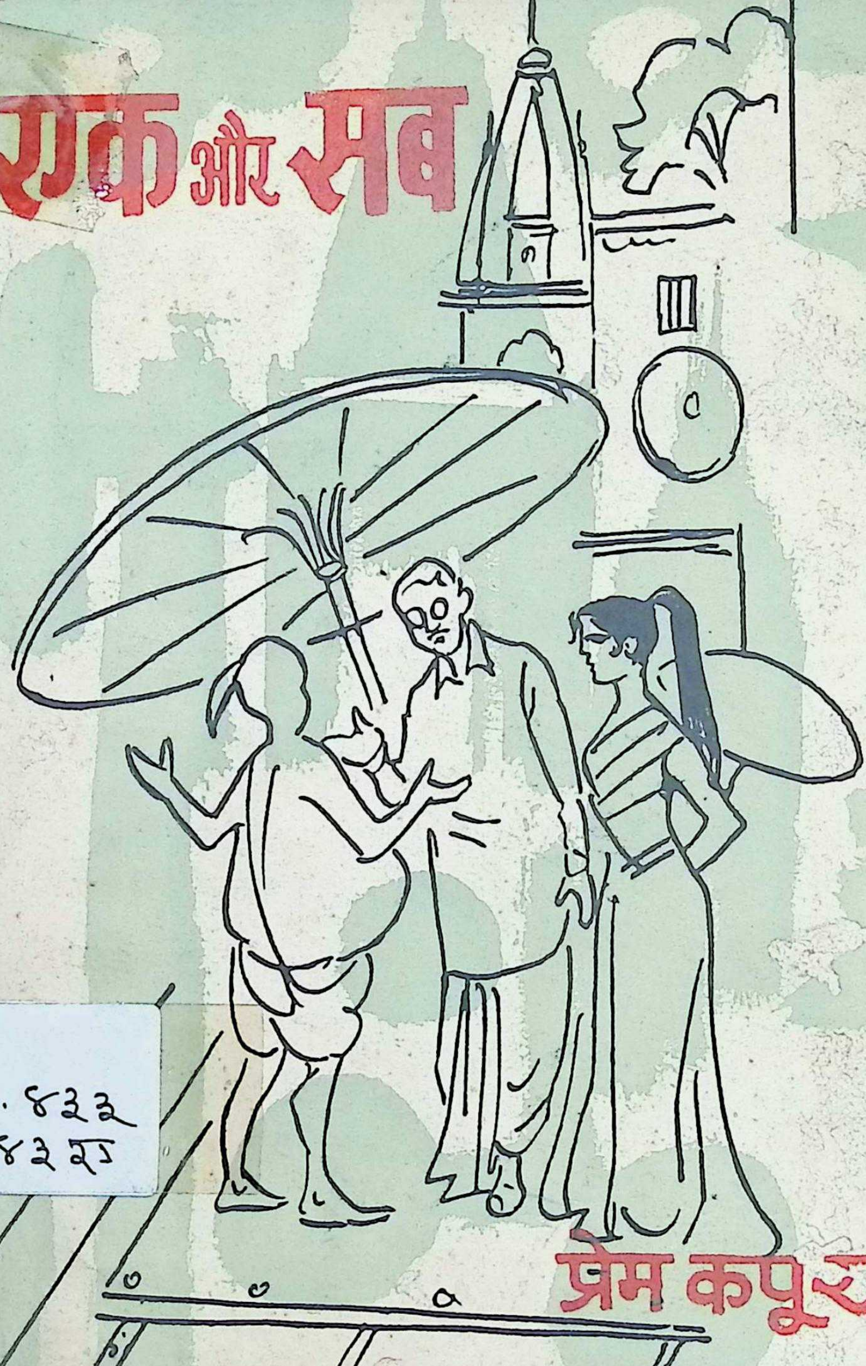
एक और सब



प्रेम कपूर

एक और सब

प्रेम कपूर

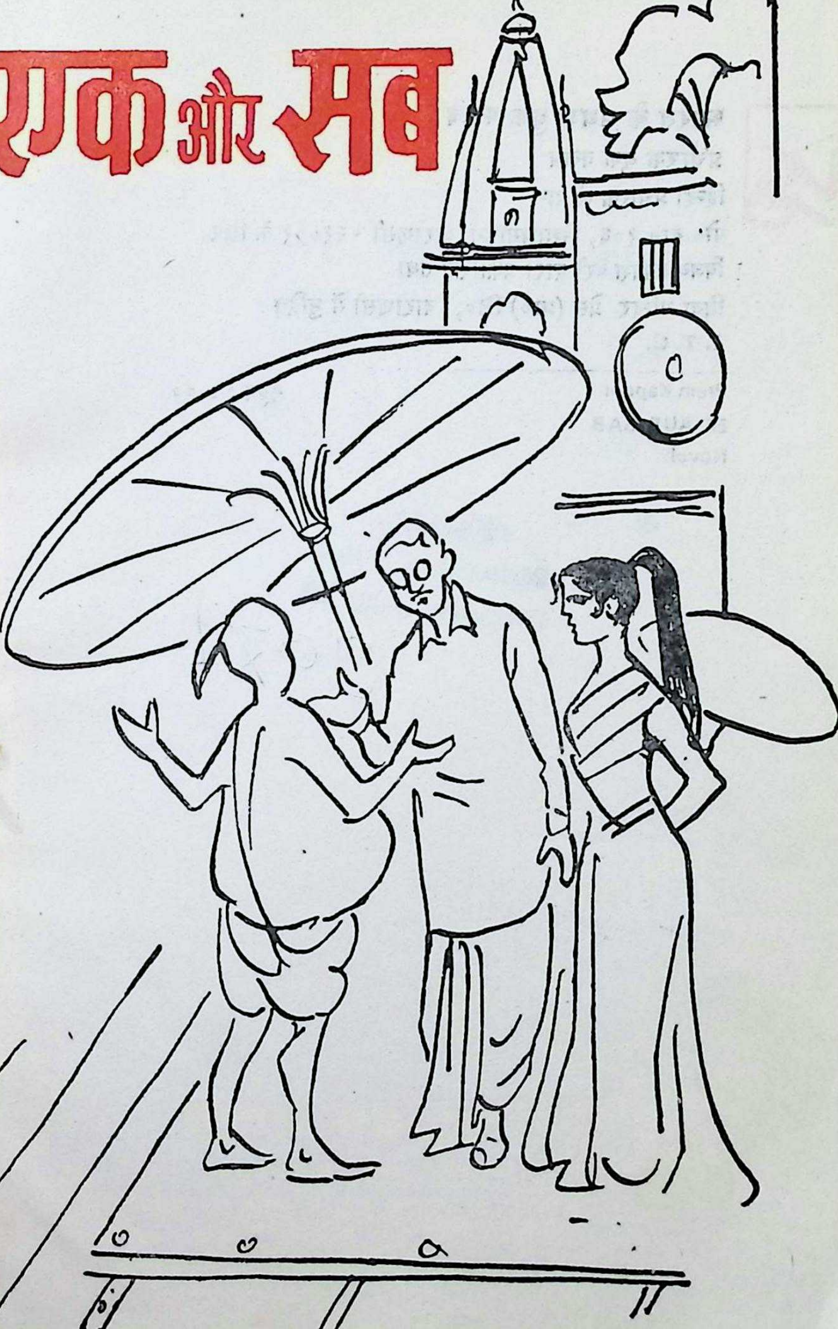
प्रेम कपूर

सफल कथाकार एवं कुशल फिल्म निर्माता लेखक प्रेम कपूर ने इस उपन्यास में "....कैसी है यह जिन्दगी ! जिसमें जो जितना सच्चा, सरल और सीधा है, वह बार-बार हर तरह से प्रताड़ित होता है। ....कि यातना भी निरर्थक नहीं है, वह केवल किसी कल्पित पिछले जन्म में किये किसी कल्पित कर्म का दण्ड नहीं है; बल्कि एक सार्थक प्रक्रिया है, जो इसी जन्म में अपने को आन्तरिक समृद्धि और सार्थकता देती है और एक बहुत गहरे स्तर पर हमको दूसरों से जोड़ती है तो फिर हमें यह यातना क्यों ? दुनिया के पैमाने से यह अन्याय नहीं माना जायेगा ? लेकिन फिर किसका अन्याय ? इसके लिए जिम्मेदार कौन ?...." यही दिखाने की कोशिश की है।

संपर्क सूत्र :
प्रेम कपूर फिल्म्स्
२२६/३, जवाहरनगर
बम्बई–४०००२२

प्रचारक बुक क्लब
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो०बा०१०६,पिशाचमोचन,वाराणसी-२२१००१

एक और सब



भारत के प्रथम बुक क्लब
प्रचारक बुक क्लब
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो० बा० १०६, पिशाचमोचन, वाराणसी २२१००१ के लिए
विजय प्रकाश बेरी द्वारा प्रकाशित तथा
विद्या मन्दिर प्रेस (प्रा०) लि०, वाराणसी में मुद्रित
I. T. C.

Prem Kapoor
EK AUR SAB
Novel

मूल्य : ७.००

एक

और

सब

●

राजू

गाड़ी चल रही है। तेज, कभी धीमी। लगातार उठती हुई खट्-खट् की आवाज धीरे-धीरे मन में भर जाती है। लगता है, जैसे निरंतर चलनेवाले शोर के बीच में भी एक शांति है और मैं उसमें रम जाता हूँ। बायीं कोहनी को खिड़की से अड़ाये मैं नीलाकाश के बीच तैरते गुलाबी बादलों पर आँखें टिकाये हूँ, पर वे तैरते जा रहे हैं। दूर कहीं पश्चिम में सूर्य रात बसेरे की तैयारी में तल्लीन है। बादलों में बनती-बिगड़ती आकृति धूमिल पड़ती जा रही है। कानों के बहुत नजदीक हाथ की मुट्ठी है और कलाई पर बँधी घड़ी लगातार टिक-टिक कर रही है।

ध्यान भंग हो गया !

आकाश में बनी आकृति जैसे रहते हुए भी खो गयी है। मन फिर उदास हो गया है। दूसरे हाथ से जेब को पुनः टटोल रहा हूँ––खोजकर, बहुत से काग़जों के ढेर में से वह तार निकाल लेता हूँ––तार, जिसने जीवन-क्रम ही बदल दिया है। वह पैतृक घर, वह बचपन की दुनिया, उस ओर फिर लौट रहा हूं। क्यों ? सारे निश्चय अनिश्चय में बदल गये हैं। तीसरे दर्जे का यह कंपार्टमेंटखचाखच भरा है। लेकिन इस भीड़ में भी बेगाना बना मैं, यों ही अपने मन के पंखों पर दूर बादलों तक भाग रहा हूँ। अपने नीड़ के पीछे भागते बगुलों की पंक्ति को देख मन में ठेस लगती है। अनोखी कचोट से मन भर उठा है। उस समय लौट रहा हूँ मैं, जब अपना सब कुछ टूट चुका है, बिखर गया है। फिर... फिर क्यों लौट रहा हूँ ? किसके लिए लौट रहा हूँ ?

कभी एक वादा किया था––बन्नो मैं जरूर आऊँगा। लेकिन अब तो बन्नो नहीं रही। अब किसके लिए भाग रहा हूँ, क्यों लौट रहा हूँ ? कोई उत्तर नहीं बनता मन में। बस एक अजीब-सी घुटन है; उससे मुक्ति

पाना चाहता हूँ, इसीलिए भाग रहा हूँ। शायद मन को विश्वास नहीं होता। इतने वर्षों से कभी किसी को खत नहीं लिखा था। फिर कैसे पता लग गया मेरा? भेदिया कौन है?—बहुत से प्रश्नों से मैं टकरा रहा हूँ। तार के लाल काग़ज को गाड़ी की धूमिल रोशनी में, साँझ के मिटते हुए उजाले में फिर-फिर पढ़ता हूँ। अंगरेजी के टूटे-फूटे शब्द हैं। जिन्हें आज कितनी देर से बराबर जबान पर नचा रहा हूँ। कभी बातें मन की अगम्य गहराई में डूब जाती हैं। कभी उनका अर्थ मन में चढ़ जाता है और तभी लगता है; जैसे कोई एक बहुत बड़ा भयानक असत्य है,जिसकी बेल मैं अपने मन में चोरी-चोरी रोप रहा हूँ। तार कारबन लगा कर खूब घसीट में लिखा गया है—बन्नो को साँप ने काट लिया। लेकिन इसके क्या यह मतलब नहीं कि बन्नो मर गयी? मैं अपने मन को झुठलाता हूँ। अपने को बहलाने की लाख कोशिश करता हूँ; पर दिल ही तो है! अपनी अबाध गति से हमेशा पाप संचय में लगा रहता है: गलत बातें ही सोचता है। मैं उस सोचने को झुठलाने के लिए अपने से लाख भागता हूँ। पर 'जैसे उड़ जहाज को पंछी, पुन जहाज पर आवै।' इधर नाचकर मन पुनः इस भागते हुए रेल के डिब्बे की दुनिया में लौट आता है। मैं गुम-सुम ही तो बैठा हूँ।

नील गगन के लाल धब्बे और दूर तक व्योम की असीम परिधि भी मन की उड़ान में सीमित हो कर रह जाती है। जरा-सी पलक झपकती है, तो घर दिखाई पड़ता है। यह घर, यह आँगन, यह गली, यह फाटक, यह नल, यह कमरे, यह दीवारें, यह खिड़कियाँ, जैसे सब में, हर एक में क्रूर-भयानक दानवों की प्राण-प्रतिष्ठा हो चुकी है—दैत्याकार मुँह बाये दानवी अट्टहास से वे सब मुझे अपनी चपेट में लेने के लिए झपटे आ रहे हैं। और सामने सफेद चादर से ढँका शव रखा है! मुझे घर का और कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता। मैं पूरे साहस से शव की चादर को उलटने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ—बन्नो का एक बार मुँह देखना चाहता हूँ।

उससे कह देना चाहता हूँ—"मैं वादा पूरा करने के लिए आ गया बन्नो ! एक बार देख ले, मैं तेरे सामने खड़ा हूँ। एक बार बन्नो, केवल एक बार ! आँख तो खोल। मुझे पूरा विश्वास है तू मरी नहीं। तुझे तो केवल साँप ने ही काटा है। मैं सब कुछ ठीक कर दूँगा। साँप के काटे आदमी हमेशा मर थोड़े ही जाते हैं। मैं—हाँ, हाँ, मैं—ओझा को जानता हूँ—किसी भी अच्छे-से-अच्छे ओझा को बुला लाऊँगा। वह मंतर पढ़ेगा, झाड़-फूँक करेगा, तू जी उठेगी। तुझे मैंने वचन दिया था। मेरा विश्वास कभी टूटा नहीं, कभी झूठा नहीं पड़ा मैं किसी के आगे। उठ तो, मैं तुझे मरने नहीं दे सकता।"

सफेद चादर की ओर हाथ बढ़ाने के पहले ही वह सारे दानव जैसे खिलखिला कर मेरा उपहास करने के लिए हँसी उड़ाते हैं। जैसे यह घर मेरा पैतृक घर नहीं, रवि बाबू के क्षुधित-पाषाण का महल है और मैं भटक रहा हूँ—भाग रहा हूँ। बन्नो मेरी है। मैं उसे इस तरह नहीं लुटा सकता। कोई उसे इस तरह नहीं ले जा सकता। कसी हुई मुट्ठी मेरे सीने से जा लगती है जिसमें तार है—लाल रंग का तार और काली रेखाओं में लिखे अक्षर, जिनकी हर उठान और हर ढलान एक ही अर्थ की सृष्टि करती है—बन्नो को साँप ने काट लिया है; अर्थात् बन्नो मर गयी है ! मुझे लगता है मेरा सिर फटा जा रहा है। साँप के विष की एक दुर्गन्ध है—एक तीखी कड़ुवाहट है, जो इस तार में बस गयी है।

नहीं जानता कि इस तार की बात किसके दिमाग में आई थी। बन्नो को साँप ने काटा और यह खबर मेरे पास तक पहुँच जाये। कौन चहेता बैठा था मेरा उस पैतृक घर में, जिसके कलेजे में मेरे लिए इतना ममत्व उमड़ आया। मैं कई बार तार पढ़ता हूँ, बार-बार पढ़ता हूँ, पर भेजने वाले का नाम समझ में नहीं आता। अजीब घसीट लिखावट है !

नाम उस क्षण भी मैंने पढ़ने की कोशिश की थी कि जैसे ही यह तार मुझे मिला था। एक क्षण के लिए जैसे मैं, मैं नहीं रह गया था। सब कुछ जड़वत्-पत्थर की तरह, बुत, अचल। फिर एकाएक घड़ी की ओर मैंने निगाह डाली। एक टेलीफोन किया था।

यह संगमरमर की विशाल चट्टानें। यह धुआँधार, यह नर्बदा का असीम छोर और मैं। जैसे सब-कुछ होते हुए भी नगण्य है शून्य है। तार लिये हुए जैसा मन उस समय था, वैसा ही अभी भी है। कभी बम्बई में था तब रास्ते पर चलते हुए मन में इच्छा जागी था--ऊख का रस पीने की। बगल में चल रही थी सुप्रभा। बोली--रस पियेंगे ! और मैं हँस दिया था।

फिर हम दोनों खड़े थे। मैं सोचता था। क्या संयोग है--यह लड़की है, मैं लड़का। जैसे एक बँधी गाँठ है, जो हर क्षण खुल-खुल पड़ना चाहती है, विहँस पड़ना चाहती है। मेरी चुप्पी पर उसे खीझ आती है। लेकिन जब वह तुनकती है, क्रोध करती है, आखें तरेरती है, तो उसके गालों पर खून की चित्तियाँ उभर आती है। मुझे यह चित्तियाँ आकर्षित करती हैं।

वह रस पीने के लिए मचलती खड़ी थी--और मैं देख रहा था। कोल्हूवाला दो लोहे के रोलरों के बीच ऊख को मरोड़-मरोड़ पर पिचा रहा था। दो पाटों के बीच पिचते हुए सूखे ऊख से बूँद-बूँद कर रस छलछला कर चुआ, फिर धार वन बहने लगा। यह देखकर मन में ग्लानि भर आयी थी और जैसे ही उसनि गिलास बढ़ाया, तो मैंने इन्कार कर दिया। कैसी लाल-पीली हुई सुप्रभा। बोली--"आपनी बोगा"। और फिर कुप्पे की तरह मुँह फुला लिया था उसने। जैसे कहना चाहती हो, 'से नेबे ना कैनो, बोलून तो ! नेतेई होबे।' लेकिन इससे पहले कि वह कुछ कहे, उसकी दृष्टि शब्दों में बदले, मैंने चुपचाप जेब से दो गिलास के दाम रसवाले की हथेली पर रख दिये थे और जमीन पर पड़े सिगरेट के खाली डिब्बे को पैर की ठोकर मारता आगे बढ़ने लगा था। घूम कर

सुप्रभा की ओर देखने की हिम्मत मुझ में नहीं रह गयी थी; क्योंकि मैं जानता था कि उस रस से लबालब काँच के गिलास में गहरे हरे और अधिक मटमैले रंग का तरल है, तो उससे भी अधिक तरल दो बड़ी-बड़ी काली आँखें गिलास के दोनों ओर से मुझे आग की तरह घूर रही होंगी। उनकी गर्मी मुझसे बरदाश्त नहीं होगी और बस मैं आगे बढ़ कर खड़ा हो गया था। अभी तक सिगरेट के खाली डिब्बे को पैर से ठुकराने का विफल प्रयास कर रहा था।

तभी पीछे से आवाज आयी--"शूनून तो !"

मैं वैसे ही खड़ा रहा। घूम कर फिर भी मैंने नहीं देखा। एक क्षण बाद कंधे पर एक मुलायम स्पर्श हुआ, उसने पूछा--"कि होलो ? बोलून तो।"

मैंने उसके स्पर्श से भागने की चेष्टा नहीं की। पैर कुछ आगे बढ़े। वह भी कदम पटकते हुए चलने लगी थी और मैं भी चुप सन्न हो चलता रहा। चलते हुए वह जैसे अपनी हर भंगिमा से विद्रोह जताना चाहती हो, कहना चाहती हो, बताना चाहती हो कि वह गुस्सा है, खूब गुस्सा है। बिना कोई तवज्जो दिये, मैं चलता गया। फिर एक क्षण ठोकर खा कर वह रुकी और बोली--"एतो शांत, ऐमन गंभीर--भालो लागे ना की !"

एकबारगी ही मैं घूम पड़ा। दो काली बड़ी-बड़ी आँखें और हल्के स्वर में मचलती उसकी खिलखिलाहट ! वह लड़की बंगला बोलती थी--अजीब टूटी-फूटी। बंगला देश की जरूर थी। उसकी माँ की बात सच मान ली जाये, तो उसके पिता जरूर ही बंगाली रहे होंगे--पर उसका शरीर बंगाली लड़की की तरह बिल्कुल नहीं दिखता था। कुछ अजीबो-गरीब मसाले के मेल से जरूर बना था। नाक से मुँह नहीं मिलता था। मुँह से गाल अलग भागते थे। केवल आँखें थीं जो सब पर छाई थीं--ऐसी काली, इतनी बड़ी आँखें ! मन के अँधेरे में सब कुछ खो गया है। पर यह आँखें, इनसे मैं मुक्ति नहीं पा सका हूँ। लगता है, जैसे

कोई गन्ने की तरह लोहे के दो रोलरों के बीच मुझे पेर रहा है। बूँद-बूँद रस छलछला आया है। बस बहने भर की देर है। रोलर जरा घूमे, तनिक घूमे !

रस ! रस का कुण्ड शरीर में कहाँ है ? कई बार सोचा है मैंने। और हर बार ऐसा ही लगा जैसे सुप्रभा हँस कर भटकाते हुए कह देती है--"तूमी की जानो--तूमी बोगा।" और वह फिर हँसने लगती है।

लेकिन इस समय लाख चाहने पर भी मैं उस की हँसी में रस नहीं ले पाता हूँ। इस सीट पर बैठा हुआ दौड़ रहा हूँ--अपने से बहुत दूर, अपने से बहुत बाहर। लेकिन फिर क्षण में जहाँ-का-तहाँ ! बाहर दिगंत की उड़ान भरता हूँ और अन्दर अथाह समुद्र में गोते लगाता हूँ। इस तार की विषैली गंध से मुक्ति पाने के लिए उसे एकाएक टुकड़े-टुकड़े कर फाड़ डालता हूँ, फिर मुट्ठी में दबा कर--मसल कर उसे बाहर फेंकना चाहता हूँ, तो लगता है कि तार के मिट जाने के बाद भी तार का एक अस्तित्व है, जो शायद मिटाया नहीं जा सकता। उसकी हर रेखाएँ, मोहर, लिखाई, छापा, हर धब्बा ज्यों-की-त्यों कहीं सुरक्षित है। नहीं जानता वह कौन-सा ऐसिड है, वह कौन-सा ब्रश है, जिससे इन दागों को, इन धब्बों को मेटा जा सकता है।

जब यह तार किसी ने तार-घर में लिख कर दिया होगा, तब बाबू के मन में बन्नो का एक चित्र बना होगा। शायद एक क्षण के लिए ही उसने बन्नो की काया की कल्पना की होगी—मोटी, भद्दी अधेड़ बामनी, कमनीय, सुन्दर छरहरी युवती ! मेरे सामने वह सुप्रभा हो, लिना हो या बन्नो--आँखें मूँद कर मैं उनमें अपने मन के रंग को मिला-मिला कर चाहे जिस तरह के फर्क पैदा कर लूँ, लेकिन थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उनमें भेद ऐसा नहीं होता, जिसे बाँटा जा सके। बन्नो की काया तार बाबू के मन में आई होगी; लेकिन वह उसे अपने निकटम किसी प्रिय के रूप में ही सोचा पाया होगा। फिर उसके दिमाग में एक साँप आया होगा और,

और उसने स्पष्ट देखा होगा वह साँप बन्नो के शरीर में काट रहा है। उसका अन्तर-मानस एक बार काँप गया होगा। वह चिहुँक उठा होगा। उसके बस में होता, तो वह भी लाठी-डंडा या हो सकता है खाली कलम या पेंसिल लिये ही वह उत्तेजना में उस साँप पर दौड़ पड़ा होता। साँप के काटने की बात सुन कर हर एक के मन में इसी तरह की मिली-जुली भावना बनती-बिगड़ती है और जोश ठंडा हो जाने के बाद जहाँ-की-तहाँ रह जाती है। जोश में तार बाबू ने जल्दी-जल्दी वह तार बनाया होगा और उसके बाद तार जिन-जिन हाथों से गुजर कर मेरे पास तक आया है सभी हाथों के मनों में उस असीम के ऊपर क्रोध जागा होगा। जैसे हाथ से अचानक कोई चीज छूट कर गिर पड़ती है और न चाहते हुए भी चीज गुम हो जाती है, या टूट-फूट जाती है। तब एक पछतावा रह-रहकर मन को सताता है; ठीक वैसे ही हर आदमी को एक बार जरूर पछतावा आया होगा, चाहे वह कितना भी क्षणिक क्यों न रहा हो।

फिर गाड़ी भागती रही। मन भागता रहा। समय चुकता रहा—पल-पल कर, क्षण-क्षण कर। ऐसा लगता था जैसे अभी-अभी कोई मुझे घर के बाहर देखते ही कह देगा, "अरे तुम कैसे आ गये ?"

घर, एक दम अपनी पुरानी चहल-पहल और रंगीनियों में डूबा होगा। जनानखाने में मैं बढ़ कर झाकूँगा। आँगन हमेशा की तरह धुला-धुला साफ पड़ा होगा। कहीं रोने की, बिलखने की आवाज नहीं होगी। मैं आगे बढ़ूँगा।

बन्नो की अपनी कोठरी है—दूर घर के एक कोने में। बहाने से जाऊँगा उधर। वह एकबारगी ही चौंक पड़ेगी। उसे स्तम्भित करने में कितना मजा आयेगा। कैसा आनन्द ! कैसा सुख ! बन्नो के लिए मैंने क्या-क्या सोच रखा है। जैसे सब कुछ एक क्षण में साकार हो जायेगा। बड़े दुःख दिये हैं मैंने उसे !

ऐसा क्यों होता है कि हमेशा मन किसी मिराकिल, किसी अनहोनी की कल्पना के रंगीन जाल सँवारता रहता है। वैसे ही मैं भी जाल सँवार रहा था कि गाड़ी एक अंधकूप से स्टेशन पर हचक कर रुक गयी।

यह शंकरगढ़ स्टेशन है। रात के साढ़े सात बज चुके हैं। मेरा तार घरवालों को मिल गया होगा। मैंने अपने आने की सूचना भेज रखी है। गाड़ी तीन मिनट ही स्टेशन पर ठहरती है। मैंने झाँक कर देखना चाहा। पहले भी कई बार इस स्टेशन से गुजरा हूँ। आज भी हमेशा की तरह लोग तेजी से झपट कर गाड़ी पर चढ़ रहे हैं। लगभग सभी के हाथ में डंडे हैं। शरीर पर मोटा चदरा है। कान मुँह सब के ढँके हैं। ये पंडों के नौकर हैं—दलाल जो जिजमान उगारने आते हैं। पिछले कई स्टेशन पर इक्का-दुक्का लोग डिब्बे में झाँकने आये थे। कइयों ने माजियों के सम्बन्ध में खोद-विनोद की थी। अब तो इन नौकरों का हजूम जो स्वयं को पंडा घोषित करता है, एकबारगी छापामार की तरह धँस आया है। अब जैसे एक नई जिन्दगी इस डिब्बे में आ गई है। एक नई गर्मी सब को छू गयी है!

दूर तक-घोर अँधेरा है। मैं इस अँधकार की रोशनी को आँखों-ही-आँखों में पीता हुआ शुभ सोचने की चेष्टा में संलग्न हूँ। इसी बीच एक पेड़ के नीचे से कई सियार हुआँ-हुआँ करते हुए चिल्ला उठते हैं। सोचना भंग हो जाता है। सामने टेलीफोन के तार पर उल्लू का एक जोड़ा बैठा भयावनी आवाज कर रहा है।

साढे आठ बजे से पहले गाड़ी पहुँच जाएगी। यह समय से पहले चल रही है। मेल गाड़ी है। मन को यह सोच कर तसल्ली होती है। सामने लाल रोशनी दिखलाई पड़ रही है। कोई नया स्टेशन आ रहा है। एक आदमी बार-बार खिड़की से बाहर झाँकने की चेष्टा करता है। बाहर मेरा जितना हाथ निकला है, वह ओस से भीग गया है। ठंढ काफी तेज है।

इलाहाबाद में गर्मी-सर्दी दोनों के मजे निराले हैं। दोनों ही अति की पड़ती हैं। वह आदमी फिर खिड़की के बाहर झाँकता हुआ कहता है-- ऐ भैया ई गाड़ी इहैं रुकि जाति तौ कैसन भला होत। मोहका नैनी फुन लौट के न आवैं के परत।

यह आदमी बिना टिकट जा रहा है। न जाने कहाँ से आ रहा है। कहता है उसके अट्ठारह बरस के भाई का कतल हो गया है। घर पहुँचना निहायत जरूरी है। कैसा परेशान है वह। रह-रह कर दर्वाजा खोल कर झाँकता है।

नैनी स्टेशन आ रहा है!

लोग कहते हैं--"घबरा जिन। इहाँ तलक भगवान बचाय दिहन हैं, तौन अगहेव सब ठीक हो जायी।"

पर वह उतावलेपन में चक्कर काट रहा है। डर है कि इलाहाबाद स्टेशन पर उतरते ही लोग उसे पकड़ लेंगे। फिर वह क्या जवाब देगा। कहीं पुलिस के हवाले कर दिया तब! तब उसकी माँ रो-रो कर आसरा देखते-देखते मर जायेगी। वह जेल में सड़ता रहेगा। उसके कोई नहीं है।

स्टेशन आते-आते गाड़ी रुकने लगती है। पर फिर तेज हो जाती है। मैं घूर कर उस आदमी के चेहरे को देखने की चेष्टा कर रहा हूँ। जिसकी आशा पर फिर एक बार पाला पड़ चुका है। नैनी निकल गया। यमुना के पुल की घड़घड़ाहट शुरू हो गयी है। मैं उठ खड़ा होता हूँ। वह तार मेरी मुट्ठी में अभी भी कसा है। एक विष है जिसे मैं फेंक नहीं पाता, फेंके बिना मुक्ति भी नहीं पाता।

एक आवाज सुनाई पड़ती है--"अरे बैठ जा सबुर से। गाड़ी अकसर झंझरिया के पुल के पहिरे खड़ी होत है। होंही उतर जाये। समझा। घबरा जिन।" लेकिन अब तक गाड़ी झंझरिया को पुल पार कर चुकी है। वही आदमी फिर कहता है--"देख, झट से उतरि के एक कोने में बैठ

जाये। ई हाथ कै झोरा चद्दर माँ छिपाय लीने और हाँ अगर कौनौ टिकस बाबू पुछि हैं तो कह दिन्हें कि फैजाबाद जाये का है सरकार कौने गाड़ी मिली। ई जिन कहै कि बंबई से आवत है। नहीं त सोझै सात लाख की हवेली माँ पठै दीहैं !"

वह बला का घबराया हुआ है। हर बात की हामी भरता है। अभिनय करता है कि वह कोने में कैसे दुबक कर वैठ जायेगा। कैसे चदरे में अपने हवाई बैग को छिपा लेगा।

अभिनय--अभिनय ही होता है। वह रिहर्सल कर रहा है।

भोला-भाला गरीब आदमी ! गाड़ी धीमी होती है। रुक जाती है। यह एक नंबर का प्लेटफार्म है। प्लेटफार्म पर पैर रखकर मैं पीठ सीधी करते हुए अकड़ता हूँ। इस एक क्षण में न जाने कितनी बातें पलक झाँपते ही निकल गयी हैं। यंत्र-गति से अपने में ही डूबा हुआ मैं केवल चल रहा हूँ। आस-पास के अवाम से एक दम कटा, एकदम अलग ! लहरों से थपेड़े खाता अगीला-अछूता आगे बढ़ कर जा पहुँचता हूँ स्टेशन के बाहर।

रिक्शेवालों की कतार ग्राहकों को टोहने में चीखती-चिल्लाती है। मुझे इनकी पुकार से इनकी चीख से कोई लगाव नहीं रह गया है। ऐसा लगता है—काश मेरे पंख क्यों न हुए कि मैं एक झपाके में ही उड़ कर घर पहुँच जाता। कोई विशेष सामान भी तो नहीं है मेरे पास। मैं हूँ, केवल मैं। एकदम अकेला। जैसे कोई बार-बार थपकियाँ न देकर मन के दरवाजे पीट रहा है। कितना बोझ है मेरे ऊपर। मन-मन भर के पैर हो उठे हैं मेरे। मैं एक कदम चलने में असमर्थ हूँ। सारे बोझ को ले एक रिक्शे पर बैठा जा रहा हूँ।

रिक्शा घर के बाहर रुकता है। सब कुछ वैसा ही है। इस जमाने में कुछ भी नहीं बदला। यह गली कुछ अधिक कोहरे के कारण ज्यादा काली मालूम पड़ रही है। कोई नहीं है चौतरे पर। कोई नहीं है अंदर-

बाहर। सब कुछ धुला-धुला साफ पड़ा है। गलियारा, फाटक, भीतर, आँगन, सब-कुछ।

कुछ-कुछ जहाँ-तहाँ जगह-जगह पर, अबीर-बुक्का, लाल सफेद रंग चमक रहा है। पीलिया रोग की तरह मद्धिम प्रकाश में म्युनिसिपल लैम्प का बल्ब चमक रहा है। अबीर-बुक्के पर निगाह गड़ायें ही मैंने रिक्शेवाले को बिदा कर दिया।

एक औरत है जो सारा घर धुलवा रही है। सब गीला है। सब नम। में झटके से अंदर प्रवेश करता हूं।

'तुम!'

मैं इसे नहीं पहचानता। फिर भी वहीं जैसे-का-तैसा ठिठक कर खड़ा हो जाता हूँ। जैसे इस औरत को मेरी सूरत देखना गवारा नहीं। जैसे इस पृथ्वी पर मेरा होना अमान्य है इसे। मैं चुप नहीं रह पाता। धीरे से, बहुत सहम कर कहता हूँ—"हाँ, मैं हूँ।"

वह जवाब नहीं देती। खड़-खड़, खड़-खड़—पत्थर की जमीन पर नारियल की झाड़ू चल रही है। एक लड़की जमीन रगड़ रही है। यह औरत पानी डाल रही है।

मैं फिर पूछता हूँ—"मेरा तार नहीं मिला?"

"तार!"—वह जोर देकर कहती है। फिर काम में लग जाती है। जैसे सब कुछ मैं पहले से जानता हूँ। फिर भी पूछता हूँ—"मेरा आसरा तो देखा होता। तुम लोगों को मालूम था मेरी गाड़ी साढ़े आठ बजे आती है।"

मैं कहता चला गया। जैसे मेरी बात का जवाब देने ही वाला कोई नहीं है वहाँ। मैं बकता-बकता चुप हो जाता हूँ। फिर कहने लगता हूँ—"तो सब लोग गये ककरहे घाट?"

"हाँ!" कह कर वह फिर उसी तरह मशीन बन जाती है।

मेरे मन में कितना बड़ा तूफान चल रहा है। मैं क्या कर डालूँ अपने शरीर के साथ। यह पैतृक घर है न---इसकी देहरी पर मेरे बाबा के बाबा ने शादी के बाद माथा रखा था। फिर उनके हर लड़कों ने इसे पूज्य मान कर माथा टेका था। मेरी बात का सुफल चला गया है। मैं अपने वचन को हार गया हूँ। मन में आता है, इसकी देहरी पर अपना सिर पटक-पटक कर तोड़ डालूँ। मैं झटके से देहरी की तरफ बढ़ता हूँ कि जैसे कोई मन में कहता है--जानेवाला चला गया, राजू! यहाँ क्या खड़े हो, शायद अभी पहुँचे न हों--शायद बन्नो नहीं उसका शरीर ही मिल जाये। एक बार देख तो लोगे। भागो, ककरहे घाट भागो!

और देहरी पर रुकने की बजाय गली की मोड़ पर आता हूँ। वही एक रिक्शा है। वही आदमी है, जो मुझे स्टेशन से लाया है। वही लचर आदमी। बीड़ी का धुआँ उगलता हुआ। कान को, बाहों को फटे-गुदड़े ऊनी टाट-से कम्बल में लपेटे, नंगी-लम्बी टाँगों से रिक्शे को चला रहा है। कुछ दूर चल कर पूछता है--'कहाँ चली बाबू?'

"ककरहा घाट।"

"ककरहा घाट!"—वह दोहराता है। उसे मेरी बात का विश्वास नहीं आता। पूछता है—कौनो मिट्टी है, बाबू। कौन गुजर गा।'

उसकी हर बात बर्रे के डंक की तरह मेरे मन को बींध रही ह। यह आदमी बात ज्यादा करता है, रिक्शा कम चलाता है। जितने पैडिल मारता है, हर बार एक चूँ-चूँ की आवाज उठती है, जो मन में चिकोटी काटती-सी प्रतीत होती है।

वह फिर पूछता है--"कौन रहें, बाबू? जवान, कै बूढ़ा?"

लगता है जैसे मैं इसका रिक्शा छोड़ दूँ। क्या जवाब हो सकता है इसकी बातों का। मुझे अब सब-कुछ असह्य हो उठा है। आगे का रास्ता अँधेरे का है। छोटे-छोटे मकान हैं। नन्हीं-नन्हीं रोशनी टिमटिमा रही

है। मैं रिक्शेवाले से कहता हूँ--"रोक जरा। उतर रिक्शे से। मैं चलाऊँगा इसे।"

"नाहीं बाबू!"—वह बरजोरी करता है।--"तोहसे ई न चाली। जेहकर पतुरिया ओही से नाचे।"

"तू छोड़ तो"--मैं डाँटता हूँ।

वह फिर कहता है--"दम भरै माँ पहुँचाइत है, सरिकार! आपका पैर भरि जाये।"

पर मेरी जबरदस्ती के आगे उसकी क्या चल सकती थी। नहीं याद आता कि मैंने किस तरह उस बूढ़े को बाजुओं में भर कर, किस फुरती से सीट से उठा कर पीछे पटक दिया था। लेकिन खट से हुई जोर की एक आवाज जरूर याद है। उसका सिर रिक्शे की पीठ से जा टकराया था। वह क्या-क्या बड़बड़ाता रहा। पर बिना कुछ सुने ही मैं जैसे-तैसे पूरे वेग से रिक्शा भगाता हुआ ककरहे घाट की तरफ जा रहा था।

सामने कुछ आवाजें आती मालूम हुईं। कुछ रोशनी लगी। रिक्शे से उतरा, तो जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया।

लकड़ियाँ जल कर ढेर हो चुकी थीं। सब कुछ राख था, केवल राख! मेरे पास क्या मुँह था कि मैं उनके बीच जा खड़ा हो सकता? नहीं! सब-कुछ अब मेरे सामने हो रहा था। बन्नो का शरीर, उसका मुँह भी देखने को नहीं मिला मुझे। वह तो केवल स्मृति की बात बन चुकी थी। एक ऐसी कहानी, जो केवल मन की ही होती है, जिसका भाग नहीं किया जा सकता, 'शेयर' नहीं किया जा सकता, जो केवल अपनी है। बस अपनी।

मैं बाजी हार चुका था। वचन-भंग हुआ था मैं। बन्नो! मैंने वादा किया था, जरूर आऊँगा--एक बार अवश्य मिलूँगा। लेकिन यह क्या हुआ, बन्नो? आस्था की बेड़ियाँ यों नहीं टूट जातीं। दगा यों नहीं दिया जाता। मुझे उन लोगों पर गुस्सा आ रहा था, जिन्होंने जरा-सा मेरा आसरा नहीं देखा। मैं अंदर-ही-अंदर खिजला रहा था। दाँत पीस रहा था।

उस अंधेरे में 'बेटा' कहते हुए किसी ने मुझे अपनी बाँहों में कस लिया। यह बाप के कलेजे की एक अनोखी गर्मी थी, जो इस शीत में भी मुझे कँपकँपा गयी थी। बाप का चेहरा मेरी गर्दन पर लदा था। उनकी बड़ी मूछें और गाल भीगे थे। स्नेह, प्रेम, ममता आप जो कुछ भी कहें उसे--सब आँसू बन कर बिलख रहे थे और मैं चट्टान था--निर्मल चट्टान, जिस पर आँसू के नाम पर केवल फटी-फटी दरारें थीं। सबसे गहरी दरार जिसे बिना छुए ही आँखें मूँदे-मूँदे ही में पहचान सकता था--उसे खोंच गयी थी बन्नो। मैं फटे गले से न जाने कैसे बुदबुदा गया--"बन्नो।"

और मेरे बाप ने भरे गले से कहा—"बन्नो को साँप ने काट लिया, बेटा--तोर आखिरी निशानी भी गुल होए गयी, मोह का तोर आवै कै आशा नहीं रही।"

"आशा, अरे आसरा तो मेरा देखा होता, बाबू!"

"आसरा, ओह कर मिट्टी बिगड़े लागी रही। और फुन तोर कौन ठिकाना। तार तो दिहेस तोर चाचा। उह दिया आय के हम सुना।"

और फिर दाँत पीस कर मेरे सारे शरीर की शिराएँ अकड़ गयीं। बाहों में भरे हुए मेरे बाबू मुझे उस चिता की ओर ले गए जो बुझ चुकी थी। जिसे हँड़ियों में भर लिया जा रहा था।

जब हम लौट कर आये तो काफी रात हो गयी थी। सब दालान में बैठे थे। मुझे अभी भी लग रहा था कुछ यह स्वांग मिट जायेगा और उस कमरे के सामने आ कर एक धीमी आवाज में कोई कहेगा--"बड़ा आसरा दिखलाया, आखिर तुम आ ही गये। जीत मेरी हुई। इतनी दूर-दूर क्यों खड़े हो? क्या मैं...!" मैं यह सोच डूब रहा था कि बाहर किसी ने पुकारा--"तार, बाबू जी!"

और थोड़ी देर में एक तार का लिफाफा मेरे सामने था। मेरा भेजा हुआ तार। मैंने खोला उसे और उसकी एक झलक देख कर मरोड़ डाला।

वहाँ बैठे हुए लोगों की उत्सुक निगाहें पूछ रहीं थीं—'किसका तार था यह ? कहाँ से आया है ? किसने भेजा है ?' बिना जवाब दिये ही मैं उठ कर बाहर आया और राम चरित्तर बाबा की कोठरी के बाहर आ खड़ा हो आकाश ताकने लगा। वहाँ देर से तारे मातम मना रहे थे।

—:०:—

निर्मल

भले घर के लोगों के चेहरे पर तरह-तरह का अँधेरा-उजाला रहता है। लेकिन आवारा और लफंगों का मुँह चिरकाल से सब देशों में एक ही तरह का होता आया है। आदमी तो आदमी, बच्चे भी आसानी से इस अंतर को भाँपने की असीम शक्ति रखते हैं। वे एक नजर में उस ओर से मुँह मोड़ लेते हैं, जहाँ उन्हें स्नेह मिलनेवाला नहीं होता। जानवर भी अपने हित और अहितवाले को भली तरह पहचानते हैं, फिर वे तो ठहरे आदमी के बच्चे !

मन ने दोहराया उसकी बात न पूछो ?

क्यों ?

केवल इसी 'क्यों' के उत्तर के लिए मैं बरबस वापस लौट पड़ता हूँ। पिछले, बहुत पिछले जमाने की ओर। उस ओर को वापस जाने के लिए मैं इस तरह क्यों लाचार हो उठा हूँ ? क्यों बरबस मन उस ओर घसीट रहा है। शायद गली में बच्चे शोर कर रहे हैं। जहाँ चार बच्चे इकट्ठे होते हैं, शोर मचने ही लगता है। उस समय भी ऐसा ही शोर, इतना ही तीखा हम लोग भी मचाते थे। तब यह अंदाज ही नहीं मिलता था कि हम लोग

वाकई शोर मचा रहे हैं। पड़ोस के किसी घर से, गली के ऊपर खिड़की, बारजे या छज्जे से कोई झाँक कर कहता था—'वैये, शोर मत मचाओ, चिल्लाना हो, तो उधर जा के चिल्लाओ! भागो यहाँ से।'

सभी लड़के एकटक उस बारजे की ओर देखते थे। उस छज्जे या खिड़की की ओर इस तरह आँख गड़ाकर घूरते थे जैसे अपना अपराध समझ पाने ही में असमर्थ हों। हर दिल हर धड़कन के साथ एक ही जिज्ञासा में प्रश्न करने लगता था—हम शोर मचा रहे थे! कहाँ ?

आज भी जब मैं खाली मन से ऊब्र-ऊब्रा बैठा हूँ, गली में वैसा ही शोर सुनकर लगता है मैं भी इन्हीं लोगों में से एक हूँ और गली में इनके साथ शोर करते हुए भाग रहा हूँ।

सच! वह कान-फाड़, जान-मारू शोर था। वह शोर जिससे कान-तो-कान मेरे कलेजे की शिराएँ भी चटक-चटक कर टूट पड़ने को उतावली हैं। बड़प्पन का यह बंधन लाचार हो अपने-आप ढीला पड़ जाना चाहता है। मन के अंदर शिशु-मन जी उठता है। चुप-चुप अंदर-ही-अंदर चीखता है—चील चिल्लाती है। चील का बच्चा रोता है—हो...हो...हो!

वह आदिम कहकहे जिसे सीखने के लिए किसी पाठशाला में नहीं जाना पड़ता, जिसकी कहीं ट्रेनिंग नहीं मिलती। स्वतः ही अपने कूल को तोड़कर वेगवती मंदाकिनी के प्रवाह की तरह मन में उद्दाम शक्ति-स्रोत शोर बन कर फूट पड़ते हैं। वह कोलाहल जिसके दर्शन-पक्ष पर शायद ही किसी बुजुर्ग ने सोचा हो, जिसकी शान्ति अपने बीच एक असीम अखंड, साम्राज्य स्थापित करती है। मैं उस किशोर शिल्पी के मन में भाग रहा हूँ। खेल होता है—आँख-मिचौली का, छूआ-छुऔवल का, ऊँचवा-निचवा का, किलमिल-काटे का। हँसी है, कहकहे हैं, दौड़ है, भाग है!

गली-कूचे के रहनेवालों को मैदान नहीं मिलता भागने के लिए। पार्क नहीं होता यहाँ। ऊँचे दोमंजिले मकान और काशी की तरह सँकरी गलियाँ लाहौर से कलकत्ते तक। क्या दिल्ली, क्या लखनऊ, क्या पराठेवाली गली, क्या फूलवाली गली, क्या लोकनाथ महादेव का बाजार या अहियापुर की गलियाँ हर जगह हर बड़े-छोटे शहर में जहाँ घनी आबादी बसी, चाहे वह अल्मोड़ा के पहाड़ में हो या बंबई में कालबादेवी, भूलेश्वर या गायकवाड़ी के आस-पास की जमीन हो, कलकत्ते में बड़ा बाजार के राजा कटरा की, शिवठाकुर-जैसी लेन हो, सभी जगह गलियाँ हैं। सभी गलियों में, खोखा-खोखी; दीकरी-दीकरा; छोकरी-छोकरा; लड़के-लड़कियाँ; मुंडे-कुड़ियाँ शोर मचाते, भागते हुए मिलेंगी। इस प्रवाह पर कहीं बाँध नहीं है। मैं अपनी ही याद करता हूँ आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले भी कोई रोक नहीं थी। आज भी नहीं है। शोर है जो हमेशा एक तरह से मचता ही रहता है। उसे मचानेवाले धीरे-धीरे बदल भले ही ही जाते हैं।

आप झोला लेकर आ रहे हैं। सायकिल पर हैं या सायकिल हाथ में है, आप मंद-मंद चल रहे हैं, अपने-आप में कुछ सोचते हुए या तेजी में भाग रहे हैं कुछ चिंतित-से, बेखबर! लेकिन अगर वह साँझ को चार से सात का समय है, तो आप यह अंदाज नहीं कर सकते कि कब कौन-सा लड़का कितनी तेज आँधी की तरह सामने से दौड़ कर आप को धक्का देता हुआ निकल जायेगा। आप के हाथ का झोला, हथेली में पकड़ा हुआ दही का पुरवा करई या सकोरा सड़क पर लावारिस की तरह उस धक्के से छिटक कर कैसे गिरेगा और आप केवल क्रोध भरी नजर से घूरते रह जायेंगे। आपका हाथ यों ऊपर-का-ऊपर उठा ही रह जायेगा। कितना खिजलायेंगे आप। लड़का यह जा, वह जा गली के किसी मोड़ में गुम हो जायेगा। भागनेवालों में इक्का-दुक्का ही लड़के नहीं होंगे। एक भरी-पूरी जमात होगी, जो हर मोड़ पर भाग रही होगी। भद्-भद् करते हुए छोटे-छोटे चरण, जिनके स्वरों में, जिनके वेग में आप स्वयं अपने

बचपने में गुम हो जायेंगे और शायद कभी-न-कभी उसमें आपका लड़का, भाई या स्वजन होगा--नरेंदर, सुरेंदर, महेंदर, कोई भी ।

कोई अर्थ होता है इस भागने का भला । बस खेल है--मजा है, जीत की खुशी है जिसे पैसे से, कल्पना से पकड़ा नहीं जा सकता । शायद यह जिंदगी की अपनी मासूम कहानी है, जो हर बचपन अपने-आप दोहरा जाता है । घर लौट कर आप अपने लड़के पर बिगड़ते हैं, समझाते हैं । पर दूसरे दिन फिर आप की तनिक आँख चूकी कि फिर घोड़ी भुसौले खड़ी । फिर समय हुआ—लड़का फिर गायब, फिर बाहर ! आप पुकारते-पुकारते हैरान हैं लड़का इस गोल से उस गोल, उस महल्ले से उधर दूसरे दोस्तों के साथ लापता ।

लौटने पर पूछो—'क्यों बे कहाँ गया था ?'

'कहीं नहीं ।' एक सीधा-सा हमेशा का रटा-रटाया उत्तर ।—'अबे इतनी देर से गायब है, दो-दो घंटे से चिल्ला-चिल्ला कर रह गया । पुकारते-पुकारते थक गया । कहीं पता नहीं लाट साहब का !'

'नहीं, यहीं तमोली की दूकान तक गया था ।' और फिर वह एक झूठ पर हजार झूठ गढ़ रहा है । आप ऊपर-ही-ऊपर खीझ रहे हैं, क्योंकि यह जवाब देनेवाला यह नहीं जानता कि उसका बाप भी कभी बच्चा था और उसने भी कभी अपने बाप को इसी तरह झुठलाया है । आप अंदर-ही-अंदर मुस्करा रहे हैं ।

साँझ होते-न-होते हर घर के चौतरे पर हर घर के दरवाजे के किवाड़े पर आवाज पड़ती है--'रूपा, ओ रूपा, चल अन्दर !

कहीं दूर पर कोई पुकारता है—'ओ हरिया रे, चल माँ बुलाती है । दौड़ ना . . . ।'

'अरे मुन्नू अँधेरा हुआ । मास्टर साहब आये । ओ मुन्नू . . . ओ मुनू . . . ।'

तरह-तरह के कहने। तुम घर से कितनी दूर हो, कहीं भी हो जहाँ कि आवाज नहीं जा सकती, लेकिन आवाज जाये-न-जाये, कोई-न-कोई रास्ते चलते हुए मिल जाता है और कह देता है—'अरे तेरी बहन पुकार रही थी मुन्नू...! तेरे बाबू जी बिगड़ रहे थे। भाग घर, भाग।...तेरे मास्टर आये हैं।...तेरे घर कोई आया है।'

यहीं नहीं, मुझे लगता है कि इस साजिश और संदेशे के बहुत पहले ही लड़का कहीं भी हो, मन का तार अपने-आप बता देता है--'तुझे कोई पुकार रहा है। घर भाग। तेरी जरूरत है वहाँ। देर की तो पिटा।' और मन में यह बात आते ही पैर तेजी से घर की ओर भागने लगते हैं। भागते हुए एकाएक आप का पैर कहीं भच्च से पड़ता है। जैसे ब्रेक लग जाता है। पैर अनायास ही ठिठक जाते हैं। साथ में खेल में भागता हुआ दूसरा साथी पूछता है--'क्या हुआ? क्यों रुक गये? इधर कहाँ जा रहे हो? क्यो?'

'मैं घर जा रहा हूँ।'--एकबारगी कह जाता हूँ।

'पर क्यों?'

'नहीं, अब नहीं खेलूँगा।'

एक साथी के टूटते ही सभी टूट जाते हैं।

कितने स्पष्ट हैं वह स्मृत-चिह्न जैसे अभी-अभी मैं भागता हुआ गली के मोड़ से गुजर रहा हूँ। साँस अभी भी तेजी पर है। कलेजा धौंकनी की तरह चल रहा है। धमनियों का रक्त-चाप अभी भी इतना ही तेज है कि भरे जाड़े में पसीना आ गया है। थोड़ी दूर चल कर सड़क पर पड़े गोबर में पैर भद्द से पड़ गया है। कितना खराब लगा था उस समय! पैर को जमीन में पोंछते-पोंछते हुए चल रहा था। लगता है एड़ी-पंजों के पास अभी भी अजीब-सी बदबू आ रही है। मैं पैर धो आया हूँ, फिर भी बदबू मरी नहीं है, मिटी नहीं है।

याद आता है जहाँ गोबर पड़ा था वहाँ एक मिनिट के लिए पैर रुक गया था। जमीन में बार-बार पैर रगड़ते हुए मेरी आँखें सामने के मकान

पर जा टिकी थीं। एक बड़ा चौड़ा-सा फाटक है। खड़ी ईंटों का चौतरा है। इतना बड़ा फाटक कि हाथी खड़ा-खड़ा अंदर चला जाये। मकान क्या है—हवेली है। अगल-बगल चौतरे इतने ऊँचे हैं कि बच्चे क्या, आदमी भी खड़े-खड़े उसके ऊपर कौन है, देख नहीं सकते। फाटक के ऊपर नीले रंग के बड़े अक्षरों में कुछ लिखा है। बहुत दिनों से यह लिखा है। लेकिन अब मैं पढ़ सकता हूँ गोबर में पड़े पैर को रगड़ते हुए पढ़ सकता हूँ—श्याम लाल पंडा, तीन लोटे का झंडा। फिर अक्सर ये शब्द याद आते रहे हैं। लेकिन क्या मतलब होता है इसका। किसी से पूछा नहीं। पूछने कि हिम्मत नहीं हुई। जब पढ़ नहीं पाता था, हरे रंग में कुछ लिखा है, यह सोच लेता था। पर हाँ, उसके बगल में एक डंडे पर एक के ऊपर तीन लोटे का चित्र बना देख कर एक अजीब-सी उत्सुकता होती थी। लोटे से पानी भरा जाता है। पर बास में टँगे इन लोटों से क्या होता है?

याद नहीं आता किस दिन पहली बार यह चित्र मैंने देखा। क्यों देखा, क्या सोचा इस क्रम की सारी कड़ियाँ जैसे बिखर गयी हैं। पर हाँ, जब भी कभी घर में चूल्हे पर, बटुई पर, लोटा रखा देखता था, तब अचानक वह फाटक याद आ जाता था। याद आ जाता था दीवाल पर बना उसकी बगल का वह चित्र—तीन लोटेवाला निशान। माँ कहीं चली गयी थीं। कहाँ? याद नहीं। गरज यह कि वह चौके से बाहर थीं और चौके में पहुँच कर मैंने एक और लोटा उन दोनों के ऊपर रख दिया था। इस तरह करने में बड़ा आनन्द आया था मुझे।

चौके में वापस लौट कर माँ कैसी चीखी थीं—

'यह क्या तमाशा है। मेरी रसोई भ्रष्ट कर दी पानी ने। निगोड़े को यह क्या सूझी थी। लोटे पर लोटा रख कर चला गया।

मैं छिप कर खड़ा हँस रहा था। लेकिन उस तीन लोटे का अर्थ उस समय मैं नहीं जानता था। किशोर जिज्ञासा थी शायद मन में. बस।

और उस जिज्ञासा वश ही मैंने उस तरह का काम किया था। परन्तु अब मैं पढ़ सकता था। मैंने गोबर भरे पैर को जमीन में पोंछते हुए पढ़ा था। श्याम लाल पंडा-तीन लोटे का झंडा! वहाँ खड़े-खड़े मैं उछलता हूँ, तो उस चौतरे के ऊपर बहुत-से चूल्हे। यह इतने चूल्हे क्यों जलते हैं यहाँ? क्या होता है इस श्याम लाल पंडा के यहाँ। इसकी, हवेली इसका अहाता हमारे सारे मुहल्ले में इतना अनोखा क्यों है?

चौतरे पर कभी-कभी नंगी खाट पड़ी रहती है और उस पर मोटे, काले शरीरवाले पहलवान-सरीखे पट्ठे बैठे होते हैं या लेटे होते हैं और कोई उनके शरीर पर कड़ुवा तेल मल रहा होता है। एक मोटी लाठी रखी होती है खाट के सहारे।

ये आदमी जब मेरी गली से, मेरे मकान के आगे से निकल जाते हैं, तब मैं सोचता हूँ, कौन हैं ये लोग? इनके भारी-भरकम शरीर को देख कर ही इन्हें जालिम समझता हूँ। तेल पिए चमरौधे में जब यह गली से चर्र-मर्र करते गुजरते हैं, तो हर पत्थर त्राहि-त्राहि कहता मालूम पड़ता है, जैसे बड़े बूट में कभी पुलीस के दो-चार जवान निकल जाते थे, तो सभी के कान खड़े हो जाते थे। धरती धमकती थी और लोग चिंतित हो उठते थे। भले घरों के बीच पुलिस कहाँ जा रही है? क्यों जा रही है, कहाँ जा रही है? किसके यहाँ जा रही है? एक दहशत छा जाती थी, जिसकी शहादत हर मकान की बाहरी दीवाल दे सकती थी। वह खिड़कियाँ दे सकती थीं, वह बारजे दे सकते थे जिनमें लोग लटक आते थे। जब यह पहलवान निकल जाते हैं तब काफी देर तक धरती धमकती रहती है। मैं अपनी खिड़की के बाहर झाँकता हुआ इन्हें देखता दोहराता रह जाता हूँ। मन दोहराता है—'श्याम लाल पंडा। तीन लोटे का झंडा।'

वह दैत्याकार शरीरवाले आदमी! वह विशाल फाटक! वह ऊँचा चौतरा। चौतरे पर जलते चूल्हे! चूल्हे की लाल आँच और लपक, मन

में सब मिल-जुल कर जो कुछ तैयार होता है वह इतना एकाकार हो चुका है कि किसी को किसी से अलग नहीं कर पाता।

आज भी गली में बच्चे चीख रहे हैं, शोर मचा रहे हैं, खेल रहे हैं और मैं अपने पैर के तलुओं को सहलाता बैठा हूँ, जैसे गोबर की बदबू अभी भी पैर में भरी है और मन में वह तीन लोटों का चित्र छापा हुआ है। बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—'श्याम लाल पंडा--तीन लोटे का झंडा !'

पर अब मन में वह जिज्ञासा नहीं रह गयी है। अपने अज्ञान पर, अज्ञान में होनेवाले भय पर हँसी आती है। एक मन्द-मन्द हँसी जो बर-बस होठों में मचलती है। क्या इस सुख और हँसी का शानी है कहीं। वह सुख, जो गुजरे बचपने को याद करने पर आता है।

स्कूल ! नये साल पर पहले दिन स्कूल खुला है। मैं पिछले साल भी इसी स्कूल में था। पुराना विद्यार्थी हूँ यहाँ का। पढ़ने में भी तेज। रोब-दाब ज्यादा है। नये-नये लड़के आ रहे हैं। नया नाम लिखा गया है बहुतेरों का। उनसे परिचय पाने की, सब का परिचय कराने की जिम्मेवारी मुझ पर है। कहाँ रहते हैं? अब तक कहाँ पढ़े थे ? किसी गैर शहर से आये हैं क्या ? नया तबादला हुआ है इनके पिता ? का शहर में क्या हैं इनके पिता ? अच्छा, तो अभी तक घर में पढ़ते थे ! हजार तरह के सवाल हैं, जिनसे लड़कों का परिचय लिया जाता है। छोटी कक्षा है, तो क्या हुआ, जानने-पहचानने के तरीके तो सब जगह एक-से ही तो हैं। फर्क केवल इतना ही है कि पैमाना छोटा है। पर यह फर्क अपनी समझ में नहीं आता—खाहम-खाह उन लोगों पर क्रोध आता है, जो हमें बच्चे कह कर टालने की चेष्टा करते हैं। भले हैं, बुरे हैं, जैसे भी हैं, अच्छे हैं।

मास्टर साहब के आते-आते एक लड़का और आया। वह पीछे की सीट पर जा कर बैठ गया है। लड़के की चाल को देख कर ही जैसे मन जल उठा है--साला अकड़ कर चलता है। शान बघारता है। मन ने सोच लिया है। प्लान बन रहा है।

एक ने धीरे से कहा—'तुम्हारे मुहल्ले का है।'

जी और जल गया। अभी तो पहला दिन है। मास्टर साहब अपने रजिस्टर रसीद में लगे हैं। लड़के अपनी काना-फूसी में। मैं भी घूम कर वात करता हूँ। धीरे से पूछता है—'मुहल्ले का क्या मतलब ?'

कुछ और कहता हूँ कि इतने में घंटा बज जाता है। लड़कों के गुट्ट और गुट्ट में पकती साजिश को शायद ब्रह्मा भी एक बार आँकने में फेल हो जायेंगे। न जाने कब कौन-सी बात आ उठती है।

लड़का पूरी ड्रेस में था। पैंट, बूट, मोजा, बैग सभी कुछ। कुछ और लड़कों ने मुझसे पहले ही उसे घेर लिया है।

मुहल्ले में कहाँ...?—कहता-पूछता हुआ मैं उस झुंड के बीच जा खड़ा होता हूँ। सब लोगों ने जगह दे दी है मुझे। सब आसरा लगाए हैं, मैं क्या कहने जा रहा हूँ। नयी जगह है। वह दब रहा है। दबते हुए को और दबाने में मजा आता है।

'कहाँ रहता है यह ?'—कहता हुआ मैं उसका झोला कंधे से उतारने लगता हूँ। वह हाथ से बैग पकड़ कर विरोध करता है। उसका यह विरोध मुझे पसंद नहीं।

मेरे जरा-से इशारे पर एक दूसरी लड़का उसका बैग जोर-से खींच कर खोल डालता है। तीसरा बढ़कर तड़ी रसीद करता है। चटाक से तेज वाल पर मुलायम हथेली की आवाज होती है।

आज सोचता हूँ उसकी आँखों में कितनी दयनीयता थी उस क्षण। कैसा निरीह एकाकीपन था। आज कोई लड़का इस तरह सामने आकर अगर आँखों में आँसू डबडबा लाये, तो शायद मैं अपना कलेजा काट कर उसे दे दूँगा। पर वह जमाना, वह दिन, उस घंटे-मिनट और क्षण की बात ही और थी, अजीब थी। वह डबडबाई आँखों से खड़ा था और मैं कह रहा था—'अबे, नाम बता न। लड़कियों की तरह रोता है।'

तभी दूसरा लड़का उसके गले में हाथ डाल कर स्वाँग करता कहता है—'लड़की बिदा होत है, भैया। रो न पुतिया जल्दी बुलाय लेबै। रच्चौ तकलीफ होई तो हमका चिट्ठी पठये !' और वह इस तरह आँख-मुँह बनाकर पुचकारता है जैसे एक माँ अपनी बेटी को विदा कर रही है—अच्छा स्वाँग था।

'अबे नालायक, इतनी नकल !'—एक दूसरा लड़का उसकी बाहों को खींच कर अलग करते हुए कहता है। तीसरा लड़का कहता है--'अरे परसों इसकी बहन बिदा हुई थी। इसे सब याद है--ताजा, ताजा।'

'रबड़, पेंसिल, कापी, रंग, सब कुछ उस बैग में मौजूद है।'—सामने-वाला लड़का इस तरह बैग खोलता हुआ चिल्लाता है कि सभी चीजें नीचे गिर कर बिखर जाती हैं। नयी चीजों की अपनी शान होती है। सब चीज नयी है और शान के साथ हरी-हरी घास पर बिखरी पड़ी है।

'अबे पहले दिन इत्ती सारी चीजें।'—एक लड़के ने चौंक कर कहा।

'नौसिखिया है। पहले दिन, पहली बार स्कूल आया है।'

'पंडा है।'

'पंडा !'—मैं दोहरा कर चुप हो फिर उसे घूरता हूँ। एक बार सिर से पाँव तक देखता हूँ। पंड़े का लड़का हमारी तरह ही हाथ-पैर-वाला होगा। एक बार में बात समझ में नहीं आयी। अजीब-सी लगी मुझे।

वह लड़का फिर कहता है—'मैं जानता हूँ, मैंने इसे देखा है, दादा।'

मैं जोर से कहता हूँ—'वापस कर दो इसकी सारी चीजें। लौटा दो सभी सामान। यह लोटेवाला है, यह अपने गोल का नहीं हो सकता।' और बिना कुछ आगे कहे मैं चल पड़ता हूँ। झोला जमीन में फेंक और साथी भी मेरे साथ आ जाते हैं, फिर याद नहीं आता लौटते हुए रास्ते में क्या बातें हुई थीं, लेकिन इतना जरूर याद आता है कि मैं लोटेवाले और उन पहलवानों के साथ इस लड़के को बहुत देर तक फिट कर देखना चाहता

था, पर विश्वास ही नहीं होता कि यह सब एक जगह की चीजें हो सकती हैं।

दूसरा दिन !

स्कूल के फाटक के अंदर घुसते ही एक ऊँचा खुला हुआ बिना छतरी का इक्का खड़ा है। यह इक्का गहरेबाजी के काम आता है।

गहरेबाजी ! यह इलाहाबाद की अपनी देन हैं। सभी लड़के जानते-पहचानते हैं इस तरह के गहरेबाज इक्के को। उस दिन लखनऊ से अमिय आया था। आते ही उसने रास्ते में पूछा था—'यह कैसी सवारी है ? ऐसा टाँगा मेरे यहाँ नहीं होता। गिर न जाते होंगे बैठनेवाले इस तरह के इक्के से।'

'यह गहरेबाज इक्का है।'—मैंने कह दिया था।

'इक्का ! गहरेबाज!'—जैसे उसके दिमाग में दो विरोधी झगड़े एक-दूसरे पर चल पड़े थे। 'इक्के और ताँगे लखनऊ में भी हैं भैया। पर वहाँ तो नफासत के साहबजादे नवाब हाँकते हैं।'—अमिय मुझे समझा रहा था।

मैं लखनऊ नहीं गया सो उसका मुँह अज्ञान में ताकने लगा।

'च—च्—मियाँ। एक सवारी रेल पर !'—और उसने उस कमाल से नकल उतारी कि जी चाहा उसे चूम लूँ। पर लाख कोशिश के बाद भी मैं उसे इस गहरेबाज इक्के को हाँकने की नकल नहीं बता सका। क्यों कि इन गहरेबाजों का लुत्फ़ इन पर बैठ कर ही जाना जा सकता है। जहाँ न पकड़ने के लिए कोई जगह होती है, न पीठ का सहारा लेने के लिए सरंजाम। केवल बैठे रहिए जमकर, जरा-सा भी कमजोर हुए कि उछले और नीचे। इक्का जिधर से निकलता है उसके बम में लगे घुँघरू और घंटियाँ मनमोहक खनखनाहट की आवाज पैदा करती हैं कि उन्हें सुनते ही लोग दो फरलाँग से सड़क छोड़ किनारे निकल जाते हैं। हवा से

बातें करता फर-फर, फर-फर इक्का बेतहाशा भागता है। जरा-सी चूक हुई कि चलानेवाले चलनेवाले सब मिट्टी में! हड्डी-पसली नहीं बचती। जान हथेली पर ले दौड़ा है गहरेबाज को। कहते हैं बिना भाँग के गोले को लगाये गहरेबाजी का मजा नहीं रह जाता। आह, सातवें आसमान पर होते हैं उस समय, जब लोग घंटाघर से कटरे या शिवकोटी के लिए शर्त बद कर इक्का दौड़ाते हैं। पिछला अगले को मात देने के लिए रास्ता काट कर आगे आने की चेष्टा करता है। कुछ ही इने-गिने गहरेबाज इक्के हैं शहर में। जहाँ से, जिधर से दौड़ानेवाले निकल जाते हैं कि उन बालों और सफेद बुर्राक चुनट पड़े कुर्तों में वो तेज इतर की महक हवा में फैलती है कि घंटों बसी रह जाती है।

वैसा ही इक्का स्कूल के मैदान में खाली खड़ा था। न इक्केवाला था न इक्के पर बैठनेवाले लोग। जहाँ-जहाँ पीतल था सब सोने की तरह झल-झल चमकता हुआ। वारनिश से इस तरह पालिश की हुई कि पास खड़े आदमी का चेहरा दिखाई पड़ जाये।

मैं अपने को रोक न सका। बढ़कर हाथ फैलाते हुए एक बार इस ओर से उस ओर तक इक्के के सारे हिस्से को छू आया। ऐसा लग रहा था जैसे मैं खुद उस इक्के पर बैठ गया हूँ। इक्का भाग रहा है। घंटाघर, जानसेन गंज, बिजलीघर सब कुछ एक झपाके से आँखों तले से गुजर गया। दोनों हाथों से मैंने अपनी भुजाएँ कस ली। ऐसा लग रहा था जैसे इक्के पर बैठे हुए हवा की सुरसुरी कपड़ों को चीर कर बदन को बेहाल कर देगी। मैं उसी तरह अपने को कसता-कसता खड़ा था कि एक तीखी आवाज से तंद्रा टूटी।

'क्यों बे। इधर आ!'--कोई जोर से डाँटकर मुझे बुला रहा था।

मेरी निगाह आवाज की तरफ गयी। मैं जैसे सातवें आसमान से धराशायी हुआ। इसकी तो कभी कल्पना नहीं की थी। यह वही पंडा का लड़का था और हाथ उठाकर मेरी ओर इशारा कर रहा था।

उसके बगल में था पहलवान। काला दानव शरीरवाला। दायें हाथ में पचहत्थी लाठी थी। काले गलमुच्छों पर उसका हाथ था और वह मुझे देख कर उन्हें ऐंठ रहा था। ताव दे रहा था। सोच सकते हैं कैसी थी मेरी हालत !

मैं विना लगाम के भी उसके पास खिंच रहा था।

जरा पास आते ही पहलवान चीखा--'क्यों बे, बित्ता भर का है और अभी से बनने लगा लगा। आवारागर्दी करता है, गुंडई ! बोल।'

'मैं...मैं...!'—अपनी सफाई में मिमिया कर ही रह गया। अभी भी उस पहलवान की आँखें याद कर मेरी आँखें मुँद जाती हैं। जैसे उस समय मुँद गयी थीं। उसके भारी जबड़े से कौन-से शब्द निकल रहे थे। उन शब्दों का क्या मतलब था, कुछ भी मैं समझ नहीं पाया। बस केवल इतना ही जान सका कि वह मुझे पीटने पर उतारू है, तमाचा मारने के लिए उसने जोर से हाथ हवा में उठाया और मार की चोट कम लगे, इसलिए उसके उठे हुए हाथ को देखते ही मैं शरीर कड़ा कर बैठा था और मैंने आँखें मूँद रखी थीं। फिर उसने पता नहीं क्यों, तमाचा नहीं मारा। किस तरह उसका हाथ नीचे आया और क्यों उसने मेरी केवल कनेठी ही भरी इसका मतलब मैं आज भी नहीं लगा पाता हूँ। शायद मेरी निरीह मुद्रा ने, मुँदी हुई आँखों ने उसके दिल को पानी कर दिया होगा और उसने मेरी सजा घटा दी। कान पर उसकी मोटी अँगुलियाँ इस तरह लगीं जैसे कोई भारी रजाई के अंदर साधारण हाथ डाल कर कान पकड़ने की चेष्टा कर रहा हो। छोटे मुलायम कान उसकी चुटकी में कितना तनिक-सा आये थे। बारीक-सी चिकोटी लगी थी और मैं 'उई' करके जरूर रह गया था।

'बोल बे ? अब गुंडई करेगा राजू से ? आज से कान खोल कर सुन ले अगर राजू बचउ क़ा फुन तंग किहे तो टिकस कट जायी ई दुनियाँ से। एक रद्दा में कचूमर निकल आयी। समझे !'

वह बिगड़ समझा कर चला गया।

इस समय भी मैं अपने कान को छू कर उस ऐंठन को उसी तरह ताजा अनुभव कर रहा हूँ, जैसे वह पहलवान अभी-अभी मेरा कान उमेठता हुआ उस लड़के को मेरी सुपुर्दगी में छोड़ कर गया है। मेरे कान पर ताजा-ताजा गर्म खून छलक आया है और उसमें पीड़ा की चुनचुनाहट बौखला रही है।

मैं दायें हाथ से अपने बायें कान को सहलाता हुआ बिना उस लड़के की तरफ आखें उठाए, सिर नीचा किये अपने दर्जे में चला गया।

फिर मालूम हुआ वहाँ वह पहलवान सभी लड़कों के, जो-जो पिछले दिन मेरी साजिश में शामिल थे, उन सभी के कान गर्म कर आया था। सभी का बायाँ कान लाल था और तीन दिन तक लाल रहा। लेकिन अफसोस किसी ने किसी से भी उस घटना को नहीं दोहराया। कोई बोला ही नहीं उस विषय पर कुछ। जैसे हमारी यह साजिश अपने आप प्लान हो गयी थी और हम एक-दूसरे की बातों को दिल-ही-दिल में जानते-समझते थे। फिर खुल कर आने से शायद कोई लाभ नहीं रह गया था; इसीलिए सब चुप थे। वह लड़का राजू, जिसका नाम बाद में पता लगा, उस क्लास में अकेला पड़ गया था। सभी उसको अलग तबके का, अलग गोल का लड़का समझने लगे थे। कभी-कभी कोई लालची कुछ स्वार्थ के बस उसके चंगुल में फँसने की चेष्टा में जैसे-ही आते कि खबर हम लोगों तक पहुँच जाती। हम फौरन ही उसे इस बात से आगाह कर देते, 'क्यों बे ! क्या जमात से अलग होना है ?'

क्लासवालों की जरा-सी धमकी से उस की लालच काफूर हो जाती और बस अपना काम बन जाता।

वह रोज खुले इक्के पर बैठकर आता था। उसे वापस लेने के लिए वह खुला इक्का पुनः आता। शायद इस इक्के के क़ारण या उसके अपने

अहंकारी स्वभाव के कारण हम लोग उससे उस साल मित्रता नहीं कर सके। कोई सम्पर्क नहीं रहा हम लोगों का।

साल बीतता जा रहा था। हमने उसका नाम लोटेवाला राजू रख छोड़ा था। और उसके संबंध में सारी बात इस प्रतीक भाषा में ही होती थी।

एक दिन शायद श्राद्ध का दिन था कि घर के बाहर किसी ने आवाज दी। माँ ने कहा—"जा, पंडा महाराज बुला रहे हैं।, उन्हें यह सीधा दे आ।"

मेरे सामने थाली में आटा, दाल, चावल, बड़ी, पापड़, घी, तरकारी सभी-कुछ सजा लगा रखा था। और मन मेरा दोहरा रहा था—'पंडा महाराज! पंडा महाराज!'

'हाँ हाँ!'—माँ मेरे पूछने पर कह रही थीं,—'यह पंडे दान-द्रव्य ले कर वह सीढ़ी देते हैं जिससे लोग स्वर्ग जा सकते हैं। गंगा के किनारे उन पंडों को नहीं देखा, जो पूजा करते हैं। वह तलवार, हाथी, घोड़ेवाले बड़े-बड़े निशान।'

मैंने पूछा—"अगर हम दान न दें, तब!"

"गंदी बात नहीं कहते बेटा। बेचारे पंडा महाराज को दान नहीं देंगे, तो किसे देगें।'वह बेचारे खायेंगे क्या? हम जिजमानों के सहारे ही रोजी-रोटी चलती है उनकी।"

मन ने सोचा, तो स्कूल का राजू भी पंडा है। दान-कर्म से ही यह हाथी द्वारे पर बँधा है। मेरा हाथ झट मेरे कान पर पहुँच गया। लगा जैसे राजू का वह पहलवान नौकर अभी भी चीख-चीखकर मुझे आगाह कर रहा है। राजू अहम् का प्रतीक है। दान का पुतला है। हम लोगों के दिये दान पर जीता है, अकड़ता है। बूट पहनता है। उसका बाप स्वर्ग जाने के लिए सीढ़ी देता है। और मैं सोचता रहा स्वर्ग कहाँ है? क्या है?

फिर स्कूल पहुँच कर मैं अपने क्लास के लड़कों के बीच बहस कर रहा हूँ। माँ की सारी बातें मैंने लड़कों से कही हैं और पूछ रहा हूँ, वह सीढ़ी कहाँ है ? कोई बता सकता है। इस साले राजू के बच्चे से कहो, वह दिखाये हमें, वह सीढ़ी कहाँ है जिससे लोग स्वर्ग जाते हैं।

बहस गरमा-गरम है। सभी लड़के आश्चर्य कर रहे हैं। मेरी अन-सूझी खोज पर। उस दिन साले के नौकर ने हम लोगों का कान बेकार में गर्म कर दिया। सभी कह रहे हैं, हम सब मिल कर बदला लेंगे। सब सब अपने घर में पूछेंगे। अपनी माँ से पूछेंगे, पंडा महाराज क्या होते हैं। इन्हें क्यों सब लोग दान देते हैं ? सभी घर से दान मिलता है ?

माँ के पूछने पर बतायेंगे--"एक लड़का है हमारे स्कूल में जो अपने को पंडा कहता है। बड़े-बड़े लट्ठबाज पहलवान नौकर आते हैं उसके साथ। खुले गहरेबाज इक्के पर आता है वह।"

और अगले दिन !

सब ने एक स्वर में बात दोहराई।

'पंडे मेरे यहाँ भी आते हैं। मैं फलाँ-फलाँ पंडे का जिजमान हूँ। मेरे यहाँ तो हर पंद्रहवें दिन सीधा जाता है पंडा महाराज के यहाँ।'

जितने मुँह उतनी बातें। अलग-अलग घर सभी घरों के अलग-अलग पंडे।

कोई लोटेवाला। कोई झाड़ूवाला। कोई हाथीवाला। कोई मुरछल वाला। कोई पिटारीवाला। अलग-अलग विचित्र निशानोंवाले पंडे। और फिर सब ने उसे घेर कर एक साँझ उससे कह ही तो डाला—'क्यों बे, ओ राजू के बच्चे ! मेरी बिल्ली मुझी से म्याऊँ। मेरा खाओगे, बेटा, मेरे ही कान गरम कराओगे। देख बे, अबकी पहलवान आया तो ठीक नहीं होगा। साले की वह पिटाई होगी कि बस नानी याद आ जायेगी।

मैं जानता हूँ राजू चुप था। वह सब समझता है। लगभग साल भर तक जो हीनता उसे दर्जे में मिली है उससे वह गल गया है। चुप होकर वह अबोध हो, ऐसा नहीं है। हिकारत की नज़र सब बच्चे पहचान लेते

हैं। वह चुप सुनता रहा। सुन कर चल पड़ा। लेकिन पैर पटकता हुआ। उसके इस तरह चलने में एक विद्रोह था। पास के एक लड़के ने जोर से ताना कसते हुए मुझसे पूछा--"क्यों भैया कल फिर पहलवान आयेगा। इन्तजाम कर लो उसका।"

'नहीं !'— मैंने जोर से चिल्ला कर कहा--"अब क्या पहलवान लायेगा। आदमी के बच्चे दूसरों के भरोसे नहीं लड़ा करते। हिम्मत हो तो अपने आप निपटे ना। अकेले-अकेले।"

मेरे इतना कहते ही वह शेर की तरह बफरा, लौट कर दो कदम वापस आया। उसकी आँखों में खून छलछला आया था। मैं शान्त खड़ा था। मेरी पैनी निगाहें उसकी हर चाल पर टिकी थीं।

'आ !'—उसे वार करने के लिए तैयार देख मैंने जोर से कहा--'आ . आ ...!'

बस्ता पटक, पहला वार उसी ने किया। गुस्से में ताकत आधी हो जाती है। शरीर में मुझसे वह दूना ही पड़ता था। खूब जम कर पिटाई हुई। मार मैंने भी खूब खायी, पर चोट उसे भी अच्छी आयी। मुझे पिटता देख कर साथी लोग भी गुथ पड़े, खूब मुक्केबाजी हुई। हाथ-पाँव चले। याद नहीं पड़ता कि हम लोग अलग कैसे हुए। लेकिन प्रिंसिपल साहब के यहाँ रिपोर्ट जरूर पहुँच गयी थी। यह बात सच थी कि हम दोनों की तरफ से किसी ने भी रिपोर्ट नहीं की थी। कोई तीसरे लोग ही जिन्होंने यह गुण्डागर्दी देखी थी, रिपोर्ट कर आये थे। फलस्वरूप अगले दिन अच्छी खासी केनिंग हुई थी हम दोनों की। पता नहीं उसके घर पर क्या बीती, चोट की उसने क्या सफाई दी। लेकिन मजा खूब आया था। आज भी उस मार की कुलबुलाहट मन में अच्छी लगती है।

अभी भी तबियत होती है कि एक बार मौका मिल जाता और राजू से जम कर लड़ता। पर अब वह कभी मौका नहीं देगा। न जाने क्यों

बहुत-सी बातें दिल-की-दिल में रह जाती है। कई बार इच्छा हुई पर मेरे मुँह खोलने के पहले ही वह बात काट जाता है, जैसे उसे पता लग जाता है मेरे मन का और मैं कुलबुला कर परबस-सा रह जाता हूँ।

—:०:—

रऊफ

कमजोर का कोई साथी नहीं है, बाबू! लोहा कैसा खरा-खोटा रहे. भारी-से-भारी हथौड़े की चोट सह सकता है, लेकिन मिट्टी का खिलौना (मैं जोर से हँसा) आग पर पकने के बाद भी मामूली चोट-से चकनाचूर हो जाता है। फिर आदमी की बात करते हैं—आदमी इस्पात नहीं होता, लोहा नहीं होता। चाहे कितनी तरह का क्यों न हो सारा मलबा मिट्टी ही तो होता है। कितना पकेगा? पक कर कितना ठोस होगा? एक चोट में न टूटेगा, दो चोट में न टूटेगा। एक जगह, न टूटेगा दूसरी जगह न टूटेगा—इसके माने यह नहीं कि वह अजर-अमर हो गया। जरूर टूटेगा उसकी कच्ची रग पर तनिक-सा छू कर देखो, वह किस तरह खिल जायेगा—राई-राई अलग हो जाता है। अब, मेरे काम की क्या पूछते हो। जलालत का पेशा है बाबू! काम क्या होता है काम से ज्यादा बातें होती हैं। बात की ही तो रोटी मिलती है।—(कहकर मैं हँसता हूँ!)—बात यहीं तक रह जाय तब भी कुछ ठीक है। बात से ज्यादा झगड़े होते हैं। झगड़े से ज्यादा दलबंदी। अब तो दलबंदी को भी षड्यंत्र ने पीछे छोड़ दिया है।

मेरी बात सुनकर पूछनेवाले बाबू हँसने लगे।

मैं सोचता रहा। सात बजकर दस पर बम्बई इक्सप्रेस आती है। जाड़े में इत्ती सुबह किसी को क्या पड़ी थी ख्वाहमख्वाह स्टेशन आने की।

नीले बंद गले का कोट और ऊनी पैंट में एक बाबू को खड़े देख कर माथा ठनक गया। कोई चेकर है क्या! कौन है यह ?

खोमचेवाले ने स्टेशन के बाहर खुले मैदान की पटरी पर एक बड़-से थाल में कच्चे-पक्के चनों को ढेर से कटे प्याज से सजा रखा है। पेट की भूख में कुछ तो ईंधन चाहिए ही। मैं चेक करनेवाले की आँख को बचा कर इधर आ गया हूँ। सड़क पर तांगे-इक्के खड़े हैं। इतनी आड़ है सोचता हूँ कि कोई आदमी देख नहीं सकता। अगर कोई सचमुच में चेक करता हुआ आ गया तब! तब वह जरूर आ जायेगा।

वह सामने खड़े आदमी की बगल में नीला कोट ही तो दिख रहा है। मैं बाबू की बात को फिर से काट कर फिर पूछता हूँ--आप ही थे बाबू कल ? जनता तक चेक किया था आपने। ग्यारह बजे दोपहरी तक थे स्टेशन पर आप।

बाबू ने मेरी बात का जवाब नहीं दिया, हँस कर चुप हो गये हैं वह। मेरी समझ में उनकी हँसी में एक राज़ छिपा है। आज तक मुझसे यह सब कोई पूछने नहीं आया था--तुम रऊफ मियाँ! तुम! पण्डागीरी कैसे करते हो ? क्यों करते हो ?

यह पचास-पचपन का ज़माना मेरा हुआ। उसके पहले से ही मेरे घराने के लोगों ने यही पेशा अपना लिया था—लेकिन कभी किसी ने कुछ न पूछा! मन ठनक उठा एक बार मेरा।

कैसे बताऊँ इनको, दो जून जो आग लगी रहती है इसे कैसे भी ठंडा तो करना ही पड़ता है। लाख पढ़ाया महतारी--अब्बा ने। इलिम बदा नहीं था। यह काम जरायम-पेशा है, बाबू, ज़रायम पेशा! देखते हो, कहाँ

रहता हूँ मैं। पचपन का हुआ हूँ ! दस पाँच-पाँच और पाच। सुबह आँख खुलती है तो यह सामने वाला अस्पताल का फाटक दिखाई पड़ता है (और मैंने मकान की ओर हाथ उठाते हुए कहा)। यह बाप-दादों का का मकान गिर रहा है ! पेट का ही पूरा नहीं पड़ता, मकान का क्या देखूँ। गंगा मैया देती हैं। उसी के डगरे बसा हूँ। धरम-करम क्या, पुश्तैनी काम हो गया है, जैसे और काम किया वैसे यह किया।

अब तो गुजर गई बाबू...!

जा की नगरी रहियो,

वा को वैसा कहियो !

ऊँट बिलाई लै गया

हाँ जी, हाँ जी कहियो।

बस ऐसे ही सब चलता है, बाबू—अब तो गुजर गयी गुजरान क्या। झोपड़ी क्या मैदान !

जस बात की रोटी है। नौकरी है, बजाते हैं। मुकद्दर छोटा है खाने वाले बहुत हैं। कौन नहीं चाहता कि उसके बाल-बच्चे मजे में रहें। पर यही करना बदा था। पैंतीस की नौकरी है। जिजमान की चिरौरी और मेहनत मसक्कत से, उनकी खुशी से दो पैसे मिल जाते हैं। किसी तरह गुजर-बसर हो जाता है। पेट ऊपर होता है, तो दारू लगा लेता हूँ। अगर पूरी हुई तो डेढ़ रुपये की, और मस्त हो कर सोता हूँ। भोर ही से फिर वही गाड़ी, वही मुसाफिर। तुमसे क्या छिपाना बाबू, पूछो तो भला—न पूछो तो भला। मालिक की नौकरी करता हूँ। जमाना गुजर गया यही सब करते हुए। तुम पूछते हो यात्री के बारे में, अरे ! अगर मुसाफिर आराम न पाये, तो आये काहे को। पूछे क्यों पंडे को। पंडे और धोखा, राम राम, क्या कहते हो ! अरे कहीं और के पंडे होंगे, यह सब करनेवाले। लेकिन दूसरी जगह से अपना देश अच्छा

है, बहुत अच्छा। अरे, किसको फुरसत रखी है सरकार! दिन भर गंगा मैया के पीछे भागते-दौड़ते दिन कटता है। शाम को थक कर लौटे, तो ज्यादा-से-ज्यादा एक तोला भाँग छनी, दिसा-मैदान गये और जो पड़े तो सवेरा।

आप पैसा मिलने की बात पूछते हैं। देनेवाली तो गंगा मैया हैं सरकार। मिलता है तो इतना कि उठाये-धरे मुश्किल और किसी-किसी के यहाँ तवे पर रोटी नहीं पड़ती। सभी तरह के लोग हैं।

कभी रहा होगा धरम का काम, अब तो सब कुछ बिजिनस है! यात्री! अब कहाँ आते हैं--वैसे यात्री! पहले क्या नहीं मिलता था पंडों को। कमी क्या थी, सरकार। जिजमान हाथ बाँधे खड़े रहते थे। लेकिन पंडे परवाह नहीं करते थे। पर अब सब कुछ उलटा क्या हो गया है, एक तरह से धीरे-धीरे मिटता जा रहा है। बात बदल गयी है। बहुत बदल गयी है। आप नयी उमर, नयी रोशनी के आदमी हैं। कभी जमाना था, लोग अपने घर से निकलते ही अपने पंडों का पता ठिकाना जान लेते थे। अँधेरे में टटोलता हुआ आदमी सहमा-सहमा-सा नहीं आता था। दूर-दूर जिजमान के गाँव-गाँव आदमी घूमते थे। आज भी कितने यात्री, कितने मुसाफिर गाड़ी से उतरते हुए कहते हैं—मोहका याद है। हमरे डहरन चल न। महावीर परसाद संतोषी पंडा है हमार। दूसर डहर जाये। दफतर माँ नाम लिखा है हमार। ओकर आदमी हमरा टिकसवा कटाइस, गड़िया पै वैठाइस। का हे लकर लकर करत है--जा भाई! कोठियात काहे है, जा न! एक बेर कहि दिहेन।

और इस तरह वह एक नाम लेकर मुसाफिर सारे आदमियों को निराश कर चला जाता है। क्या जालपाइगुड़ी, क्या कलकत्ता, । क्या दक्खिन, क्या महाराष्ट्र, क्या मद्रास सभी को थोड़ी-बहुत भाषा सीख रखी है। देश-देश घूमा हूँ--इस गंगा की बदौलत! कहते हैं न—

मख प्रयाग,

नाभी काशी,

चरण गया !

तीन तीरथ है और उनमें राजा है प्रयाग। मर कर लोग आते ह यहाँ। लानेवाले लाते हैं। हम तो पंडा क्या, कनवेसर हैं, सरकार। अपने मालिक की दुहाई देते हैं। उन तक आदमी को आराम से पहुँचा देते हैं। वह अपना काम निपटाता है। कोई रहने-बसने तो आता नहीं। यह आया, वह गया। बूँदी छत्तीसगढ़वाले क्वाँर में आते हैं, बंगाल देश से फागुन और सावन में आते हैं, माघ के बाद शिवरात्री से मराठे आने लगते हैं मद्रासी आने लगते हैं, किसी-किसी मद्रासी के पंडे भी अलग हैं। दारागंज में एक-आध घर है मद्रासी पंडों का। बाकी यात्री को ठिकाने लगाना, सही रास्ते पहुँचानें हम नहीं आयेंगे कोई-न-कोई तो आयेगा ही। अगर मुसाफिर अपने पंडे का नाम नहीं लेता, तो जिस पंडे के आदमी ने उसे पहले पकड़ा वह उसी का हुआ। पंडों में नहीं, लेकिन पंडों के नौकरों में अलबत्ता झगड़ा हो जाता है। वह भी कभी-कभी सरकार, यह बिजनिस ही ऐसा है। नियाव कहाँ होता है। जेकर लाठी ओही की भैंस। हमार आदमी भुसावल, मनमाड, बंबई तक जात हैं। हर स्टेशन पर कोई-न-कोई कनवेसर होगा। गंगा मैया की ही बात नहीं गंगा सागर, नासिक चारौ-धाम, कश्मीर जहाँ-तहाँ हर तीरथ-स्थान में पंडे हैं। कहीं-कहीं बुराई भी है। यह शरीर देखते हो (मैंने छाती ठोककर कहा), यह बुराई का नहीं है। गम गलत करने के लिए अपने को भूलने के लिए एक पाव-अद्धा लेता हूँ। रात-बिरात हाली चला जाता हूँ तो मस्ती के लिए। इसे पाप कहो चाहे पुन्न। वरना बाबू साहब पेट के ऊपर कहाँ उबरता है। अजी हमारे यहाँ ही देखिए न अजमेर शरीफ में, जाइए वहाँ भी खादिम लगते हैं। ठीक वैसे ही वहाँ भी खादिमों में हर महल्ले, शहर, प्रांत सभी जगह के लोग बँटे हैं। रहने के लिए खादिम मुकाम देते हैं, सारे आराम मुहइय्या करते हैं। इन सारी सहूलियत के लिए कुछ ले लेते हैं, तो क्या बुरा करते। अरे यह वैसे ही लेते हैं, जैसे यहाँ पंडे लेते हैं। जो समरथ हो, जो

इच्छा हो, वही दीजिए। कोई जोर नहीं। यह तो अपने मन की बात है।

क्या नहीं करते हम लोग मुसाफिरों के लिए। जगह, पानी, रोशनी, सब कुछ। त्रिबेणी-क्षेत्र का खुला मैदान। माघ का महीना। सरकार कितना इतजाम कर सकती है, बोलिए तो! रहने-बसने, नहाने-धोने का इंतजाम हम यानी हमारे मालिक न करें, तो हो कहाँ से? जरा जड़ में चलिए, माना लाख बुराई है इस पेशे में, पर वह भी या मुसाफिरों के बदौलत ही।

आप लड़कियों की बात पूछते हैं!

छोड़ जाते हैं काशी में विधवाओं को बंगाली लोग। कहीं और ऐसा नहीं होता। न सहारा मिलने पर वह बेचारी क्या करें? हाथ किसके-किसके आगे फैलायें। मजबूरी का नाम चाहे कुछ रख लो, वही सब कुछ कराने पर लाचार कर देती है। इज्जत किसे पसंद नहीं। लेकिन किसके लिए रखे वह इज्जत! और हमारे यहाँ––बड़ी बात नहीं कहता। बुरा न मानें आप जरूरत पड़ती है, तो चार-चार पाँच-पाँच सौ रुपये मुसाफिर को यों दे देते हैं, बिना किसी लिखायी-पढ़ायी के। सब वसूल हो जाता है पाई-पाई। दिन भर आदमी चराते-चराते इतनी अक्ल तो आदमी पहचानने की खुद-ब-खुद ही आ जाती है। पर कभी-कभी यह यात्री यह मुसाफिर अजीब भानमती के खेल रचा जाते हैं और कस कर चूना लगा देते हैं पंडों को भी। करता एक है, बुरा सब को भोगना पड़ता है। लेकिन एक बार बहकावै बावन वीर कहावैं। दूध का जला छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है। पंडे भी खब जाँच-पड़ताल कर हाथ खोलते हैं।

पुलिस, स्टेशनवाले, ताँगे और रिक्शेवाले, नाववाले, घाटिया और टिकस बाबू, कौन नहीं है पंडागीरी के इस पेशे में। बहती गंगा है हाथ कौन नहीं धोना चाहेगा? आया पैसा कौन छोड़ेगा? सभी पैसे पाते हैं। पैसे के लोभ में सरकार बिकती है। सरकार का टिकस बिकता है, नियाव

विकता है। फिर मेरा खानेवाला मुझसे ही झाँसा करेंगे। सीधे से पैसा कौन देता है। उसके लिए बहुत-से हथकड़े भी नहीं अपनाने पड़ते हैं। मुसाफिर खुश रहे। जिजमान खुशी-खुशी लाख दे चाहे एक पैसा--सिर आँखों पर। उसे मनाने के लिए जेब से पैसा निकालने के लिए हम बात करेंगे, तो पुलिसवाला हो या कुली, मेरी बात नहीं काट सकता। सब हामी भरेंगे। फिर हिम्मत है किसी की।

अपने नाम का डर किसे नहीं होता। नाम होता है पंडे का। व्यापार घटता-बढ़ता है तो पंडे का। हम नौकर-चाकर ठहरे, अपने चार पैसे में खुश। कभी हवेली-तबेले की बात नहीं सोची। चार मिला, चाहे दस, सब इस शरीर में लगा दिये। और लगाये क्यों नहीं बाबू! घर चलाने को शरीर चाहिए। आदमी के किये ही घर चलता है। और औरत की पूछते हैं? उसे क्या, जो दोगे पका के रख देगी। वह तो बहुत से बीमार चूहों के बच्चों की माँ होती है। उसका खर्च पूरा करने में सिर कटता है अपना। सब तरह की जलालत-तबालत हमें उठानी पड़ती है। बैठे-बैठे दूसरे का अन्न खाना, दूसरे के सहारे जबरदस्ती पड़े रहना, हर बरस बच्चे पैदा कर घरवाले को मुसीबत करना--ऐसी ही तो औरत होती है बाबू। और इसी ग़म भरी जिंदगी से लड़ते-लड़ते जब टूट जाता हूँ और पाकिट में पैसा होता है तो हौली चला जाता हूँ। इस हौली जाने से औरत लड़ती है। चार-चार दिन अनबोला रखती है, उसकी समझ से मैं पागल हूँ। पैसे फूँकता हूँ बेकार! तुम्हीं बताओ और क्या कर सकता हूँ, इस शरीर का। तुम्हारे जैसे बाबू को देख कर मेरे मन में क्या हुलास नहीं फूटता। अच्छा पहिनना, अच्छा खाना किसे काटता है। चलनी में दूध दुहे करम को दोष दे। यही साँप-छछून्दरवाली हालत है अपनी।

जो कुछ बीत गया है उसे रोने से क्या फायदा। मैया की यही मरजी है। इसी में खुश हूँ। कुछ देखना-समझना चाहते हो, तो गाड़ी पर

जाओ। त्रिवेणी के तीर जाओ, तव देखोगे---क्या रचना है गंगा की ! क्या-क्या गुल खिलते हैं वहाँ। पैसा कैसे आता है। सारे लोग कितने अलग रहते हुए भी कैसे एक-दूसरे में गुथे हुए हैं। जैसे कोई (मैं इस बात में विश्वास नहीं करता) बड़ा शक्तिशाली निष्काम तांत्रिक, जिसे तुम कुछ भी कह सकते हो, सब कुछ चला रहा है। आगे और पानी से ताकत कैसे पैदा हो जाती है। इस आटम बम को क्या आदमी ने बना लिया ? जो पहले नहीं था वह कभी नहीं बनेगा—यही सब महात्मा लोग चिल्लाते हैं त्रिवेणी के किनारे ! अस्पताल का यह फाटक देखते हो मालिक। यहाँ हर घड़ी कुछ-न-कुछ नया खेल होता रहता है। क्या डाक्टर की ताकत है इस खेल को खेलने की ? नहीं मालिक नहीं ! कारण खोजने निकले हो। मैं अनपढ़ गँवार हूँ। कुछ नहीं जानता। सब-कुछ सुनी-सुनाई बातें ही बक रहा हूँ। यह नहीं जानता, क्या कहना चाहिए क्या कह रहा हूँ।

काशी विश्वनाथ, जगन्नाथ, गयाजी, गंगा-सागर कहीं चलो मेरे साथ--फिर देखो धर्म की दुनिया क्या होती है। कहा न, जरायम-पेशा हूँ, मालिक ! रोजी-रोटी के लिए जो कुछ करता हूँ उसका बुराई नहीं करूँगा। मालिक का नमक खाता हूँ, नमक-हलाली क्या करूँ ? बस यही माँगता हूँ--

साँई इतना दीजिए जामैं कुटुम्ब समाय !

अब कभी फिर आना। नशा फट रहा है मेरा। कुछ बुरा कहा हो तो माफ करना। कुछ देखना हो तो गढ़ घाट जाना। औरत ही बुराई की जड़ नहीं होती। पैसा ही पाप नहीं होता। पुण्य समझ कर किया हुआ काम सुफल देता है। मेरे बकने का ख्याल मत करना। मैं पागल हूँ। और किसी तरह बहुत-सी बातें जो मेरे समझ में आयीं, मैं बकता गया। इसे सुन कर वह नीले कोटवाला बाबू चला गया।

मैं नहीं जानता तुम कौन थे, जो यह सब पूछने आये थे। मेरे मन को उखाड़ कर तुम यह जानना चाहते थे कि मैं मुसलमान पंडा क्यों हूँ। और क्या-क्या करता हूँ। अपने खुदा से अलग दूर हो मैं काफिरों का नमक खा रहा हूँ। उन्हें उनके धर्म के रास्ते पर ले जा कर दलाली करता हूँ। इसलिए जराय-पेशा हूँ न मैं। मेरे बाप ने यही किया था। मैं भी यही कर रहा हूँ। पर मैं अपने बेटों को इस राह पर न आने दूँगा। कत्ल कर दूँगा एक-एक को। वे मेरे जीते जी पंडे नहीं बन सकते अब। बहुत हो गया। पार पाया मैंने इस जिन्दगी से। एक नहीं मेरे कई भाई इस पेशे में है। पेशा हमेशा होता है। रोजी के लिए किया गया काम दोजख नहीं ले जाता। चलूँ नमाज़ का वक्त हो गया।

रास्ते में जाते हुए ध्यान में आया--आखिर यह आदमी कौन था? मेरे मालिक के बारे में घुमा-फिरा कर क्यों पूछ रहा था। चाहता क्या था--कौन-सी बात की टोह ले रहा था।

मैंने मालिक का नमक खाया है। उसके गाढ़े वक्त काम आया हूँ। यदि यह बुराई है तो उसे मैंने किया! जरूर किया है।

--:०:--

बन्नो

रऊफ चाचा आते हैं। सभी उन्हें चाचा कहते हैं। मैं भी चाचा ही कहती हूँ। घर में आते ह, तो दालान में उनकी हद्द समाप्त हो जाती है। वहीं वह बैठते हैं। उनके लिए बरतन अलग है। पानी उन्हें हमेशा

एक ही गिलास म दिया जाता है। खाना एक ही कटोरे में दिया जाता है। खाने के बाद वह खुद ही गिलास-कटोरा माँज डालते हैं। यह नियम उनका आज का नया नहीं है। जब से मैंने देखा है, वह हमेशा एक-से रहे हैं। उनके मँजे हुए बरतन एक आले पर रखे रहते हैं। खाने में उन्हें परहेज नहीं है। कभी-कभी एक हाजी चाचा भी आते हैं। वह मेरे यहाँ का पानी नहीं पीते, पान भी नहीं खाते, कठिनाई से सूखी सुपाड़ी लेते हैं। अजीब धरम है उनका।

हाजी चाचा की सन की तरह सफेद दाढ़ी। खूब, मैं बहुत देर तक उसे देखती रहती हूँ। वह क्या मजे से गर्दन हिला कर बातें करते हैं। मेरे बचपन से आज तक हाजी चाचा की दाढ़ी न एक अंगुल बढ़ी न एक बित्ता घटी।

हाजी और रऊफ चाचा में बड़ा फर्क है। रऊफ चाचा ढुलमुल हैं। जैसा देश वैसा भेष बनाये फिरा करते हैं। मुझे याद आता है, जब मैं इस घर के पड़ोस में रहती थी, तब मैं बहुत छोटी थी। मैं क्या जानती थी कि कभी यह आँगन मेरा अपना घर बन जायेगा। नहीं, तब मैं पड़ोस की लड़की थी। इस आँगन में केवल खेलने भर का अधिकार था मेरा। रऊफ चाचा तब भी आते थे। आज भी आते हैं। रऊफ चाचा से तब कोई परहेज नहीं था अब परदा है। पहले मैं पूछा करती थी--रऊफ चाचा! आप बंगाल गये, तब बंगला सीख आये, मदरास गये, तो मदरासी बोलना आ गया आप को; और बम्बई पहुँचे तो...।

वह कहते हैं वहाँ मराठी, गुजराती सीखने को मिली। क्या देश है बंबई भी। उनकी लच्छेदार बातें सुन, मैं पूछती थी--जरा गुजराती सुनाइए ना। वह बातें याद कर बड़ा मजा आता है। पर अब इस घर के लड़के उनके गले में लपट जाते हैं--चाचा बंगाली! लड़कों की बातें वह टाल नहीं पाते--कुछ देर खाँसने के बाद कहते हैं--'बेश खोखा बेश-बोशो--आमी एखोनी बांगला बोलबो--जानो आमी की बोली।

देखो, आमी बोली--बांगला। बोलो तो--कार बाड़ी जावे तूमी। गोंगा स्नान । आशो, आशो । आमार पाण्डार बाड़ी चालबो । ताखाने जाल हाबे, राहेबार ठिकानो, उत्तम चाल, वाबा, देख तो नीन बाबा । के रोक़ाम मज़ा ।'

और लड़के हँसने लगते हैं।

कुछ गुजराती सुनना चाहते हैं ।

वह जरा खखार कर गुजराती बोलने लगते हैं--'की राम भाईं। ठिकाना छे। की आँपू आपनी, ओ बीकरी तोर वा छे। बायड़ी छे। की मजा छे।' और उनके बार-बार छे कहने पर हर बार लड़के खिल-खिलाते हैं। खूब कहकहा लगता है।

वहीं रटे-रटाये पाँच शब्द। पाँच वाक्य जिनकी बदौलत वह इलाहाबाद स्टेशन पर उतरनेवाले हर यात्री को उसकी भाषा में बात करके उसे पिघला लेते हैं। यह उनकी खसूसियत है। इसी का पैसा वह पाते हैं। गैर भाषा-भाषी आदमी उन्हें अपना मानते हैं। उन पर रोब डालने के लिए वह जनेऊ पहनते हैं। गंगा की कसम खाते हैं। यात्री को उसके धर्म, दीन, रहीम की कसम दिलाते हैं। परदेश में अपने देश का एक कुत्ता भी प्यारा होता है। यात्री अपना हो जाता है जब वह अपनी भाषा सुनता है। रऊफ चाचा जब भी बच्चों के आगे दूसरी भाषाओं को बोलते हैं, तो इस फर्राटे से लपड़-सपड़ कि सुननेवाला भाँप नहीं पाता। फिर किसमें इतनी लगन है, जो उनकी बात को याद कर जाय। वह चलते-पुरजे के आदमी हैं। लोग किसी का विश्वास करें या न करें, रऊफ चाचा को सब आदमी मानते हैं। उन्हें उनकी इज्जत मिलती है। वह परायों के बीच अपने हैं--एकदम अपने ! इस घर की कौन-सी बात उनसे छिपी है। उनसे नौकर समझ कर व्यवहार नहीं किया गया। यह इज्जत यह ओहदा, जो उन्होंने हासिल किया है अपनी नेक चालों से, अपनी कड़ी मेहनत से ही। हर एक के आड़े वक्त पर वह काम

आये हैं। जी होम कर उसका साथ देते हैं। इससे अधिक मैं नहीं जानती। लेकिन तुम, मेरे देवता हमेशा कहते रहे हो--यह आदमी मीठा ठग है।

क्यों? मैं नहीं कह सकती। तुम्हारा विश्वास कितना सही है, कितना गलत--वह मुझे आँकना नहीं आयेगा। मेरा क्या छिपा है तुमसे। तुमने मना कर दिया था-देख! यह दोगला है। मैं तुम्हारी परछाईं इस आदमी के सामने नहीं पड़ने देना चाहता।

विश्वास मानो, अब वह कब इस घर में आते हैं, कैसे रहते हैं, कहाँ जाते हैं मुझे इसका पता नहीं चलता। कभी-कभी कड़ा जी करता है उसकी बातें सुनने का। लेकिन नहीं उससे पहले कि मेरा जी कुछ सोचे, मैं अपने को बँटा लेती हूँ और बात भूल जाती हूँ। तुम सामने होते, तो पूछती, क्यों कहा था ऐसा? क्यों लगायी थी यह रोक? क्या खोट थी इस आदमी में। कैसी खोट थी। कभी तुमने समय नहीं दिया। मैं कभी यह बात पूछ नहीं पायी।

तुम कितने कठोर हो। यह मैंने नहीं सोचा था। दूसरे को दोष क्या दूँ। मैं तुम्हें समझ नहीं पायी। बचपन से तुम साथ रहे। कहते हैं औरत पहेली होती है। उसे समझना कठिन होता है। लेकिन तुम, तुम तो मुझे भी पार कर गये। परन्तु तुमने आसरा दिया है। वही बहुत है मेरे लिए। क्या कमी है मुझे। मजे में रहती हूँ। तुम्हारे भरोसे ही हूँ। मीरा ने पत्थर की मूर्ति का भरोसा किया था। शायद वही उसका कृष्ण कन्हैया था। मेरा कन्हैया वह तो...जाओ तुम बड़े वो हो। मैं तुम्हें सोचना चाहती हूँ, लेकिन तुम हर बार मेरी आँखों और पलकों के बीच आ खड़े होते हो। वह माखनवाला चोर था वही--छाछ पर नजर जाती थी उसकी। पर तुम तो मेरे अंदर से सब कुछ चुरा ले गये हो। वह वंशी की धुन से मोह लेता था। तुमने बिना वंशी ही मुझे लूटा है। राधा! वह प्रेम पाने के बाद दीवानी हुई थी, बाद में विछोह हुआ था उसका। पर मैं अपने को राधा से ऊपर मानती हूँ। क्योंकि मैं जब प्रेम

जानने लायक नहीं थी, तब भी तुम थे हर पहर, हर घड़ी। उस समय तुम्हारा होना न होना बराबर था मेरे लिए और अब बिना तुम्हारा प्रेम पाये मैं तुम्हारी दीवानी हूँ।

लोग कहते हैं——मैं जोगिन-सी दिखती हूँ। तुम्हारे प्रेम में अगर जोगिन बन जाऊँ, तो उससे अधिक सुफल क्या होगा मेरा। मैं इस क्षण शीशे के सामने खड़ी हूँ अपने आप को निहारती हुई। आज ही बाल धोये ह। तुम होते तब!

और तुम्हारे होने की कल्पना करती हूँ। तुम कहीं-न-कहीं हो ही। और आँखें बन्द करने पर ऐसा लगता है जैसे तुम हो एक दम पास! मेरी आत्मा के एकदम निकट। इतने निकट कि तुम्हारे शरीर की गर्मी मुझे पूरी पूरी मिल रही है। शरीर और शरीर का अंतर मिट गया है। उल-हना मत समझना इसे। तुम्हारी अन्यतमा हूँ। अधिकार का किसे गर्व नहीं होता। यदि उसकी क्षीण किरणें मुझमें भी दिखें, तो क्षमा करना।

तुम तो बहुत कुछ क्षमा कर गये हो। लेकिन उस सब के ऊपर है तुम्हारा जादू। तुम्हारे कहे हर शब्द मैंने कंठाग्र कर रखे हैं। मेरे पूछने पर तुमने कहा था——आवारा होना तुम्हें अच्छा लगता है। तुमने मेहरबानी माँगी थी मुझसे कि मैं उपदेश न दूँ। अनुग्रहपूर्वक खोज-खबर न लूँ तुम्हारी।

मैंने पूछा था——'ऐसे कब तलक चलेगा?'

कितनी लापरवाही से तुमने कहा था——'रेल के टिकट खरीदूँगा, ढेर से टिकट। जहाँ-तहाँ बसेरा लेता जंगलों में शिकार करता घूमूँगा। उत्तराखंड जाऊँगा। घूमूँगा, खूब घूमूँगा और जब इस अवारापने से मन भर जायेगा, थक जाऊँगा या लगेगा कि तुम्हें मेरी बहुत जरूरत है तो उससे पहले आने की खबर दूँगा। जरूर आऊँगा!...किसी तरह निराश न होना!'

तुम्हारे एक-एक अक्षर पूजा के समय याद आते हैं। हर रोज मैं आरती ले बैठती हूँ। न जाने कब तुम आ जाओ। दूर-दूर से यात्री आते हैं, इस हवेली के दरवाजे पर बसेरा लेते हैं। गंगा नहाते हैं। पुजापा करते हैं। श्राद्ध करते हैं, पिंड-दान करते हैं। गये रात तक रतजगा रहता है। सभी आते हैं लेकिन एक तुम नहीं आते।

बोलो कब आ रहे हो। मैं तुमसे नहीं अपने अंतरतम से यह प्रश्न हर सुबह पूछती हूँ। दिन भर आसरा देखती हूँ फिर दिन बीत जाता है। रात आ जाती है। क्या निष्ठुर नहीं हो तुम? कभी-कभी सोचती हूँ—काश बचपन लौट आता तो मैं खुल कर बदला ले सकती तुमसे। काश उस समय मन में वह सब कुछ जान सकने की सामर्थ्य होती, तो आज तुम इतने निष्ठुर न बन पाते। तुम मुझे छोड़कर गये हो। परित्यक्ता से अधिक क्या जीवन है मेरा? जो औरत पति को नहीं बाँध सकी उसका जीवन! जानना चाहोगे तो कहूँगी मर्द तो उड़नेवाला जीव है। हमेशा दो टाँगों पर खड़ा उर्ध्व ही जाता है, ऊपर और ऊपर। ऊँचे दिगंत शिखरों के चक्कर लगाने में ही मन रमता है उसका। लेकिन मैंने तुम्हें सहर्ष छोड़ा है इसलिए दुःख नहीं मना रही हूँ। तुम्हारे सुख-दुःख में ही हिस्सा बटाने का अधिकार है मेरा! और उसी के सहारे तुम्हारी बात मान बैठी हूँ। न जाने तुम कहाँ होगे? कैसे होगे? लापरवाह कह कर तुम्हारी तौहीन नहीं करूँगी। लेकिन तुम लापरवाह बचपन के थे। चिट्ठी न लिखने की कसम खा रखी है तुमने। मुझसे सिवा इन हवाओं के, इस चाँद और नील आकाश के कोई नहीं बताता कि तुम कैसे हो? क्या खाते हो? कहाँ रहते हो? काश इस समय तुम भी कहीं किसी सरोवर के तीर खड़े चाँद देख रहे हो—किसी पहाड़ी झरने के किनारे खड़े इस चाँद का प्रतिबिंब निहार रहे हो, तो मेरा हाल तुम्हें जरूर मिल जायेगा। पर तुम्हारा! उसे जानने लायक मेरा मन अभी परिपक्व नहीं हुआ। वह तो अभी भी अँधेरे में स्वार्थ की जड़े टटोल रहा है। मैं चाहूँगी तुम्हें तो अपने स्वार्थ के लिए, और तुम! तुम तो स्वार्थ में नहीं बँधे हो। ऐसे ही रात-रात तुम्हारे

और अपने जीवन की हर बात हर घड़ी पुनः पुनः जीते-जीते न जाने कब सपनों में खो जाती हूँ। जीवन से कोई तुम्हें ले जा सकता है लेकिन सपनों पर किसी का अधिकार नहीं होता। उससे तो तुम नहीं भाग सकते। मैं नहीं जानती कि सपने कैसे और कहाँ से आते हैं, लेकिन उसमें तुम होते हो और बस मैं चाहती हूँ यह सपने चलते ही रहें, चलते ही रहें! पर वह कहाँ चल पाते हैं। टूट जाते हैं, मेरे देवता! न जाने क्या साज़िश की है तुमने कि सब कुछ बिखरा-बिखरा लगता है। जैसे खिले फूल की सारी पंखुड़ियाँ झरने को आतुर हों। लगता है—कुछ पूरक था, जो खो गया है; चुक गया है।

चाँद पूरे आकाश गंगा में तैर कर निकल गया है। कहीं उत्तरी कोने पर ध्रुव है, सप्त-ऋषि हैं। यहाँ मैं खड़ी हूँ।

रात फिर कट जायेगी। दिन फिर बीत जायेगा। बोली मेरे देवता यह सजा कब पूरी होगी। बाहर बगल के घरों में पिछले रात कहरवा हो रहा था। एक-क्षण के लिए मैंने छत पर से झाँक कर देखा था। कहारों की बस्ती तुम भूल नहीं गये होगे। वह नाच, वह ढफ, वह मजीरे!

एक कहारिन कजरारी आँखें, दाँतों में मिस्सी और झनझनाती पायलों और खनखनाते चाँदी के जेवरों से लदी गा रही थी :

सखी पियवा छायेला परदेश।

मैं अपने कलेजे में उठती हूक को पी न सकी। फौरन पलट पड़ी। पर ढोल और मजीरे की भाषा कान में रूई-कपड़े ठूँस कर नहीं रोकी जा सकती। वह तो अनादि स्वर हैं, जो शाश्वत हैं! अनायास ही मन की धुन पर बाद के बोल पूरे होने लगे—

दिनवाँ बीते सखि तोहें संग,
रतिया तो कतल कर जाये,
सखि पियवा छायेला परदेश।

झाँझ की झनझनाहट रोम-रोंम कंपकंपा गयी, मेरे देवता।

इसके वाद कहने के लिए और क्या रह जाता है, वोलो ! मन की हर कड़ी मैंने खोल कर रख दीं है। शायद इससे अधिक कुछ बचा नहीं है। कहाँ हो ? कैसे हो ? कब आओगे ?

हर घड़ी तुम्हारे आने की बाट जोहती रहती हूँ। सोचती रहती हूँ। कब मंगला बनूँगी मैं ! कब वाम अंग पड़केंगे मेरे ! कब जाओगे तुम ?

--:०:--

पंडा बैजनाथ

'कोई ख़त आया ?' 'कोई चिट्ठी आयी ?' 'कोई समाचार आया ?'

हुँ हुँ। जैसन उह खत-चिट्ठी देवै के लिए दग़ा कर के गै रहा ! — जेहका देखौ। वही जब तब चला आवत है चोंचला दिखावै का, जैसन इहै दिन के लिए लोग आसरा लगाये बैठल रहें। अजी मैं कहता हूँ बेटा बाप को दगा नहीं देई, तो का गाँव वालन का दगा दइहै ! पंचो को दगा देइहै ! जैसेन दस को फेंक आवा, वैसे एक ग्यारहवाँ भी चला गा। चला जान देव ससुर का। नीक भा, एक लोटा भंग ज्यादे पिये को मिला। हमका का परवाह है। यहाँ होता तौन देख-भाल ही करैं पड़त। जुखाम-खाँसी की दवा लेवै के पड़त। कौनों से कमजोर थोड़ी है जौन ओहकै लिए रोऊँ। बाप का दिल ऊ सारा का जानै। इह सीनाँ माँ दिल नहीं पत्थर है, पत्थर !

इह सब हम पट्टीदारों के सामनवँ पास-पड़ोसियों के सामनव बक जात हैं। नौकरों के सामनवँ चीखत रहत हूँ। गाली बकत हूँ। पर का सचमुच माँ बैजू तुम्हार दिल माँ पत्थर अहै ? एकौ कतरा बाप कै खून नाहीं ! जरा ठंडे से सोचो। और का मैं गरम हूँ। नहीं, ठंडे दिल से सोचित हूँ।

मन अपने मन से बात करि रहा है। लागत है एक नंगा मनई शीशे के समनवै खड़ा है। शरम लागती है अपने का नंगे देख के। मोटी बुद्धी है न तोहार बैजू। खोट तेरे लरिका माँ नहीं। तुम्हारै माँ हैं। भाग्य फूटे होते हैं ऊ बापके जिनके लरिका घर छोड़ के भाग जात हैं, दगा दे जात हैं, मरि जात हैं।

ईश्वर के मरजी पर केहका बिसात। जौन मंजूर होत है ओहका वही होत है। फुन सोचित है नाही बैजू आपन करनी काहे का ससुर भगवान के सिर थोपत हव।

हम कौन खराब काम कीन। जैसन ओहकर महतारी चाहिस पढ़ाइस-लिखाइस। महतारी मरि गै छोड़ गई मोहका रोवै का लिहें। ऊ चलि गँ परदेस। नाहीं जानिन की बाप कै करेजवा जराई। इहाँ रहें तो जरा भूर पिराये कि डाक्टर लगा दौरौ और उहाँ दरि दरि भटकत होइ हैं। टको का कौनो न पूछत होई।

छाती फुलाय के लोग आवत हैं। हमदर्दी दिखाव्रत हैं। पूछत हैं-- कितना रुपया लैगै। हम का बताई। कभौं रुपया, पैसन का हिसाब किहै हौत तौनौ जानित।

लोग समझत हैं हम अक्किल का मोह मनई अही। अजी हम कहत हैं गिटिर-पिटिर नाहीं बोलित पुन साफ-साफ तौ बोलि साकत है। करिया आखर भैंस बराबर नाहीं है हमरे लिए।

और सुनौ—जौन दिना जाये का रहा--सब सदी-वदी रही मुहल्ले वालन से। हम खूब जानित है। काहे का पहिलै कबौ हमरे पास नाहीं

फरिकत रहें। हम तो कहत रहे—बाप ! बस उधारै का बाप हैं हम ! नाम कै बाप हौं । हम का जानी लड़िका-बेटवा कै सुख । हाँ आँख देख के जुड़ाय जात रहे-हमार बेटवा अहै । हैं तो और पट्टीदार के बेटवा ! सारे एकौ पसंगा बराबर नाहीं आहके । न रहें पाँच-दस एकै सही सारी कभी पूरी रही । कौनो ई तो न कहै वाला रहा कि निपूता है । तौनो ओहू आपन किनारा काट लिखिन । ई है पढ़ाई का सुफल । रनियाँ की बदौलत ई दिन देखे पड़ा ।

हम अपना लाइन पर ढाले होइत और सरवा निकल जात ई तरह, तो देख लेइत । बाप दादन के पाट्टी छोड़ै का फल यही तो होई, बैजू ! कौआ चला हंस की चाल और फुर्र से उड़िगा । इन सारन पट्टीदारन का कही । एक एक का गंड़ासा लै काट डारौं, दैजरा कै नाती बार-बार कौनौ-न-कौनो का भेज देते हैं । हाल-चाल पूछै का । अरे सरवा हिंदुस्तानै में तो है उफ्फ़र न परिगा । भला होत इसाई होय जात विलायत भाग जात । अरे बाप का नाम उजागर करत । निपूती रहत मोर रानी । बाँझ रहत तौन भला नाहीं होत का । बैजू, बार-बार आँख काहे भरि आवत है । मैं कहै देत हौं, काहें का रोवत हव । अबे चला गा तो चला जाय दीय सरेका । चाल तो देखौं जौन दिन जाय का रहा तो कैसन चोचला दिखावै आये रहा । हम सीध मनई का जानी । समझा, पलटा दिन तोहार बैजू । दिन भर मोरे साथ लगा रहा । जिजमान के आगे-पीछे ऊ सब का आज्ञाकारी बनके घूमा कि जिव ठंडा होई गा । हमका जानी कि एहिकर पीछे चाल अहै । ऊ दिन साँझ का खुद भाँग घोटिस अपने पिहिस हमका पिलाइस । हमका जानित रहे ई सब बिदाई करै का लच्छन अहै । कल सबेरे पाइन चले जाय वाले हैं । चला गै ससुरा । समझ लेब मरिगा । जब गै तो गै सही । उफ्फ़र परै । खाये ठोकर दरि-दरि कै हमका करी ।

—:०:—

निर्मल

मुझसे न पूछा था उसने, न ही मुझसे बातें की थीं। बातें बहुत करता था; लेकिन दिल में इतना बड़ा चोर है यह मैं नहीं जान सका।

मतलब !

असफल रहा।

लोग ताने देते हैं—तुम उसके दोस्त थे।

इस लाँछन से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन दोस्त का मतलब तो यह नहीं कि वह सब किये-धरे का लेखा-जोखा मेरे पास सहेज रखता था। जरा गलत तरह से बात कह गया। फिर दोहरा दूँ। हर पाई-रत्ती बात तो वह मेरे पास कह जाता था; लेकिन उसने इतना बड़ा निश्चय कैसे कर डाला ! मैं जान नहीं सका।

उसके बाबू ने एक दिन मुझे अकेले बुलाया था। मैं कई दिनों से इसकी राह देख रहा था। मैं जानता था यह आफत आने ही वाली है। उसका बाप चाहे कुछ भी हो किसी का विश्वास न करे, पर मेरा कर लेता है। बड़ा आसरा लगा कर वह सामने खड़ा था। उम्र में मेरे बाबा के बराबर होगा, सच है उम्र के लिहाज से ही सिर झुक जाता है।

वह खाली आँखों से कुछ देर तक मेरी ओर घूरता रहा। जो कुछ होनेवाला था वह मैं भाँप चुका था, इसलिए तैयार खड़ा था।

जब तक वह कुछ कहे-खुले कि मन न जाने कहाँ-कहाँ उड़ गया। उस दिन की बात याद हो आई। राजू जबरन उलझ रहा था।

बहुत चतुर है वह सृष्टि, स्थिति, लय का पेशा करनेवाला चिर तरुण परम सुन्दर, बहुत ही चतुर, अत्यन्त कौशली ! गरीब के घर की छत वर्षा से गिरा देता है, भक्त-वत्सल के मार्ग में काँट बिछा देता है; माँ के एकलौते को ज़िबह करने में उसे कलख नहीं आती। गर्वोन्मत्त लोगों के

हाथों में राज-दण्ड सौंप कर वह शान्ति की नींद सोता है। पापाचारियों के हाथ में विजय पताका सौंप कर वह लोभियों को शरणागत करता है। पल्ला पकड़ कर चलनेवालों से खुश रहता है। क्यों?

क्यों? का उत्तर खोजने के लिए पुनः वेद और पुराणों के चक्कर में जाना था। न जाने कौन-सी वह बात थी, जिसका उत्तर उसे चाहिए था। और उत्तर सुनने के लिए प्रश्नपूर्ण नेत्रों से एक बाप मेरे सामने खड़ा था और मैं उसी ईश्वर की शरण खोजता हुआ छटपटा रहा था।

'राजू! ..चला गया।'

'जानता हूँ।'

'कहाँ गया यह भी जानते होगे?'

'मुझसे... (मैं हकलाया) नहीं...मैं नहीं...(यह मेरी अपनी कोई चोरी नहीं थी। हकला मैं घबराहट में रहा था)...उसने मुझसे कुछ नहीं कहा।'

'मुझे बतलाय दो।'

'मैं जानता ही नहीं, बाबू जी!'

जैसे उसकी नाव एक अदृश्य चट्टान से टकरा कर चूर हो गयी थी। जिस आखिरी सहारे पर उसकी नींव टिकी थी, उससे भी उसे धोखा ही मिला था। वह चट्टान की तरह बुत एकबारगी पास खड़े तखत पर बैठ गया था। सूजे की तरह पैनी आँखें जमीन में धँसी जा रही थीं। मैं वैसे ही चुप खड़ा देख रहा था।

पहलवानी और कसरत में रद्दा खाई हुई वह मोटी गरदन और चौड़े कंधों का भार! टूटे हुए कान और चमकती हुई खोपड़ी! थकान से चूर, हारा हुआ कोई जानवर इस तरह बैठा था कि जोर-जोर साँस भरने में निहाल हो रहा हो, लाचार रहा हो!

दिल अपने आपको धिक्कार रहा था। याद आ रहा था स्कूल का वह दिन, जब मैं राजू से मार-पीट कर बैठा था।

'आ, ले और ले---'चीखता हुआ मैं उससे गुथ गया था। कस-कस कर मुझ पर मुक्केबाजी कर रहा था। काश इस समय उसका मुझे कहीं पता होता, तो उस दिन की तरह फिर मुक्कों से उसे ठोंकता हुआ घसीट लाता और इस जानवर के आगे डाल देता--'यह है तेरा बेटा!'

मैं बहुत देर तक वैसे ही खड़ा रहा। उसे देख कर मेरे विचार भटक रहे थे। वह वैसे ही बुझा-बुझा बैठा रहा।

इसके बाप को, राजू के बाबा को देखा नहीं; पर सुना बहुत कुछ है। उस कमरे में तसवीर टंगी है। कभी-कभी राजू से बातें करते हुए मैं कई क्षणों तक एक टक उस तसवीर को देखता रहा हूँ। शेर की तरह प्रज्वलित आँखें, हाथी की तरह गर्वोन्नत माथा; अंगरखे, पगड़ी और दुपट्टे में किसी अच्छे खासे रजवाड़े की तरह लगते हैं वह। राजू जब भी मूड में होता, तो वह उनके सम्बन्ध मे तरह-तरह की कहानियाँ सुनाया करता था।

उसने इस बाबा की गोद में जीवन बिताया है। वह ज़माना देखा है उसने जब बाबा आराम-कुर्सी पर विलायती साहब की तरह टाँगे फैलाये फर्शी की नली मुँह में लगाये उसे गुड़गुड़ाया करते थे। बातों के बीच वह फर्राटे की फ़ारसी बोलते थे कि अच्छे-अच्छे मौलाना पानी भरें।

राजू बताया करता था (अब नहीं, बहुत पहले बचपने में) बाबा के पास पैसे की खान थी। महाराज बरदवान जब अपने बाप के फूल लेकर आये, तो उन्हें भी अपना महल छोड़ कर (महाराजा बरदवान की कोठी थी कम्पनी बाग के पीछे) इस हवेली के बाहर बनी कोठरी में एक रात बितानी पड़ी थी। कभी बाबा ने जिजमान का पानी नहीं भरा, हाँ-हजूरी नहीं की। वह अपनी आन और शान के आगे राजे-रजवाड़े तो क्या, लाट-गवर्नर को भी नहीं गिनते थे। पुजापा करने के

लिए पाई-धेले को घिघियाते नहीं थे। राजू के मुण्डन पर तीन डेरे का नाच इसी आँगन में हुआ था। पंडा श्यामलाल की हवेली शहर ऊपर थी। दिन-रात सदावरत बटता था। माघ मेले में त्रिवेणी क्षेत्र पर जितने वड़े हाते में उनकी कुटिया पड़ती थी, शायद उनके वरावर दूसरा कोई हाता नहीं होता था। एक बार होड़ लग गयी था 'काली कमली' वाले बाबा के प्रतिनिधियों से। पूरे महीने हन्तुआ और भोज वटा (यह वह जमाना था जब डालडा बनाने की मशीन नहीं निकली थी)। क्या जात, क्या परजात कोई रोक नहीं, कोई पूछनेवाला नहीं, कौन क्या खाता है कितना खाता है, किसी को परवाह नहीं। सभी को भर-पेट अन्न मिला। हर जगह वाह-वाह रही!

बाबा का एक ही कौल था—खाने-खिलाने से धन नहीं घटता। उनके ज़माने में खर्च का कभी हिसाब नहीं हुआ। सब गंगा मैया का है—बाबा कहा करते थे। तीन-तीन हाथी झूलते थे इस गली के बाहर और नौकर-चाकर जो भी नाम लेता आ पहुँचता, वही टहल करने में जुट जाता। खाने को मिलता है बेहिचक और क्या चाहिए! जड़ावर, कपड़े सभी कुछ समय से मिल जायेगा। उस द्वार से कोई खाली नहीं लौटा।

यही वह ज़माना था, जब रऊफ मियाँ के बाप इक्के हाँका करते थे। लग्गा पहलवान शहर में उचक्के गिने जाते थे और टाँगा हाँक कर दो-चार सवारी ले आते और मजे से पड़े रहते पंडों के दुआरे। गाँजा चिलम, भाँग-धतूरे की क्या कमी थी? सात-सात किता मकान थे, वाग थे। सब जिजमानों के दिये हुए।

पर बाबा के मरते ही दुनिया वदल गयी। बदलती तो वह कुछ पहले से ही जा रही थी। पर हाथी मर कर भी सात लाख का बिकता है। वाप के गुण लड़के में औगुण वन कर आते हैं। जो बाप नहीं करता, वह बेटा करता है। जो कभी रिवाज था वह व्यसन होता जाता है। ज़रा से पुण्य के चारों ओर पाप रहने लगता है। पुण्य संचित किया

जाता है, पर पाप की बेल नहीं लगानी पड़ती। वह तो अमरबेल है, जो अपने आप छाती-बढ़ती चली जाती है। एक पाप बड़े पाप को खाता है। छोटा पाप बड़े पाप को जन्म देता है।

मैं नहीं जानता था, मेरी समझ में नहीं आ रहा था किस तरह इस बाप से कह दूँ, तेरा लड़का अगर गया है, तो तेरे ही कारण। उसके अन्तर में उठनेवाले विद्रोह के बीज तुम्हारे ही बोये हुए हैं। लेकिन यह शायद बहुत अधिक होता। शायद वह इतनी भारी बात सुनने योग्य नहीं यह गया था; अतः चुप लगा जाना ही अच्छा था मेरे।

सब सुनी और चुप रहा। औंधे घड़े पर पानी की तरह सारी बात टाल कर मैं लौट आया था। उसके बाद जब कभी भी मुहल्ले में, उसके सामने पड़ गया हूँ, उनकी आँखों की भाषा, जैसे मुझे बींध डालती है। जैसे वह मुझे हर क्षण लाँछना देती रहती है। मैं ही उस विष की जड़ हूँ, जिसके कारण उसका लड़का चला गया है। यह आग मेरी लगायी हुई है। मेरी ज़बान उसके लड़के राजू को उससे चुरा रखे है। मेरे सामने पड़ते ही प्रतिहिंसा की शत्-शत् किरणें उसकी आँखों से फूटती हैं। मैं नजरें बचा कर आगे बढ़ जाता हूँ। जैसे मैं ही कातिल हूँ। सब कुछ पाप मेरा ही किया हुआ है। मेरे पास कोई उत्तर नहीं है इस का। मैं बाप नहीं; पर उस सारे दुःखों का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता हूँ।

पर राजू तुम! क्या डर था तुमको, जो इतनी कच्ची गोली तुम मुझसे खेल गये। क्या उत्तर दोगे मेरे प्रश्नों का? तुमने यही सोचा होगा--शायद मैं आड़े आऊँगा, तुम्हारे रास्ते में अड़ंगे डालूँगा। कभी तो ज़िक्र किया होता कि तुम्हारे अन्दर इतना बड़ा ज्वालामुखी पल रहा है। तुम इस तरह पलायन कर, भाग निकलोगे। मैं यही कहता—पलायन कायरपन है। बुद्धू मत बनो। दुनिया ऐसी ही रहेगी।

मुझे टाल देते, मुझे दुत्कार देते। पर यह झूठा बना कर क्यों गये। हाथापाई करने की अवस्था हम लोगों की नहीं रह गयी थी। लेकिन

इसके अर्थ तो यह नहीं कि तुम मुझे अँधेरे में इस तरह रख कर उजाला खोजने चल पड़े। मैं यह नहीं कहता कि इस तरह भटकने से कोई लाभ नहीं। पर यह किया तुमने क्यों ?

तुम अपने को तीसमार खाँ लगाते थे। अब देखोगे बन्नो को, तो स्वयं फूट कर रो पड़ोगे। तुम बहुत-से मामले में अबोध हो फिर औरत का क्या समझोगे। तुमने तो हलदी की गाँठें बदल, किसी के हाथ पीले कर शादी रचा ली, मैंने तो यह भी नहीं किया। लेकिन शादी रचा कर ही तो आदमी अनुभवी नहीं हो जाता। न तुम भावना को जानो, कल्पना से परिचित हो, मैं कहूँगा अभी तो दूध के दाँत ही टूटे हैं तुम्हारे ! अक्कल की बात क्या करोगे। उस औरत को क्या जानोगे जो आधी मानवी, आधी कल्पना है। वह जो पकड़ने चलो तो धुएँ की तरह पकड़ से बाहर हो जाती है। वह कितनी ही अनोखी रासायनिक चीजों का जटिल मिश्रण होती है राज़ ! तनिक-सा जीवित मांस-पिंड हृदय-रस से गुँथा-भीगा इस तरह नाजुक हो उठता है कि उस की स्मृति भर से नशा हो जाता है। वह फुहरन पार कर, लाँघ कर चले जाना, अमानुष ही होना है।

तुम तो चरित्र की बात करते थे। आदर्श की समस्या उठाते थे। फिर यहाँ एक को ठिकाने लगाये बिना इस तरह उड़न-छू हो जाने की बात आयी कैसे तुम्हारे मन में ? क्या मिलेगा यों भटकने में ? कुत्सित औरतों की आँखों के कुतुहल से कैसे बचोगे !

ड़बोगे-डूबोगे, तुम जरूर डूबोगे।

औरतों की उम्र आँकने लायक भी तो अवस्था नहीं हुई तुम्हारी ! चौदह से बयालिस तक की औरतें क्या एक-सी नहीं दिखती तुम्हें ? आँखों के अधकचरे डोरों से उन्हें क्या नाप सकोगे ?

कटाक्ष, निःश्वास, मीठी-हँसी, अदा, इशारों में बात-चीत—यह सब झेल जाना तुम्हारे बस का रोग नहीं था राजू ! फिर क्या करोगे ? जहाँ जाओगे लुट कर ही आओगे।

बन्नो से मिला कई बार हूँ। पर न मिलने के बराबर ही समझो। एक बार बात खोदी थी तो लगा—बहुत-कुछ कह गये हो तुम, बहुत-सी कच्ची बातें। कहनी-अनकहनी सब जड़ गये हो। कोरी बातें पंखा नहीं बन सकतीं कि उनसे पीड़ा को सहलाया जा सके। फिर पति के मित्र की बातें। तुम्हारे रिक्त की पूर्ति मुझसे नहीं संभव। केवल दुःख ही देता हूँ बन्नो को जा कर। जाने से अपने को भी नहीं रोक पाता। जाना ही पड़ता है। जब-जब जाता हूँ तो उसकी आँखों की ओर, उसके वेश की ओर देखने की हिम्मत नहीं होती। वहीं बैठे-बैठे संकल्प करता हूँ। अब नहीं आऊँगा। पर जैसे-जैसे दिन बीतते हैं कि मन अधीर हो उठता है। पैर रुकते नहीं और फिर पहुँच जाता हूँ। दुःख के एक अगम्य सागर के बीच बिना माँझीवाली किश्ता लिए बन्नो को देख रुलाई फूट पड़ती है। इस पाप का प्रायश्चित कहाँ करोगे ?

मेरे मन की नहीं सुनना चाहोगे। विश्वास करो कभी मैंने तु हारे मन में हीन भावना जगाने के लिए कोई बात नहीं कही। बचपन की बातें क्या भुलायीं नहीं जा सकतीं। उस समय, जो कुछ हुआ था, वह अघटनाओं वश ही तो आ घटा। मैं नहीं जानता था कि मेरी बातें इतना अधिक खली हैं तुम्हें। शायद इसीलिए तुम मेरा अधिक-से-अधिक सानिध्य पाने की चेष्टा करते रहे हो।

उस दिन लड़ाई और मार-पीट के बाद तुमने कभी उलझने की कोई बात नहीं की। इतने साल इतने दिन, इतने वर्ष हम लोग साथ रहे; पास-पास रहे, आज अगर उनका रोजनामचा लिखने बैठें, तो शायद कई फुट ऊँची कागज़ों की तह लग जाये। पर ऐसा नहीं जाना था, ऐसा नहीं समझा था, तुम इतना बड़ा दगा दोगे। ऐसी मीठी छुरी इस तरह पीठ पीछे भोंकोगे !

यह सब करके अपने को तुमने कितना बड़ा नालायक साबित किया है। एक-न-एक दिन यह जानने की बात तुम्हारे मन में जबरन उठेगी—

शायद तब बहुत देर जायेगी। तब तुम सोचोगे घर से भाग कर क्या तुमने केवल पलायन नहीं किया? वह मार जो तुम सबके कंधे पर छोड़ गये हो; वह दुःख जो केवल तुम्हारे होने से उठ खड़ा हुआ है—उसका हिसाब कहीं-न-कहीं तो चुकाना ही पड़ेगा, क्योंकि सारे किये का भोग यहीं है। जीवन का पाई-पाई हिसाब यहीं चुकाना पड़ता है।

—:०:—

राजू

अब क्यों नहीं टोकते। तुमने पूछा भी नहीं कुछ। इतना गंभीर बन रह कर इतनी उपेक्षा दे कर क्या चाहते हो कि मैं फिर भाग जाऊँ।

कहाँ चला जाऊँ मैं?

'जाने को कौन कहता है?'—जिस तरह यह शब्द तुमने कहे थे—काश तुमने शीशे में उस क्षण अपना मुँह देखा होता!

तुम्हारी यह चुप्पी! क्या यह मौन किसी भर्त्सना से कम है। अब तो मैं आ गया हूँ। फिर इस तरह...!

सब लुटा कर आये हो—अपनी मर्जी से यह सब किया है तुमने। अब क्या पूछते हो? तुम तो मेरी जिंदा लाश को क्रॉस करके गये थे न...!

मैं बहुत देर से सोच रहा था कि तुम फटोगे तो तुम्हारे कलेजे से चमकता लावा ही निकलेगा, जो मुझे जमा देगा—जड़ बना देगा। मैंने

दौड़ कर तुम्हारे मुँह पर अपनी अँगुलियाँ रख दीं। मैं चाहता था--तुम मेरा हाथ झटक दो। मुझे लानत-मलामत करो। मेरी मरम्मत करो। उसी तरह जैसे कभी बचपन में तुमने धुना था मुझे। मैं मार खाना चाहता हूँ। मेरा शरीर जड़ता से छटपटा रहा है। पर तुम चुप हो! जिस निगाह से देख रहे हो, उसमें अपार दर्द है। मैं उसे बर्दाश्त नहीं कर सकता, 'निर्मल! बस करो--माफ करो!'

और तुम मुझसे लिपट कर रो पड़ते हो।

मैं अपने को रोक नहीं पाता। फिर हम घंटों रोते हैं। मेरा मन मुझे धिक्कार रहा है। कमज़ोर बनने की भर्त्सना कर रहा है। लेकिन मैं जानता हूँ, रोने से हम दोनों हलके हो जायेंगे। तुम इसलिए नहीं रो रहे कि तुम कमज़ोर हो।

माँ इसलिए नहीं रोती थीं कि वह कमजोर थीं, तुम्हें रोता देख कर मुझे माँ की बरबस याद हो आती है। उनको बाबू किस तरह कोसा करते थे। वह सब सुनतीं, सब सहती थीं। मैंने कठिनाई से कभी उन को रोते देखा है।

बाबू! नहीं कह सकता उनसे कब से मैं घृणा करता था। मैं सच बात कहता हूँ। कई बार पहले भी मैं इस बात का जिक्र कर चुका हूँ। उस समय जिक्र बत्तौर बहस होता था। तुम किसी का पक्ष नहीं लेते थे। मेरी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाते थे। मुझे काटते नहीं थे; अतः बहुत-सी बातें मैं स्वयं पी जाता था। सोचता था, तुमसे कह कर म छोटा ही बनूँगा, यह बात दिल पर चोट करती थी। तुम्हारे द्वारा मिली मुझे यह एक ऐसी मार थी कि मैं अंदर-ही-अंदर मरा जा रहा था।

बाबू माँ को मार रहे थे। मैं बाहर बाबा की गोद में था। सुनोगे तो हैरान रह जाओगे। जब भी कोई बहुत भयानक सपना देखता हूँ, तो उस स्वप्न में यही दिखायी पड़ता है।

एक भयानक आकृति का आधा नर, आधा पशु घनघोर जंगल में खड़ा है। मेरे घर की दीवालों पर बड़े-बड़े पेड़ उगे हैं। उसके हाथ में एक आग है। इंद्र के वज्र-सी दिखती है वह ! माँ के बाल को पकड़ कर घसीटता हुआ वह पीट रहा है। आकाश में बिजली है। जोरों की आँधी है, वर्षा है--मैं एक पेड़ के नीचे दुबका खड़ा हूँ। काँप रहा हूँ।

शायद पहली बार वह माँ की चीख का हल्ला मैंने घर में सुना था। फिर वैसी चीखें कितनी ही सुनी मैंने। सब लोग चकरा उठे थे। बाबा के साथ-साथ मैं भी अंदर गया था। अंदर कोठा था और बाबा के मना करते-करते भी बाबू ने माँ के मुँह पर तमाचा जड़ दिया था। माँ के दाँत ओठ में गड़ गये थे। भल्ल से खून उनके मुँह से उछल आया था।

बुद-बुद करता हुआ लाल-लाल खून !

मुझे उस दृश्य का एक-एक पल याद है। रोशनी कितनी थी, अँधेरा कितना था। कोठे में लाल किनारे की धोती किस तरह खूँटी पर टंगी थी, कितनी अव्यवस्थित नीचे लटक रही थी।

काले बक्स कितने बड़े थे। कौन-सी पेटी पर क्या सामान था। कहाँ गेहूँ पछोरने का सूप टँगा था, कहाँ टूटी लालटेन थी; माँ कैसे खड़ी थी ! उन्होंने अपने ससुर को देख कर (उस समय मैं, बाबा माँ के ससुर होते हैं, नहीं जानता था) किस तरह मुँह ढँक लिया था। किस तरह पिछौड़ी फेर कर वह बैठ गयी थीं। मैं अंदर-ही-अंदर भभक उठा था। सोच सकते हो, तो कल्पना करो माँ को पिटते देख कर मन में क्या-क्या नहीं आयेगा !

एक घटना बताऊँ। माँ की बात पर याद आ गयी। पड़ोस में एक लड़का रहता था। पता नहीं अब कहाँ चला गया। नाम था रामअधीन। बाप बचपन से ही नहीं थे। माँ का दुलारा था। बेचारी माँ दिन भर दूसरों के घर में काम करती, दो-चार पैसे में गुजर-बसर करती। साहब-जादा लाटसाहब था। बेचारी माँ कभी कोई काम करने को नहीं कहती

थी उससे। लेकिन आये दिन लाडले बेटे से किट-फिट मची ही रहती थी। एक दिन न जाने क्या कर रहा था वह कि माँ बोली--'बेटा सब्जी ले आ न। कुछ और नहीं है आज--पकाने को।'

साहबजादे ने झट ना कह दी।

माँ को भी क्रोध आ गया। वह भी जिद्द पकड़ बैठा। पर माँ की जिद्द बुजुर्ग जिद थी। मजबूरन जाना पड़ा बेटे का। लेकिन रास्ते में न जाने क्या फितूर सवार हुआ। वह सोच बैठा--रोज-रोज माँ किट-किट करती है। न रहे बाँस न बजै बाँसुरी। मर जाऊँ कहीं दब-कट करके कि किस्सा ही खत्म हो जाये। लड़कबुद्धि थी। सामने से एक भरा टाँगा आ रहा था। बिन सोचे-समझे वह उसी की तरफ बढ़ने लगा।

फल जानते हो क्या हुआ ? मेरी बात पर तुम सीधे से कह गये थे--मर गया होगा। और तुमने आश्चर्य किया था यह सुन कर कि वह मरा नहीं टाँगेवाला होशियार था। लड़के को हौलू समझ कर दूर से ही चिल्लाता आया--'हटो, बचो !'

पर जो सिर पर कफन बाँध कर चला हो वह हटने-बचनेवाला थोड़े ही होता है। वह अंधाधुंध बढ़ता ही गया।

पास आते-आते टाँगेवाले ने कस कर घोड़ की रास खींची। घोड़ा जहाँ-का-तहाँ सामने के दोनो पैर उठा कर खड़ा हो गया। टाँगेवाला भी औघड़ था। कई मोटी गालियाँ देता हुआ बोला--'साले तेरी माँ को... अंधा हुआ है। मरने से...!'

देखता क्या हूँ। लड़के ने माँ का नाम सुनते ही पास पड़ा एक पत्थर उठाया और लपक कर लोगों के मना करते-करते भी, जो खींच कर मारा, तो टाँगेवाला बिल-बिला कर रह गया।

इस किस्से पर तुमने बहस की थी। पर मुझे वह दृश्य याद आ रहा था। जिसे मैं तुम्हें सुना कर लज्जित नहीं होना चाहता था। जब ससुर

की आवाज सुनते ही एकदम से माँ की चीख गले में ही छुट गयी थी ! और भल्ल से वह आये खन को विना पीछे ही घूम कर बैठ गयी थीं !

सोचो मेरे दिल पर क्या बीती थी--उस समय । मैं क्या कर डालना चाहता था--क्या किया था मैंने !

बावू ! इस घटना के भूल जाने के वाद, जिन्हें उसी प्यार से फिर बावू कहता फिरता था। वह माँ को गालियाँ दे रहे थे--'निगोड़ी धंधड़ा करती है । सुआंग रचती है...!'

मेरी समझ में नहीं आता औरत क्या धंधड़ा करेगी और फिर उस घर में, जिस की हर ईंट पर पाप के हस्ताक्षर हैं। बोतल भर लालपानी पी कर, बुर्राक कुर्त्ता और तेज खुशबूवाले अतर लगा कर जब बावू उस खुले गहरेबाज इक्के पर चले जाते थे, तब मैं क्या-क्या सोचता था ।

फिर रात में वह भयानक सपने देखता रहा । वे सपने जिसमें कोई मेरी माँ को मारता और मैं पेड़ की जड़ में खड़ा देखता रहता हूँ ।

फिर उस सपनों की पुनरावृत्ति धीरे-धीरे कम हो गयी । शायद कभी साल-छः महीने में वे सपने मुझे आते रहे । और एक बार जब वैसा सपना आया तब मेरे गौने की बात तेजी से चल रही थी। पता नहीं वह कौन-सी रात थी, तब अपने बहुत भयानक रूप में आया था ।

क्या तुम्हें याद है--तुमने दूसरे दिन कितनी बार पूछा था--इस तरह उदास क्यों हो ? क्या हुआ है ? पर वह मेरी कमजोरी थी । मानव कमजोरी। मैं तुमसे लाख चाहते हुए कह नहीं पाया था कि उस सपने में तुम भी आये थे । माँ को मरे कई बरस हो चुके थे । लेकिन बचपन का वह सपना वैसा ही आया था---उसी तरह का जंगल, वैसा ही तूफान, वैसा ही पानी, वैसा ही घर ! वैसा ही वज्र लिये आधा पशु-आधा दानव ! वाल पकड़ घसीटता हुआ वह आदमी माँ को मार रहा था। मैं पेड़ के नीचे खड़ा था, तुम्हारे गले में मेरी बाहें थीं । हम दोनों कांप रहे थे। तुम

मुझे समझा रहे थे, साँत्वना दे रहे। पता नहीं क्या-क्या कह रहे थे। फिर खून ! माँ के मुँह से खून––मैं चीख रहा था एकाएक जोर से डर कर मैंने अपना चेहरा तुम्हारे सीने में छिपा दिया। तुमने पूरी तरह मुझे कस लिया था। मुझे पुचकारते हुए तुम मेरे माथे को सहला रहे थे। मुझे ठीक याद है वह तुम्हारा ही हाथ था। फिर मैंने सिर उठाया तो वह हाथ बदल गया था। वह माँ का हाथ था। उनके नग्न खुले स्तन मेरे मुँह पर टकोर भर रहे थे। और न जाने कब वे मेरे मुँह में पहुँच गये थे। मैं बालक नहीं था, फिर भी दोनों हाथ से माँ के स्तन मुँह में रखे आनंदित हो रहा था। माँ मुझे चूम रही थीं। सहला रही थीं। उनके शरीर पर कपड़ा नहीं था। फिर भी कहीं कोई शर्म नहीं थी। मैं उनके शरीर से एकदम चिपटा था। इस अवस्था में भी बालक-सा आनंदित-हिलोरित। मैं खेल रहा था।

तभी माँ की दूसरी छाती से दूध बहने लगा। मेरे पाँच भाई मर चुके हैं। मेरी पाँच बहनें मर चुकी हैं। उस दूध की धार से नदी बन गयी है। वह दसों छोटे-छोटे बालक बालिकायें उनमें बिलबिला रहे हैं। मैं संकोच कर रहा हूँ। उनकी सूरत तक मुझे याद नहीं थी, फिर भी लग रहा था यह सब मेरे भाई है, बहिनें हैं। लेकिन उनके चिल्लाने पर मेरा ध्यान नहीं है। आनन्द-विह्वल जोर से चीखता हूँ माँ ! मेरी नींद खुल जाती है अपने-आप। लगता है जैसे तुम मुझे जगा कर चले गये हो।

मैं उठ कर बैठ गया हूँ। मेरा जीवन का यह पहला दुखद अनुभव है। मैं न जाने क्या-क्या सोच रहा हूँ। अंदर-ही-अंदर अपने को बहुत ही अस्वस्थ, युग-युग का बीमार अनुभव कर रहा हूँ। मैं बैठा हूँ। रात का पिछला पहर है। बाहर यात्रियों की कोठरियों में जगह हो चुकी है। गंगा-स्नान को जानेवाले तैयार हो रहे हैं। कहीं पड़ोस के गोपाल मंदिर में भोर की आरती हो रही है। मैं अपने-आप में अंदर-ही-अंदर उफनते समुद्र की तरह मथा जा रहा हूँ। बीमार हूँ, बहुत बीमार हूँ। जैसे यह

बात मुझे मसल रही है, नोच रही है । कोई अंदर-ही-अंदर रिरिया रहा है ।

तुम मिले, दिन भर पूछते रहे । मैं जबान नहीं खोल सका । काफी पूछने पर भी मैं अपने मन की गाँठें नहीं खोल सका । मैं केवल इतना कह पाया था, आज भी मुझे याद है !—'मैं अंदर से अच्छा नहीं अनुभव कर रहा । लगता है जैसे बहुत बीमार हूँ, किसी डाक्टर को दिखाऊँगा ।'

फिर तुमने बीमारी पर एक वड़ा-सा लेक्चर दिया था, जोकि मुझे वहुत खराव लगा था । फिर भी मैं तुमको रोक नहीं पाया था ।

यह हमारी बी० ए० की पढ़ाई का साल है । वाबू ने पिछले कई दिनों से यह रट लगा रखी है कि पढ़ाई से कुछ नहीं होनेवाला । जिजमानों का आना हो गया है। कुछ देख-रेख करो, गंगाजी जाया करो वरना एक दिन वह आयेगा कि घर में चूल्हे पर रोटी नहीं होगी ।

वाबू ! वह जब विगड़ते हैं, तो बैठकर फरसा साफ करने लगते हैं । घर में तीस जने का खाना एक जून पकता है । चाचा के लड़के हैं, चाची हैं, बुआ हैं, कौन नहीं है घर में ! सभी मिल-जुलकर काम देखते हैं । सोचता हूँ मेरे अकेले काम न देखने से क्या हर्ज हो जायेगा ? लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं है। लगता है, जैसे मैं उनकी विरासत में हिस्सा बटा रहा हूँ । बैठे-ठल्ले खा रहा हूँ ।

उनका शरीर शिथिल पड़ रहा है। अब वह उस तेजी से हुमक कर नहीं उठ पाते, उस अकड़ से नहीं चल पाते, जैसे कि जवानी के आलम में चलते थे । लटका हुआ शरीर होने के कारण ही शायद उन्हें गुस्सा अधिक आता है। मैं समझ नहीं पाता हूँ मुझे इस तरह देखते ही वह तमतमा क्यों जाते हैं ! जैसे जड़-मूल से वह मुझसे कुछ कहना चाहते हैं । लेकिन न जाने कौन-से कारण हैं, जिनके कारण उनके मुँह पर ताला पड़ जाता है । उनकी खिजलाहट, उनका क्रोध छिपा नहीं है मुझसे ।

मैं शाम को युनिवर्सिटी से लौटा हूँ। सायकिल झटके से ला कर गली के बाहर अपनी हवेली की ढलान पर रोकता हूँ। वह मेरी हमेशा की आदत है। यहीं इसी जगह से सायकिल पर बैठता हूँ, फिर गली में चाहे जितनी अड़चन हो, कितना भी धीरे क्यों न चलाना पड़े, मैं ब्रह्मा के चाहने से भी नीचे नहीं उतरता। उतरता हूँ तो युनिवर्सिटी में सायकिल स्टैंड पर या घर में इस फाटक की ढलान पर !

अभी चार का समय नहीं हुआ है। दक्खिन की गाड़ी साढ़े पाँच, पौने छः पर जाती है। यात्री विदा की तैयारी कर रहे हैं; सब गठरी-मोटरी बाँध कर तैयारी कर चुके। विदा के समय एक प्रथा होती है। जिजमान औरत हो या मर्द, सभी पंडा महाराज से अंतिम भेंट लेते हैं, गले मिलते हैं, पैर छूते हैं। कठौती में पैर रख कर पंडा महाराज के पैर धोते हैं। भेंट की चढ़ौती उसमें डालते हैं। आशीर्वाद पाते हैं—फलने-फूलने की, सौभाग्य की, धन-धान्य की; इस आशीष से वे फूल उठते हैं। खूब गद्-गद् हो विदा होते हैं।

हमेशा की तरह मैं सायकिल लेकर आया हूँ और झटके से अभी-अभी देहली पर पैर टेकी ही है कि सामने चौतरे पर बाबू खड़े हैं ! एक अधेड़ उमर की भरी-पूरी औरत है—गदराई हुई ! कसी चोली है। नीचे से मुझे वह एक ऐसे कोण पर खड़ी पंडा महाराज से भेंट करती, गले मिलती दिख जाती है कि मैं झुँझला पड़ता हूँ। महाराज की (बात तीखी कह रहा हूँ क्षमा करेंगे) जितनी ताकत है, उससे वह उसे अपने शरीर से लगा लेते हैं, जितना कस सकते हैं कसते हैं। मुँह से उनके सुफल के बोल निकल रहे हैं, मन कहीं और अटक रहा है। आत्मा कहीं और है तथा शब्द कहीं और, शरीर कहीं और है। तनिक-से पुण्य के चारों ओर पाप चल रहा है। झटके से भरी सायकिल रुकती है। चेन-कवर से चेन टकरा कर खड़खड़ाहट होती है। सायकिल चौतरे से टकराते-टकराते बच जाती है।

मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। औरत छूटने के लिए परवस कसमसा कर रह गयी है। मैं जवान हूँ। इन सारी उत्कंठाओं से शारीरिक नहीं तो मानसिक रूप से तो परिचित हूँ ही।

मेरी आँखें बाप की आँखों से टकरा जाती हैं। कितना बड़ा चोर बैठा है उन आँखों में। हड़बड़ा कर मंत्र जाप करते हुए वह कसन ढीली कर देते हैं। गुड़मुड़ा कर औरत उन का पैर छूने को झुकती है।

कमजोर शरीर से, काँपते नथुनों से उत्तेजना की चिंगारी स्पष्ट फूटती है। बाबू देख चुके हैं कि मैंने भाँप लिया है। वह अनदेखा कर दूसरे बूढ़े से भेंट रहे हैं जल्दी-जल्दी। मैं सायकिल झटके-से ऊपर ले जा रहा हूँ। क्रोध से मेरा शरीर काँप रहा है। जितना संभव है, उतनी जोर से सायकिल पटक कर अपने कमरे में झपट कर आ जाता हूँ। मैं गुस्सा हो उठा हूँ, बापू भाँप गये हैं।

भेंट की यह प्रथा क्यों चली थी ? मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। इस प्रश्न का श्रद्धा, स्नेह, प्रेम इसके मूल में क्या था—मालूम नहीं। भेंट मेरे बाबा भी लेते थे। पर वहाँ उनके मन का पशु भी क्या कभी हावी नहीं हो जाता होगा, इसी तरह मेरी आँखों के सामने वह औरत, जिसकी अवस्था चौदह से चौवालिस कुछ भी हो सकती है--नाच जाती है। उसका शरीर घूम जाता है। उसकी बल खाती कसमसाहट आँखों में गड़ रही है। काश वहाँ कोई मेरी बाप की जगह और होता, तब ! तब क्या मैं बिना हाथा-पाई किये ऐसे ही लौट आता।

मेरा मन मुझे धिक्कार रहा है, तुम कायर हो ! कायर हो !! कायर हो !!!

क्रोध का एक बुखार होता है जब वह मन पर छा जाता है, तो विवेक कुंठित हो जाता है। मन की यह नग्न लोलुपता मैं पहली ही बार नहीं देखी। मैं अपने मन पर हावी हूँ—होना चाहता हूँ। मेरी परीक्षा के के दिन हैं। मुझे बहुत पढ़ना है। आजकल मेरा वह दोस्त निर्मल भी

नहीं दिखता ! उससे कहने का यह अच्छा मसाला है। कहूँगा, एक दिन, जरूर कहूँगा। खूब पूछूँगा। देखूँगा क्या मेरा ही यह अज्ञान है या और सभी इसी तरह सोचते जाते हैं।

मैं सोचता जाता हूँ ।

बहुत पढ़ना है मुझे !

पूरा ओथेलो है कोर्स में।

मुझे इसका वह अंतिम दृश्य याद आ रहा है। जब उस रात नायक नायिका के शयन-कक्ष में चिंतित हो प्रवेश करता है—इट इज ए कॉज़ ! मैं बड़बड़ा उठता हूँ।

नायक चिंतन से उतप्त क्षणों में जीवन की उन कोमल भावनाओं को याद करता है, जो युगल प्रेमियों को ही सुलभ होती हैं। वह सोयी पड़ी प्रेमिका के पलंग के पास पहुँच उस का चुम्बन लेता है। एक बार, दो बार, तीन बार, आखिरी बार और उस को निर्दोष कहता है। अपने को दोषरहित बताता है। प्रेमिका अंगड़ाई ले कर जागती है। प्रेमी का नाम ले कर पुकारती है, तो वह उसे कलंकिनी कहता है। धोखेबाज कहता है; क्योंकि वह उसका रूमाल, उसकी प्रेम की भेंट कहीं और छोड़ आयी है !

प्रेमिका सफाई पेश करती है, पर वह पहले से ही निश्चय कर आया है। वह प्रेम को कलंकित होते नहीं देख सकता। जिसके पास वह रूमाल है, उसने स्वयं स्वीकार कर लिया है कि नायिका उसे वह रूमाल प्रेम की भेंट के रूप में दे गयी है। इसका प्रायश्चित करना होगा। अपने प्यार का, मासूम प्यार का गला वह अपने हाथों से घोट देता है और फिर जब प्रेमिका मर चुकी तो उसके जीने से क्या फ़ायदा ? वह स्वयं भी आत्म-हत्या कर डालता है। वहीं पलंग के पास, अपनी कटार से बिंधा उस का शरीर प्रेमिका के शरीर के ऊपर पड़ा है।

एक नारी शरीर के ऊपर एक पुरुष शरीर ! जीवन की यही गति है। जैसे मैं अपने से बाहर, अपने से बहुत दूर चल पड़ा हूँ।

शंका, भय, निर्वाण-पर-निर्वाण का यह रूप बहुत पुराना पड़ गया है। लेकिन शंका शाश्वत है। भय अनादिकाल से आज भी उसी तरह चिरयुवा है। इस भय को ही मिटाने के लिए धर्म की टट्टी खड़ी की जाती है। अगर दिलासा ही मुक्ति है, तो वह बहुत सस्ती है। कहा भी है—'मन चंगा, तो कठौती में गंगा !'

फिर भी सब जान कर सब समझ कर भी काठके कठघरे में उलझते चले आते हैं यह पुण्य इकट्ठा करनेवाले तीर्थयात्री मन का उल्लू बेचने। समझ में नहीं आता प्राचीन के उत्तराधिकारी हैं पर पुरातन के हाथों क्यों बिकते हैं? अपना भावी सोचते, पुरखों को तारने चले आते हैं। जिन पैसों से खेती के नये प्रयोग हो सकते थे, नये साधन उपलब्ध हो सकते थे, नया देश बन सकता था, उनसे वह स्वर्ग की सीढ़ी खरीदने आ धमकते हैं। मैं ओथेलो पढ़ता हूँ। गंदगी से भागना चाहता हूँ। अपने पाप से मुक्ति पाना चाहता हूँ। रातों में स्वप्न देखता हूँ। बीमारी की दवा है, बीमार मन की नहीं ! क्या मैं स्वस्थ हो सकता हूँ?

—:o:—

पंडा नर्बदा प्रसाद

बैजू भैया को नाहीं जानते हो—ऊ हमारे बड़ा भाई हैं। हम छोट भाई। एक नर्बदा हम और दूसर सूरज ! बैजू भैया कै टहल करि कै

काट दीन जिंदगी ! वैजू भैया बाप के समान हैं, बड़े अहैं । उनके और हमरे बीच में तीन भाई और एक बहिन रहें, जौन गुजर गैं। बड़ा घरि अहै, बड़ा कुरमा । भैया का लै दै कै ग्यारह में एक है। पढ़ि-लिखि कै साहब बाबू बन जहि हैं। हमरे कोई नाहीं। न आगे नाथ, न पीछे पगहा । खाय-पियै मौज करित है। भैया कै एक हैं, तौन ऊ एकै से ही रोत हैं, परेशान हैं। सच, अब वह जमाना नहीं रहा । अरे भैया का लरिका हमसे बहुत छोटा थोड़ी है ।

ज़माने की बात याद कर बहुत-सी बात याद आ जाती है। न जाने साँझ बखत ई याद से काहे जी गरुआय आवत है।

पर एक बात है, गरू मन से सिल-बट्टा बहुत नीक चलत है। भाँग खूब अच्छी पिसति है !...

अ ऽऽ बम्ब...बम (फिर कुछ रुक कर) छान-छान किसी की न मान, जब निकल जायगी जान तो कौन कही छान ।

कभी-कभी सोचित है—काहे सिल-बट्टा धोवे के बखत जिवना बड़बड़ाये का होत है। पुन सोचित है कि ई आदत पड़िगै है ।

(एक आवाज आती है) 'कस है, नरिबदा, घोंटिगै की नाहीं । दिसा मैदान जाये का बैठा अही । लाना जल्दी !'

'ले बे कलुआ, जा दै आवा बड़का मालिक का । दौड़ बे ।'

'जी, सरकार ।'

(थोड़ी देर अतीव शान्ति रहती है।)

(वही पहली आवाज़ फिर)—'अबे कलुआ ! कहाँ मरिगा, बे ! एहमाँ मिरिच-उरिच रंचो नाहीं । जा अन्दर से थोड़ा शक्कर माँग ला ।'

'लाइत है, सरकार !'

'इतना बढ़िया घोंट के दीन और उनका मिरिच नाहीं लागत । मार तितार तो है ।'—मैं अपने-आप बड़बड़ाता हूँ ।--'लेव आयगें रऊफ और खालिक ।'

'पा लागों महराज !'

'आओ, रऊफ मियाँ, छनत हो।'—हम पूछ तो बैठे।

'नाहीं महाराज, आप पियो, मालिक। जरा भैया से बाति करे का अहै।'

'हाँ, हाँ तोहका तो ठर्रा चाही। देशी-गुलाबी, लाल परी ! तू का जाने इहका मजा। औ सुना रऊफ...!' भैया तो बातै नाहीं करैं देत फुन पुकारैं लगें—

'ओ नरबिदा, इहाँ आवा।'—भैया पुकारिन

'आये !'

'देहियाँ अकड़ि गै। भेजो शंकरजी चौवन करोड़ की चौथाई।' कह कर हम उठा।

'का चिल्लात हो।'—भैया बक्कत हैं।

'का बताई हमार आदत है।'

'इहाँ लुट का तोहार चौवन करोड़। देखो, ई बुढ़ौती में का-का बदा अहै।'

'का फिर कुछ भवा ?'

'वही मार लै गैं कीटगंज वाले। आज एक पचास कै गोल उतरा। मासा-मासा का पूजा रहे। सब लै गैं सारे।'

'तोर कसम मालिक !' खालिक बोला—'अपने कान से सुना तुम्हार नाम ! मुस्कुरा कै रहें सबकी सब जात्री।'

'दिन भर का किहेव। संझवा कै काहे आयेव ? उतरा तो बारह-ग्यारह बजे होहि हैं, बोलो !' भैया पूछै लागें।

'हमरी रोटी खाये हो और हमारी पतरी में छेद ! हमरा बैजनाथ का, नाम डुबोवत हो। मौका पाये जांव सरवन का काटै डारों एक एक का।'

'सुनौ तौ, मालिक ! आपन गलती होत, तो कहै काहे बरे आइत । अरै बात तो इह जून फूटी, आवा दौड़तै ।'

'देखा, रऊफ़ और खालिक, तोहका कई बार आगाह कीन गा है । ई सारे हमारे नौकर दोगला हैं, तौन दूसरे का कही ।'--हम कहा ।

'अबे नरिबदा, कै लेव तैयार । निपटारा एकै बार कै डारा जाये । ई अहियापुर की टगंज की रोज-रोज की खिट्-खिट् मिटना चाही । जी उकताय गा है ।'

'सरवे हमरे पेट पर लात मरिहैं तो होई का । अबे ओ खालिक मियाँ तोहका सुअर कटावै की किरया अहै—सच्चे बताओ कौन समय सुनेव ?'

'कसम खावत हव, मालिक ! अरे बोलतेव काहे न खालिक ! (हम साफ देखत रहै । रऊफ कहे जात रहा और ठेलत रहा खालिक कै) मालिक ऐसन कभौं न कहे रहें ।'

'दोहाई है सरकार की ! पश्चिम ओरी हाथ कै के कहित है सरकार, जेहकर कसम कहा खाई । बात सच्ची-सच्ची जौन रही कह दिहा ।'

'ठीक बात यही है, मालिक ! टेसन पर ई समय खबर लाग, जब ओऊ लोगन के जाये कै बखत रहा गडिया पै । तौन अपने मालिक कै खबर करै का भी तो जरूरी रहा ।'

'देखा न, सरकार, दूसरे लोगन तिसरे-चौथे टेसन पर आय जात हैं, देखै-ताकै के बरे । हमार मालिक महीना-महीन भर झंकबौ नाहीं करत कहाँ का होई रहा है ।'

'सब राम भरोसे चलत है खालिक मियाँ ! जौन मुँह दिहेस, ऊ खानौ देई । अरे चिटिया का खाना देत है, तो हम मनई का न देई ।'

'चुप रह नरिबदा । हाँ, कान खोल कै सुन लेव, ई लठ मुसरई हमका बरिदास्त नहीं । और नवा जात्री न आवैं न सही, जौन अपने हैं तो न जायें कहीं ।'

'ठीक कहत है, सरकार ! सुन बे खलिकवा कल गाड़ी न छूटे पावै। दुई दिन से तुम टेसन न आये रहे हो। मोहका अकेले जहाँ-तहाँ दौड़े पड़त है। एक जान कहाँ-कहाँ दौड़ी बतावा।'

'अरे मोर बिटिया बीमार रही। सरकार का मालूम है। उनसे छुट्टी ले के गये रहे। पूछ ले न सरकार से।'

'शंकर (जोर से आवाज देकर) भिक्खू, रामटहल सब की सब अलोप होई गें।'

'दिसा मैदान का बखत है।'—मैं रचि का बोल दिहेव तो जरतै आग माँ घी पड़िगा।

'अरे एकै साथ। सारन सब की रंगिया बँधाये का फैंक देव बाहर। सब का खाना बंद कै देव...! सब खाये-खाये मोटाये गय अहैं। काम कौनो नाहीं करत।'

और बैजू भैया जरा-जरा-सी बात माँ बिगड़ जात हैं। उनका उमर ही बिगड़ै का आयेगै है। हम जानित है ई दोनों मूंड़ काहे आये हैं। नसा फटा होई सारन का।

थोड़ी देर बाद जब बैजू भैया का गारी देत गला बैठ गा तब अ पूछिन—

'काहे बैठे हव तू लोग?'

'अरे इनका डेढ़-डेढ़ रुपिया चाही और का।'—हम कहि तो दीन।

भैया लाख चाहें पर वह अब इतना थक गये हैं कि फिर गाली नहीं निकाल सकते। हिम्मत पस्त है उनकी। अगर जरो-सी ताकत बाकी होत तो फिर शुरू हो जाता।

भैया को लाचार देख कर कभी मन में हँसी आवत है। आदमी अपने का हमेशा जवान समझता है कि हमेशा ऐसन रही। यही भैया थे जिनकै लात घूसे से मोर करिहाव टूट जा रहा। आज भी जब पुरवैया चलत है, तो दरद होय लागत है।

'नरिबदा ! दे दे इनका तीन रुपिया ।'

'लै जाओ रे मिया लोगन ।' खड़े-खड़े हम आवाज देइत है ।

'देखो नरिबदा टाँक लिये हिसाब माँ, समझे ।'

खालिक और रऊफ के पास आने पर हम अपने मतलब की बात कहि दीन । खालिक बोला, 'का पंडित, तुमहूँ बात करत हव । अरे तोहरे लिए तो जान हाजिर है । का ठर्रा पिहो ! अरे, वाइट हार्स पियो, वाइट हार्स, बयालिस की आवत ही आजकल ।'

'करी इंतजाम !'—रऊफ बोला ।

'जवानी पलट के न आये जाय, तो कहे । ऊ चीज है, जैसे बत्तीस घोड़े पर सवार चलै, वैसन मजा आवत है । अरे जवानी एक दिन, वुढ़ापा सबै दिन का ।'

'पंडित, एक बार कलेजा कड़ा कर जाव, बस !'

और दोनों हँसते चले गये ।

'का चचा, बड़ी छनछन कै बात हो रहैं, का माजिरा आय'--रास्ते से आवत राजू बोला । इसी जगह रोक के कह तो दिया, 'राजू ! तबियत खराब है तोर बाबू का । जात किधर हौं । सुनौ तो ।'

'अभइन आइत है । डाक्टर झा से कहे जाइत है, बाबू का देखै का लिये ।'

सार टुम-टुम घोटी बना फिरत है । विलायती कुत्ता ! हमार लरिका अस का होत, तो काट डारित सारे का चाहे जनम भरे की जेहल होय जात, परिवाह नाहीं ।

'का संझा बखत गारी निकारत हो पंडित !'

'सच कहित है, खालिक मियाँ । जिव जरि जात है एका देखै । अरे एक राधे महराज का भी तो लरिका है, यही कै समुरिया आय ।

सारे देखो जब तब जिजमाने के पीछे लगे रहत हैं। दूसर पट्टीदारन का देखा उनके घरे भी तो गदेरा-बच्चा अहैं, और ई ससुर का देख नोजे-नखरा नाहीं मिलत। हमेशा घिड़हिन पर सवार रहते हैं!"

टट्टी में टीन का लगा दर्वाजा के खुलै की आवाज सुन, खड़बड़ाहट सुन, हम चौंके। भैया अवतै पूछै लागें, 'के रहा? के हका गरिवात रहे, निरिबदा!'

'कोई नाहीं भैया। (धीरे से) वैसे नै बात रही। थोड़ी भाँग और वीच अहै। लेहबो का।'

'भाँग! नाहीं हम न लेब। इह तो आज तबियत आय गै। वैसन छान लीन रहा।'

'.......'

'खालिक का हम और पैसा दीन है।'

'बोतल के लिए!'—हम पूछा।

'हाँ, दै जायी तो ऊपर भिजवाय दिहे। और देखे राजू न देखे पावे, जानने पावे। समझें।'

मैं अपने-आप कहता हूँ, धीरे-धीरे बुदबुदाता हूँ—'बेटे की चोरी! हाय रे ज़माना। पियो राजा!'

कबहुँ हमरो मन करत है, हमऊँ पी कै देखी। का मजा आवत है। हम ठाठ सोचतै रहे कि पुनः आवाज आयी—'नरिबदा!'

हम कहित है—'बुड्ढे को चैन नाहीं पड़त', पुनः जोर से कहित है—'हाँ भैया!'

'ऊ कोचवान को सहेज दिहेव। सबेरे भोरहीं इक्का तैयार कै देई। सबेरे बचऊ लाला की घरवाली का काम निपटावै का है। बरगदहा घाट पर जाय पड़ी। और दूसर काम ऊ। का कहत रहै, हाँ सबेरे जिजमानन का खबर लिहे रहे। भला।'

'जा, जा। सब कर लेब हम।' (फिर अपने-आप सोचता हूँ) बुड्ढा मरै न माँझा छोड़ै। कल तो पुन चाँदी।

--:०:--

बन्नो

शरीर में कीचड़ लग जाने से व्यक्ति बेकार नहीं हो जाता। यह मैंने नहीं तुमने कहा था। याद है, क्यों कहा था तुमने। मैं सब कुछ जानती हूँ, फिर भी कभी-कभी जी धक्-धक् करके रह जाता है। तुम्हारी आदत हमेशा से ही ऐसी थी और इसी बात पर भरोसा कर लेती हूँ—तुम्हें याद आती हूँ तो मैं? बोलो। तुम मुझे भूल नहीं सकोगे विश्वास है मेरा—वैसे मैं तुमको कुछ ऐसा दे नहीं सकी। जिससे याद का पूरा-पूरा भरोसा पा जाती। रोक नहीं थी कहीं, पर तुम ही—कैसे कहूँ उन बातों को। बोलो, कहाँ हो मंसूरी, नैनीताल, रानीखेत, पहाड़ों की कौन-सी चोटी पर। जी में तो आता था तुम जरा-सा इशारा करते और मैं तुम्हारे साथ भाग चलती। पर यह बदा नहीं था।

बदा तो था केवल ठंडी साँसें भरना। फिर भी पहाड़ों की बात याद कर मन में अजीब-अजीब से चित्र बनते हैं। बचपन में उस बुझौवल की याद आ जाती है। सुनोगे तो तुम्हारा मन भी मेरी तरह कसैला हो जायेगा। सुना तो होगा पहले भी। लेकिन याद अब नहीं होगी। बताऊँ

मुझे अपने आस-पास के पहाड़ में खोजो और वह बुझौवल याद करो--एक पेड़ झबरा...!

कहते हैं पाइन्स के पेड़ बड़े ऊँचे होते हैं। खूब फैले हुए छायादार ! मैं क्या जानू कभी नहीं गयी कहीं। फिर भी याद आता है, कहीं किसी पत्रिका में चित्र जरूर देखे थे। अब तुम्हारी आँखों से देख रही हैं। पहाड़ों की चोटी पर फैले यह पेड़ नीचे से किसी के श्यामल कुंतल राशियों से नहीं लगते ! बोलो--

एक पेड़ झबरा
उसके नीचे पटरा
उसके नीचे जुगनूँ
उसके नीचे सूप-साप
उसके नीचे हप्...हप्

और बाद में उससे आगे कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी। बहुत जोर डालती हूँ तब भी वह शब्द जैसे स्मृति के गहन गह्वरों में खो गये हैं। खोजने और सिर मारने से भी मुझे याद नहीं आते। शायद तुम्हें याद हों, जिसमें एक युवा बाला के शरीर की कल्पना की गयी है। पहाड़ की ढलान के बाद क्या कुछ है ? शस्य-श्यामला कटि तल, कूल घाटी, नदी का किनारा...। यह सब छिपा नहीं है तुम्हारी निगाहों से।

मैं तुम्हारे साथ नहीं हूँ पर सब स्पष्ट देख पा रही हूँ। तुम्हारी पुरानी किताबों में अलमोड़ा, नैनीताल की एक गाइड-बुक मिल गयी है। बड़ी रात तक उन चित्रों, नक्शों और सरकारी वर्णनों में अपने को उलझाये रखती हूँ। एक-एक पहाड़ को मन के स्मृति आँगन में बिछा कर तुम्हारी कल्पना करती हूँ। वह नौकुचिया झोले हैं। ऐसा लगता है जैसे तुम मुझे किनारे छोड़ कर उसमें छलाँग लगा गये हो। क्षण भर के लिए तुम पानी में न जाने कितने नीचे चले गये। सतह पर वृत्ताकार गोल-गोल लहरें बढ़ रही हैं। एक के बाद एक-एक से सटी एक ! तुम

जहाँ कूदे थे, वहाँ पानी के बुलबुले उठ रहे हैं—रह-रहकर एक-एक कर। जहाँ मैं खड़ी हूँ वहाँ हड़बड़ाहट में कई मछलियाँ ऊपर हवा लेने के लिए आयीं और पल भर खड़ी रहीं और फिर अलोप हो गयीं।

मेरा हाथ सीने पर आ ठहर गया। सहमी-सी मैं चिन्ताकुल खड़ी हूँ। अरे, काफी देर हो गयी पानी में गये तुम्हें! मैं हताश इधर-उधर निहार रही हूँ। थोड़ी देर में तुम दूर जा निकले। हाथों से पानी चीरते और छाती से धक्के देते, आगे बढ़ते आ रहे हो। कितने खुश कितने उल्हासित। मैं भी हँस रहीं हूँ। तुम किनारे आ गये हो। मैं समझी नहीं। तुम मुझे यों ही तो ले कर कूद पड़े हो।

मैं चीख पड़ी। मुझे तैरना नहीं आता। पानी में नीचे काफी नीचे जा रही हूँ। इतना पानी पी गयी कि मुँह से आवाज नहीं निकल पाती। घिग्घी बँध गयी है।

बड़ी उलझन के बाद नींद टटी। कैसा विचित्र सपना था। वह चित्र और किताब पास चारपाई पर ही खुली पड़ी है। रात का सन्नाटा, न जाने कितना बजा होगा। मैं अपने-आप में खोयी-खोयी सपने की बातें सोच रही हूँ। सपने में भी तुम्हारा साथ नहीं दे सकी, सपने में भी असमर्थ रह गयी मैं! तुमसे दूर, तुमसे अलग।

चारों ओर काई के पत्थर। किनारे की सेवार, पश्चिम में डूबता हुआ सूर्य। हवा की मदमाती थपकियों से लेक में उठती नन्हीं-नन्हीं लहरें। समझ में नहीं आता किधर से बूझूँ। उलटे चल कर भी वहीं पहुँचती हूँ, जहाँ से सीधा चल कर पहुँचा जा सकता था।

वे दिन याद हैं, जब तुम्हें मैं अच्छी नहीं लगती थी। वह किशोर वय के तुम, हमेशा मुझसे झगड़ने के लिए, मुझे नीचा दिखाने के लिए, मेरी बुराइयों को गिनते रहते थे। तब जी में आता था, भगवान् क्यों किसी को लड़का और किसी को लड़की बना देते हैं। क्या अन्तर हो जाता

है कि बस फ्राक पहननेवाले इतनी हेय और कमजोर मान ली जाती हैं। तुम्हें सामने देख कर खूब लड़ने की, तुमको हरा कर तुमसे आगे निकल जाने की अपनी इच्छा को आज याद करती हूँ, तब मन में जो कुछ घटता है वह किस तरह तुम तक पहुँचा सकूँगी। तुम लड़की नहीं हो; क्या समझोगे उन बातों को। लेकिन तुम तो हमेशा टालने के आदी रहे हो—टालते रहे हो। मैं लाख फ्राक पहन कर खड़ी हूँ, तुम अपने नये बूट और नीकर में हो। आज गुड़ियों का मेला है।

यह मेला शायद अपने शहर को छोड़ कर और कहीं नहीं लगता। कहते हैं, कहीं शहर के बाहर जहाँ मुसलमानों का करबला है उसके पास कोई छोटी-सी तलैया है, जिसे गुड़िया तालाब कहते हैं। सावन में नाग-पंचमी के दिन उस तालाब के पास मेला लगता था। बीच में जब दंगे बढ़ गये, तो लोगों ने उस तालाब पर जाना छोड़ दिया। शहर भी तो बढ़ गया है, अब मेला भी बट गया है। कई जगह लगने लगा है। जहाँ हम रहते हैं, उधर के लोग जमुना के किनारे जाते हैं। खूब दूकानें लगती हैं। सारे रास्ते झूले, चरखी और नाटकवाले इकट्ठे होते हैं। पानी-बून्दी का जोर चलता है और मेले-ठेले की बीन बजती रहती है। लड़के घर से कपड़ों की गुड़िया बना कर ले जाते हैं। नीम की लम्बी रंगी-रंगी टहनियाँ बाजार में खूब बिकती हैं। उनको खरीद कर पानी में गुड़िया डाल पीटते हैं। पर, पर, पर! गुड़िया पीटने के लिए, सहने के लिए होती है।

कहीं-कहीं लड़कियाँ फूलों का सिर गूँथ कर नाते-रिश्तेदारों के घर जाती हैं। वहाँ लोग उन्हें मेले के लिए पैसे देते हैं। मुझे उस दिन पाँच रुपये मिले थे और मेरे कपड़े कितने सुन्दर थे—लाल मखमली कपड़े! सोचती थी तुम कहीं मेले में मिलोगे, तो यह फ्राक दिखाऊँगी। कभी-कभी ही तो चिढ़ाने का अवसर मिलता है मुझे। पर तुम हमेशा के ईर्ष्यालु थे। मैं मेले से घर लौट रही थी और तुम हाथ में कीचड़ लिये खड़े

थें। मैं क्या तुम्हारी मंशा जानती थी। खूब हँसते हुए तुम पास आये थे। बोले थे—'आज तो बिल्ली के कपड़े पहने हो। बड़े खूबसूरत हैं ये। कहाँ से चुरा लायी हो।'

हुँ, हः! मैं चोरी करके कपड़ा पहनूँगी। मेरा मुँह फूल गया था। मुझे खूब याद है मैं किस तरह तुनक कर बोली—'डाका डाला है तुम्हारे घर में।'

और पैर पटकती मैं अपने आँगन में आ खड़ी हुई थी।

थोड़ी देर बाद माँ ने कपड़े उतारने के लिए ज्यों ही हाथ बढ़ाया कि मेरी पीठ पर लगी कीचड़ पर उनका हाथ पड़ गया था। सारा फ्राक चौपट हो गया था। जापानी मखमल—भला क्या धोयी जा सकती थी। यह तुम्हारी कारस्तानी थी—उस समय पता था कि क्यों तुमने मेरे फ्राक की तारीफ़ ही की थी। क्यों तुम मेरे पास आये थे और क्यों मेरी पीठ पर तुमने हाथ रख दिया था। मैं गरीब थी। दूसरों के टुकड़े पर पल रही थी। मेरे घर कपड़े-लत्ते हमेशा शौकिया नहीं बनते थे। वे तन ढाकने को बनते थे, इज्जत रखने को बनते थे, मौज बहारों के लिए नहीं। तुम उसकी क़ीमत क्या जानो?

कितना रोयी थी उस रात। जोर से नहीं रो सकती थी—माँ उसे मेरा धंधाड़पन ही कहतीं।—'एक तो कपड़े सत्यानाश कर लायी निगोड़ी। ऊपर से नाम लगा दिया राजू का। कहाँ पसरी थी कीचड़ में? अब रोती है, स्वांग रचती है।'

मैं माँ के ताने नहीं सुनना चाहती थी। माँ की बातें सुन कर और रो कर उनका दिल नहीं दुखाना चाहती थी। चुप, गुम-सुम जो कुछ उन्होंने कहा सुन कर रह गयी। फिर जब खाट पर पड़ी, तब न जाने क्यों, जी को खूब सम्हालने के बाद भी रुलाई आती रही।

इतना क्यों सताते थे। माँ हमेशा तुम्हारा पक्ष क्यों लिया करती थीं!

मेरे पास की नयी किताबें तुम्हें कभी अच्छी नहीं लगीं। उन्हें चौपट करने में ही तुम्हें लुत्फ़ आता था। तुम यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि जो तुम्हारे पास नहीं है वह दूसरे के पास आ जाय, हो जाय। यह कैसे संभव है, क्यों संभव है?

तुम्हारे इस स्वभाव को अब समझ पायी हूँ। उन बीती बातों को मन को चौखटे में पड़ी-पड़ी जोड़ती रहती हूँ, तो पाती हूँ कि तुम स्वयं वह नहीं थे जो दिखते थे। वे धधकते ज्वालामुखी, जिन्हें तुम बचपन से ही अपने सीने में सँजोये चलते थे, उनके भी कुछ कारण थे। उस समय मैं क्या समझ पाती उन्हें। लेकिन जब-जब तुम सामने होते थे, तो क्यों मेरा जी लड़ने को, झगड़ने को चाहता था। तुमसे दूर रह कर तुम्हारी इच्छा होती थी। एक अनबूझ पहेली, जो आज तक समझ में न आयी।

कभी एक पाई की गुड़-लैया के लिए तुम मुझसे लड़ पड़े थे। कितनी जोर से तुमने मेरे झोंटे हिलाये थे और किलकिलाकर जो मेरी बाहों को अपने जबड़े में भर लिया था, उस जगह दाँत के नीले निशान आज भी मेरे शरीर में गुदने की तरह बन गये हैं। उस निशानों को अभी भी मैं अपने दाहिने हाथ की अँगुली से इस तरह सहला रही हूँ जैसे तुम्हारे दाँत के गढे में बना हर दाँत मेरी अँगुली के नीचे है। मैं उनकी हर ऊँची-नीची काट, हर पोर अनुभव कर रही हूँ। जानते हो इस सब से मन पर क्या-क्या बीत रही है। होनेवाली पीड़ा के भीतर भी एक खुशी होती है मेरे देवता—मैं उस अतृप्ति में तृप्ति पा रही हूँ, उस महा नीलाम्बर में अकिंचन-सी उसे खोज रही हूँ जो एक बूँद प्रकाश-सा पड़ा बरबस आँखों को खींच लेता है। गहनतम अँधेरिया में भोर का एक तारा मन में जो कुतूहल, जो वेदना के बीज बोता है शायद वैसा ही, उससे कई गुना अधिक।

लोई के इन तारों को मन में जितना बढ़ाती हूँ, वह मन को उतना ही उलझाते ह। उलझी-उलझी अपने से दूर चली जाती हूँ, तो कोई ननद आकर खड़ी हो जाती है। छोटी ननद, बड़ी ननद, मँझली ननद। ऐसा

लगता है जैसे तुम रूप बदल कर खड़े हो। सगी नहीं है—पर बहुत निकट ह। एक ही खून तो है। सब के मुँह कुम्हलाये-कुम्हलाये हैं। किसे न होगा ऐसे भैया के जाने का ग़म! उस दिन तुम्हारे वह मित्र आये थे। पहली बार उनसे सामना होते ही मैं रो पड़ी थी। उस दिन मन इतना पक्का नहीं हुआ था। उनकी हर बात का उत्तर देना भी जरूरी था। सोचती थी, कहीं गलत बात की जगह सही-सही सच न निकल जाय! तुम्हारे आदेश को निभाने में कमजोर न पड़ जाऊँ, इसलिए खूब जी कड़ा करके झूठ बोल रही थी। झूठ से तुम्हें घृणा थी ना! तुम्हारे मित्र कहीं वकालत करने जज या बैरिस्टर बनते तो गजब का नाम होता। मेरी हर बात की खाल उधेड़ कर रख दी उन्होंने। उस समय पता चला कि यह कितना सच है कि हर साधारण-से-साधारण औरत बड़ी बखूबी त्रिया-चरित्र निभा सकती है! खूब निभा सकती है! बहुत-सी बातें बिना मुँह खोले ही समझाई जा सकती हैं।

समझा दिया उन्हें, वह बच्चे नहीं कि बहकाने-बहलाने में आ जायें। जितना बाँधा उतने हीं बंधन काट डाले। पिंजड़ा खोल हाथ में खाना लिये बैठी रही और वह कब खाना कुटक भागे पता ही न लगा। फन्दे में बाँधती कैसे! इतना ही नहीं इससे भी बहुत कुछ अधिक ही कह गयी उनसे। लेकिन फिर भी परेशान थी, उनकी ही परेशानियों से। सोचती थी—अनजाने में किस तरह वे हम लोगों के पाप के भागी बन रहे हैं। उन्होंने क्या-क्या लांछना और प्रतारणा नहीं सही। मेरी बातों से उन्हें कोई सहारा नहीं मिला तुम्हार गोपन वह न जान सके। हताश हो लौट गये। जहाँ थे वहीं रहे। फिर कई बार आये। पर अब केवल संवेदना दिखाने के लिए। गहरे उतरने की उनकी हिम्मत पस्त हो चुकी थी।

आते थे, दो क्षण के लिए, इस तरह बैठते जैसे आँखें चुरा रहे हों। समय टाल रहे हों। जितनी देर वह रहते मैं सहमी-सहमी बैठी रहती।

बहुत हिम्मत करके भी आँखें न उठा पाती। उन्हें वयोजेष्ठ समझने लगी हूँ। समझने क्या लगी हूँ मन ने यह अपने-आप मान लिया है।

दो-चार शब्दों में कुछ पूछ कर खड़े हो जाते थे।

आशय होता था—कैसी हो ?

कोई समाचार मिला ?

कोई जरूरत हो तो कहना।

फिर जब वह घूम कर कमरे के बाहर होते, तो बंद गले के कोट की पिछाड़ी में उनके चौड़े कंधे झलकते थे। मेरा अंतर हाहाकार कर उठता था। मुँह ढाँक कर फफक-फफक कर रो पड़ने की इच्छा होती थी। पर सोचती थी इस तरह रोने से तुम्हारा अनिष्ट ही करूँगी, सो उनके आने की खबर सुनते ही किसी ननद को ले बैठती थी। ननद के होने से पास का वह अंतर मिट जाता था। फिर जो ज्वाला धधकती थी वह समाज के डर से धू-धूकर धुआँ छोड़ कर ही रह जाती थी।

घर में अभी भी सब कुछ पुरातन है। जनानखाने के बाहर किवाड़ को आधा उडका कर खड़े होने की रीति वैसे ही चल रही है। जैसे कभी तुम्हारी माँ-दादी खड़ी होती थीं, वैसे ही मैं भी खड़ी रहती हूँ। वह पराये जो हैं। उसी तरह झाँककर अपने-अपने अनजानों से बात करने की प्रथा को निभाती आ रही हूँ। तुम्हारे साथ कुछ दिन रही होती, तो शायद इस प्रथा की भी इति श्री तुम कर डालते। पर वह बात संभव नहीं हुई। गिनी-चुनी एक रात की तो गुनहगार हूँ। उस रात भी तुमने चापलसी नहीं की। तुमने कहा था—तुम आश्चर्य हो। तुम्हारे नयन में दो बिंदु आकाश पूरित हैं। तुम्हारे...।

और उसके आगे मैंने तुम्हारा मुँह बंदकर दिया था, क्योंकि तुम जीवन को मृत्यु से शुरू करने वाले थे। तुम्हें मेरी पायल की झंकार रोक नहीं सकती थी। पलंग के पैताने जाकर मैंने तुम्हारे दोनों पैरों को

इकट्ठा कर अपने ओठों से स्पर्श कर इतना ही कह पायी थी--जो कहोगे वही लीक बाँधूँगी। देवता से छलिया मत बन जाना।

तुम सब कुछ छोड़ सकने के लिए तैयार थे। यह तुम्हारे शब्द कह रहे थे। तुम्हारा दिल कह रहा था। पर तुम्हारे आँखों की भाषा कुछ और थी। तुम्हारा सुषुप्त मन दो दिन पहले कुछ और कह चुका था। मैं जानती थी तुम्हें बाँधकर रखना मेरे लिए आसान नहीं है। यह मैं सब गुन चुकी थी। इसीलिए उस घड़ी मैंने साहस को चुनौती दी थी। उसे कुघड़ी कह कर कलंकभागिनी नहीं बनूँगी।

तुम हार जाओगे यह नहीं जानती थी। पूरे चाँद की वह रात, नहीं उन बातों को याद कर मन कमजोर होने लगता है। पर तुमने जिस तरह हाथ-पैर छोड़ दिया था, तुम्हारी जो दशा हो रही थी, वह सब मुझे अंदर-ही-अंदर खोखला किये डाल रही थी।

साँझ की ही बात थी। पटनेवाली तुम्हारी भाभी भी थीं उन दिनों। कितना चाहते थे तुम उन्हें। पटनेवाली इसलिए कहती हूँ कि तुम उन्हें पटनेवाली कहना ज्यादा पसंद करते थे। वैसे थीं वह गया की।

जानती पहले से थी, पर इस तरह का साबका पहली बार पड़ा था। पड़ोस में रही हूँ, तुम्हारा घर बचपन से जाना हुआ था। पर आज तुम गौने बैठा कर लाये थे। शादी कब हुई थी, मुझे तो याद नहीं। दूसरों की शादी, महल्ले में, देखकर मन हूकता जरूर था।

जब स्कूल जाती थी, तो वहाँ सबकी माँग कोरी रहती। जरा-जरा-सी बित्ता भर की छोकरियाँ मेरी सिंदूर भरी माँग देखकर किस तरह चिढ़ाती थीं, खिल्लड़ी उड़ाती थीं।

जरा और समझ बढ़ी, तो तुम्हें देखकर मन कुछ घबड़ा जाता था। लेकिन तुम्हारा और इस माँग के सिंदूर का भी कोई मुकाबला हो सकता है, यह तब भी ठीक से नहीं जानती-समझती थी। स्कूल में लड़कियाँ

खिल्ली न उड़ाएँ, इसलिए एक दिन स्कूल जाने से पहले, छिपकर एक कोने में, अँधेरे में आईना लेकर खड़ी माँग पोछ रही थी रगड़-रगड़कर।

न जाने कैसे माँ चौके से निकलीं और आ कर खड़ी हो गयीं। कितनी जोर का मुक्का मेरी पीठ पर पड़ा था—'निगोड़ी राँड़ बनेगी।'

फिर किस तरह धुनाई की थी उन्होंने। लेकिन उस मार के बाद शायद ही कभी उन्होंने पूरी माँग भरने की जिद्द की हो। रोने-धोने और पिटने के बाद हम दोनों ने किस तरह समझौता किया था, उसकी एक-ए क पंक्ति, एक-एक शब्द याद है।

हटाओ, क्या करोगे सुन कर।

हाँ, बात तो उस दिन की कर रही थी जब पटनेवाली भाभी मौजूद थीं। दिन ढल रहा था। गर्मी से सारी देह चिपचिप करने लगी थी। लोगों के एक बार कहने पर ही मैं उठकर बंबे में नहाने के लिये उस कोठरी में चली गयी थी। थोड़ी देर बाद लगा संद से कोई झाँक रहा है। अंदर अँधेरा था। बाहर उजाला। जरा-सी भी आहट साफ पता लगती थी।

माँ की इकलौती हूँ, खुलकर रही हूँ। साबुन आले पर पड़ा था। भीनी-भीनी खुश्बू कोठरी में भरी थी। आहट पाते ही, जी सन्न से रह गया। लगा मैं कुछ गलती तो नहीं कर गयी। मन ने समझाया अब तू लड़की नहीं औरत है! बहू है इस घर की! सारे शरीर में एक सनसनी आ गयी।

सामने से खिसकी किनारे की ओर।

संद से कहकहे और ज़ोर से उठे, समझ गयी पटनेवाली ही हैं।

'डर गयीं बन्नो।'—वह बोलीं।

मैं चुप रही।

वह फिर बोलीं—'आऊँ, मैं नहला दूँ।'

'भाभी !' लड़कियों की तरह ठुनक भरी आवाज़ मेरे मुँह से रुकते-रुकते भी निकल ही पड़ी।

'अपनी देह अपने को अधिक नहीं भाती, बन्नो।'—भाभी उसी तरह खड़ी कह रही थीं। मैं समझ गयी दालान में कोई नहीं है।

हल्के-हल्के उन्होंने किवाड़े पर थपकी दे कर फिर कहा—'खोल तो।'

एक क्षण। दो क्षण। आसरे के बाद फिर वही थपकी। उस गर्म साँझ में भी मेरे कँपकँपी आ गयी थी। पर जिद और वह भी तुम्हारी भाभी की। शायद इसीलिए वह तुम्हें प्रिय थीं। घर भर में सब से अधिक। यह बाद में मुझे पता चला। वह औरों की तरह रहन-सहन में पिछड़ी नहीं हैं। बहुत आगे, उनको अपने से भी दो कदम आगे पाया।

निराश, हार कर धीरे से साँकल खोल दी। उसके पहले ही मैं धनौची पर चढ़कर रोशनदान बंद कर चुकी थी। रौशनी कम हो गयी। शर्म ढापने का और कोई तरीका नहीं था। दो क्षण में ही कोठरी में गर्मी बढ़ गयी थी। हबस होने लगी। तड़-तड़ आवाज करता नल बह रहा था।

'हाय, बन्नो !' दर्वाजे को बंद करते हुए भाभी घूमीं और उन्होंने मेरी गीली बाहों को अपने हाथ से कस कर पकड़ लिया। ओंठ फैला कर खिलखिलाती हुई बोलीं—'ठहर तो।'

मैं ठगी-सी खड़ी थी लाज गड़ी-सी।

सोच रही थी पूछूँ—'भाभी ! तुम्हें भी कभी किसी ने इस तरह से देखा है। कभी ऐसे खड़ी हुई हो किसी के सामने।'

भाभी कह रही थीं—'मेरा भैया...'फिर जैसे एक क्षण के लिए बात उनके मुँह में घुल गयी। उनकी आँखों में आश्चर्य, कुतूहल, आह्लाद के भिन्न-भिन्न मिश्रित भाव झिलमिला रहे थे।

साबुन की टिकिया और तरोयीं के सूखे झागे से वह मेरी पीठ रगड़ने लगीं। कितनी सलोनी फुरेर मच गयी थी शरीर में।

'चुप क्यों हो गयीं, भाभी ?'

'उलझन में पड़ गयी थी। सोच रही थी जब इस फूल में फल पड़ेंगे तव !' उन्होंने धीरे से कहा।

'तब क्या होगा ?'--मैंने आँखें फैला कर पूछा।

'और बढ़ जायेगा तब यह रूप, कैसे सम्हाल पाओगी ?'

'भाभी !'--मैंने आँख नचाते हुए पूछ लिया था—'क्या अपने देवर में कोई खोट दिखी है। कमजोर समझती हो उन्हें।'

भाभी को मुझसे इस तरह के जवाब की आशा नहीं थी। एक दम फूटकर खिलखिला पड़ी थी।—'ये बातें कल पूछूँगी।'

'कल क्यों ?'—मैंने चौंक कर पूछा।

'यों ही !'--भाभी ने इस बार मजे से आँखें मटका कर कहा—'ये बातें कल के जवाब देनेवाली हैं। चल देर होगी।'

वह पीठ पर पानी डाल रहीं थी। इस तरह नहलाया जैसे कभी माँ ने बचपन में नहलाया था। पीठ पर गमछा रखती हुई बोलीं—'निकल जल्दी।'

उनके घूमते ही मैंने पैर छू लिए थे।

मुझे आशीष देते हुए एक बारगी चिहुँक कर वह पीछे हट गयी थीं। जैसे इसकी आशा नहीं थी उनको। एकदम सकते में आकर बोलीं--'धत् तेरे की, यह क्या किया ?'

मैं बोली—'आज ऐसा लगा, जैसे मेरी माँ मुझे बचपन में नहलाया करती थीं। वही प्यार, वही स्नेह-स्पर्श। कुछ जोश में गलत कह गयी हूँ तो...।'

मेरी बात काटकर बोलीं—'अरे भगवान, अभी से जोश-खरोश की बात करती है। भगवान् सेजिया पर का होयी दैया...!'

मैंने अबोध बनते हुए टोका—'क्या होगा भाभी ?'

'यही कि मैं तुम्हें सजाऊँगी ?'

'सजाओगी—कैसे ? क्यों ? क्या होगा सज कर !'

'अरी तू लड़की तो नहीं रही !'

'तो क्या मैं...मैं'... दबी जबान से बोली : 'माँ—।'

'पगली है।' भाभी ने एक हलकी-सी चपत दी—'वह भी हो जायेगी। फिकर क्यों करती है।'

जानते हो मेरे जी में क्या हुआ था। कैसी ठुमक हुई थी। मैंने धोती पहनते-पहनते जोर से भाभी को अपनी बाहों में कसते हुए कहा था—'नहीं भाभी !'

'मेरी बाहें तो छोड़ !'—भाभी मेरे हाथ से अपने को निकालने की चेष्टा करने लगीं।

मैंने पूछा—'फिर सजाओगी मुझे तुम ?'

'ऐसी रूप की अपसरा बनाऊँगी। छोड़ तो सही...ऐसा सजाऊँगी, देवर का सिर चकरा जायगा। आँख इस तरह चकाचौंध होगी कि हाथ रखते डर लगेगा। देख, तू बाजी न चूक जाइयो।'

और बिना चेष्टा के ही मेरी बाहें अपने-आप ढीली हो गयीं। मैं सोच रही थी। क्या खेल हो रहा है यह सब ! मेरे पास एक धोती नहीं साड़ी है। साड़ी को बार-बार लपेटने की चेष्टा कर रही थी—पहन रही थी। जैसे मैं धोती पहनना भूल गयी थी। घूम रही थी—चक्कर कर रही थी। पल्लू ही नहीं आता था। याद आ रहा था एक छोटी बच्ची अपनी माँ की तरह धोती सिर पर ओढ़ लेने की चेष्टा में सारी धोती

घुमाते-घुमाते ले जाती है। उसे अपने पैरों का ख्याल नहीं है, अपने पेट का ख्याल नहीं है। वहाँ तो केवल एक इच्छा है झुंड काढ़कर धोती सिर से पहनने की।

पास से किसी ने कहा--'बन्नो नंगी है।'

चेतना वापस लौट आयी। धोती जहाँ-की-तहाँ रह गयी। बन्नो भागी कोठरी में। अपने ही पैरों में अपनी ही धोती उलझ गयी है और बन्नो लदबदा कर इस भाग-दौड़ में गिर पड़ी, रोने लगी।

सब कुछ इस तरह क्यों याद हो आया है मुझे। कौन बैठा है जो मन के असीम कोने से चुन-चुन कर यह स्मृति के फूल बार-बार मेरे मन पर फेंक देता है। मैं आज भी बच्ची की तरह धोती पहन रही हूँ। पहनना भूल गयी हूँ। घूम रही हूँ, चक्कर काट रही हूँ। हाथ में छंद है, पिछेली है, बंद है, कड़ा है, पाहुँचा है। एक-एक अंग गहने से लदा है। कुछ गहने कँटीले हैं। कुछ जालीदार, इमिरतीनुमा! धोती सिर पर ले जाते-जाते तार—धोती के नहीं साड़ी के बनारसी साड़ी के—रेशमी तार गहनों में फँस जाते हैं। खिंचते चले आते हैं। मैं धोती पहनने में असमर्थ रह जाती हूँ।

भाभी आ रही हैं। वह मुझे देख खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

क्यों? क्या बन्दर की तरह उछल रही है? धीरज रख, तभी जल्दी नहीं थी। अब तो बाँध टूट रहा है।

मैं कहती हूँ—मेरी भाभी!--इससे आगे मुझसे बोला नहीं जाता; क्योंकि एक क्षण भी तुमसे अलग होकर, विलग होकर नहीं सोच सकती।

भाभी के हाथ में आलता है, सिंदूर है, काजल है, चोटी है, रोगन है, अतर है, क्रीम है। फूल है। ढेर-सा सामान है।

वह मुझे खींच कर बैठा लेती हैं।

उन्होंने मेरी घनी केश राशि खोल डाली है। कोई बहुत ही मीठा तेल उन्होंने सिर में डाल दिया है।

मैं कहती हूँ––'भाभी तेल मैं लगा लेती हूँ। रहने दो तुम्हारा हाथ दर्द करेगा।'

'चल ! आज नहीं ! रोज-रोज थोड़ी ही मैं आऊँगी।'

वह झट-झट तेल मलने लगीं। सोचती हूँ भाभी मेरी माँ होतीं, तब यहाँ न होतीं। फिर मुझे कौन सजाता। मैं चाहती हूँ। मेरे मन में इच्छा बलवती हो रही है––मैं घूम कर भाभी को अपने अँक-पाश में भर लूँ। और मुँह चूम लूँ उनका।

ऐसी इच्छा क्यों होती थी। कौन जाने।

वह गोटे चोटी डाल कर मेरे बाल बाँध रही हैं। खूब कस कर चोटी की है। इतनी कि बाल की जड़ें चटकने लगी हैं। मैं बार-बार 'उईं' करती हूँ। तो वह पूछ भर लेती है––'क्या जादा कसी है ?' फिर अपने-आप कहती हैं।––'चोटी कसी अच्छी होती है और फिर आज तो और जरूरी है।'

मैं बात काट देती हूँ। पूछती हूँ––'भाभी ! तुमने अभी कहा था।'

'क्या ?'

'कि तुम मुझे ऐसा सजाओगी कि तुम्हारे देवर का सिर चकराने लगेगा।'

'ठीक तो कहा था।'

मैं तुम्हारी बात छेड़ देती हूँ। मैं भाभी से तुम्हारे बारे में सुनना चाहती हूँ, पूछना चाहती हूँ। मैं मुँह फुला कर बोली––क्या ठीक कहा था ! मैं सब जानती हूँ !'

क्या जानती है ?'

'यही कि जब उनका सिर चकराने लगेगा तो दवा की जरूरत होगी। और मैं तुम्हें बुलाऊँ या न बुलाऊँ तब भी तुम उसी तरह वहाँ भी घुस आओगी, जैसे बंबे में घुस आई थीं, जबरन, क्यों ?'

भाभी जोर से हँसती हैं।

फिर मैं भी हँस पड़ती हूँ।

भाभी मेरे पैरों में अलता लगा रही हैं।

ढेर-सी क्रीम पोतना मुझे अच्छा नहीं लगता, सो उनके दिखावे के लिए मैंने क्रीम हाथ में ली और पास पड़ी तौलिया में गदेली पोंछ कर खूब मुँह मल डाला। भाभी कितना खूबसूरत अलता लगाती हैं। वह अलता लगाती हुई समझाती जा रही हैं, बताती जा रही हैं उन तमाम बातों को, जो पहली रात में उनके जीवन में बीती थीं। वह बातें जो एक औरत ही दूसरी औरत से कह सकती है। केवल उसी से कहती है जिसे बहुत अपना समझती है।

मैं एक-एककर अपनी जानकारी के लिए जिज्ञासा भरे प्रश्न करती हूँ। भाभी खेली-खायी हैं। सब समझाती जा रही हैं। मर्द पहली भट में रुपये देता है। तो क्या ले लेना चाहिए ? नहीं लेने से क्या होता है ? भाभी को कितने मिले थे ? क्या भाभी ने एक बार में चट से हथेली फैला दी ? क्या भाभी ने चुपके से मुट्ठी में रुपये दबा लिये थे ? क्या भाभी ने रुपये तकिये के नीचे रखे थे ? या उन्होंने उसे चोली में रुपये दबा लिये थे ? रुपये लेते हुए जी कितनी जोरों से धक्-धक् हुआ था ? क्या-क्या आया था मन में ? ऐसे बहुत-से सवाल थे जिनका समाधान केवल भाभियाँ करती हैं, केवल वही कह सकती हैं। वह मेरी अपनी भाभी हैं——मेरे उनके...अपने देवर की भाभी। आज मैं जीवन के नये मोड़ पर खड़ी हूँ। मधुचन्द्रिका की यह हसीन दिलकश रात भींगने जा रही है, भींग रही है।

अपनी खुशी में मैं बावली हो उठी हूँ। कहते हैं जब मोर मस्त हो नाचने लगता है तो वह अपने को भूल जाता है। नाचता है, नाचता है।

छम् छम् छम् और जब खुशी में बेहाल हो जाता है तो नयन कोरों से अश्रुजल बूँद-बूँदकर टपकने लगते हैं। पास नाचती मोरनी उन्हीं अश्रु-कणों के लिए बावली बनी थिरकती रहती है। आँखों की कोर से उन बूँदों को पी जाती है। धरती पर आने से पहले ही अपनी चोंच से वह उन्हें थाम लेती है। जीवन की सलिल सरिता का अनवरत क्रम बनाए रखने के लिये यह आवश्यक है। मोरनी कभी सेज जैसा नहीं बिछाती। मोर कभी अपनी प्रिया का अंकशायी नहीं बनता। मद के वह आँसू...!

तुम्हारी याद में बैठी मन में इसी तरह के करुणा चित्रों को पिरो रही हूँ। काग-भाषा नही जानती पर सहज स्वभाव से मुझे ऐसा ही लगता है कि मोर की आँखों में मद के नहीं निराशा और दुःख के ही आँसू छलकते हैं। वह अपने रूप पर गर्वित हो मदोन्मत्त हो नाचता है। ताल, लय, सुरों में बँधा उसका ध्यान जब एकाएक लौटता है, तो उसकी दृष्टि धरती पर पड़ती है। उन नंगे बदसूरत पैरों की देखते ही उसका पेट खौलता है। सुन्दर के साथ यह असुन्दर का मेल! क्या खेल खेलता है वह रचयिता और अपने ही दुर्भाग्य पर रोता है मोर! रोता जाता है, नाचता जाता है। क्या हमारा-तुम्हारा, सभी का जीवन इसी तरह के धूप-छाँववाले खेल नहीं खेलता।

अब बहुत देर हो गयी है। मैं फूल सजी सेज पर बैठी हूँ। तुम नहीं आ रहे हो। मैं इस सोने-चाँदी से लदे शरीर और कीमती साड़ी के भीतर अतुल धनराशि की गठरी बनी बैठी हूँ। मेरी आँखें चाँदी के इन मोटे कड़ों पर टिकी हैं। यह रत्न की बेड़ियाँ ऐसी हैं जिनके मद में कोई भी बाला अपना सब कुछ लुटा सकती है। हाथ के कंगन और पाहुँचे में नन्हें-नन्हें घुँघरू हैं। जरा-सा हाथ हिलता है—किन-किन, कुन-कुन स्वर होने लगता है। तनिक-सा सीधे बैठने के लिए पैंतरा बदलना चाहती हूँ, तो कमर की मेखला में लगे घुँघरू, पायल और झांझ में पड़े मोती

आवाज करते हैं। यह मनोरम आवाज——इतनी मधुर, इतनी सुरीली कि अपने-आप से डर लगने लगता है।

क्या नहीं ही आओगे। मन अपने ही पाप से शंकित है। याद आ रहा है वह दिन जब दोनों हाथ तुम्हारे आगे बाँधे फूट-फूटकर रो रही थी और तुमने अपनी दो अँगुलियों से मेरी चिबुक उठाते हुए कहा था——'गलती और पाप में अन्तर होता है। मुझे गलत समझने की कोशिश मत करो। मैंने बहुत सुना-समझा है।'

मैं फिर भी रोती जा रही थी। तुम मेरी आँखों में कितना ऊपर उठ गये थे। अपने उपकार से तुमने बरबस मुझे इतना नीचे जमीन में गाड़ दिया था कि मैं कुछ कहने की अधिकारिणी ही नहीं रह गयी थी।

आज वह स्पष्ट हो उठा है। मेरा पाप, तुम्हारा पुण्य, मेरा रोना, तुम्हारा स्नेह से भर चिबुक को उठाना, मेरी आँखों की गीली कोर पोछना और अपने वक्ष में मुझे छिपा लेना। वह याद करते ही कान और कपोल के सारे देश जैसे जलने लगे हैं। चिबुक पर जहाँ कि तुमने स्पर्श किया था, उस जगह अनोखी-सी सनसनाहट बैठ गयी है। क्यों नहीं आते? मेरा रोम-रोम तुम्हारे स्पर्श के लिए मचल रहा है। तुम्हारे आने में जितनी देर हो रही है, भय उतनी ही तेजी से मुझे त्रस्त कर रहा है। रुलाई उतनी ही तेजी से मन में फूट पड़ना चाहती है। कहीं मेरा पाप तुम्हारे मार्ग में बाधक तो नहीं बन गया। दुराचारिणी की यह सेज यों ही सूनी तो नहीं रह जायेगी। मधु-चन्द्रिका की यह भींगी रात विष की बूँदें तो नहीं बरसायेगी।

मैं आसरा देखती हूँ।

देखती हूँ।

देखती हू।

रात भींग रही है।

बीत रही है।

कहीं दूर घंटा बज रहा है !

कितना बजा है ? मैं चौंक पड़ती हूँ । याद में भी नींद का-सा एक नशा होता है। मैं उसके झोंके से चिहुँक उठती हूँ । मेरी कटि-मेखला, पायल और कंगन के घुँघरू किनकिना उठते हैं। मैं आसरे में जी रही हूँ ।

--:०:--

रात्रू

जाना था उत्तर को, चल पड़ा हूँ दक्षिण को । उस भोर के अँधियारे में तुमने चोरी-चोरी कितना सामान लाद दिया था। कैसे कसकर सब कुछ इस तरह बना दिया था कि मैं उस भानमती के पिटारे को समझ ही नहीं पाया ।

गाड़ी पर बैठकर गाँठ खोली, तो ढेर सारा सामान सारी सीट पर बिखर गया। खूब खिजलाहट हुई। एक बार जी किया—सब त्याग कर चला हूँ फिर यह मोह की गठरी क्यों लादे फिरूँ । शरीर का कपड़ा ही भार लग रहा है । जमीन नापने को पैसे हैं, बहुत हैं । खिड़की से बाहर फेंकने के लिए दोनों बाहों को लाकर फँसामान भर लेना चाहा—पर लाचार रहा । किसी तरह गिरती-पड़ती कुछ चीजें बाहों की पकड़ में

आयीं भी, तो सब कुछ मुँह और नाक के पास आ गया था। हर चीज़ से जैसे तुम्हारे शरीर की गंध आ रही था। दो क्षण के लिए साँस जहाँ-की-तहाँ रुक गयी।

हताश ! वैसे ही सामान छोड़कर खड़ा रह गया।

न जाने कितनी देर तक खिड़की से बाहर भागती दुनियाँ को देख रहा था। कहीं नील गायों का झुंड था, कहीं बगुलों की पंक्ति थी।

रात को कब सोया कब जागा—कुछ आभास नहीं मिला। सुबह मुँह-अँधेरे में ही नींद उचट गयी।

उठ कर बैठ गया।

तुम्हारे दिए इस कंबल से बड़ा आराम मिला।

फिर दिन चढ़ आया।

सब को खाते देखकर याद आया भूख मुझे भी लगी है। चीजों को तरतीब से लगाकर गाड़ी से उतर खाने के डिब्बे में जाने की सोच रहा था। औरों की तरह घुटने पर पूड़ी के दोने रख कर खाने में मजा नहीं आता है, पेट पूजा की बात दूसरी है। खाने का लुत्फ़ और वह भी यात्रा का—और ही होता है।

कुछ उमड़े-गुमड़े कपड़ों में लिपटी एक पोटली और मिली। मन अचंभे में पड़ गया। गाँठ खोल कर देखे बिना मन न माना। पूरियाँ तरकारी और मिठाई। साथ में अचार भी था। मिर्च और नमक की डली भी बाँध रखी थी तुमने।

मेरा मुँह जैसे-का-तैसा खुला रह गया।

हाथ धोने की याद आयी, तो देखा कपड़े से पोटली ढँक कर उठना चाहता हूँ। सोचता हूँ साबुन मिले तो यह हाथों में लगी इंजन से उड़े कोयलों की कालिख को छुड़ा डालूँ। किसी स्टेशन का आसरा देखना पड़ेगा। रास्ते में साबुन कहाँ मिलेगा। सोचते हुए पोटली को लपेट कर

किनारे रख देना चाहता हूँ। चट से आवाज करती हुई कोई चीज नीचे गिरती है।

ऐसा लगा जैसे गाड़ी ठहर गयी है। कहीं जाने की कहीं पहुँचने की इच्छा-चिंता नहीं रही। जल्दी का आवेग मन को परेशान नहीं कर रहा है। धीरे की प्रतारणा मन को उबाती नहीं। सारी दूरी मानो बिंदु-बिंदु करके स्पष्ट होती चली जा रही है। शायद इसी का नाम भ्रमण है। पद-पद पर नवीन परिचय के लिए विश्व मुँह खोले खड़ा है। कदम-कदम पर आरंभ दर्शन की नयी गाँठ खुलती चली जा रही है। मन में खोजने पर भी क्लांति के चिह्न नहीं दिखते, पथ की दूरी मस्तिष्क पर बोझ नहीं डालती। मार्ग के अंत होने की आकुलता नहीं जागती। यह कौन-सी जगह है। किस स्टेशन के बाद कौन-सा स्टेशन आयेगा। कहाँ उतर कर कहाँ जाऊँगा। इन सब बातों का लेखा-जोखा मिट गया है। जहाँ गाड़ी जाकर समाप्त होगी, वहाँ तक का टिकिट जेब में है। बाधा के लिए कोई रास्ता नहीं रह गया है। भ्रमण इससे भी कुछ अलग-अलग हो सकता है इसकी संभावना नहीं जानता।

तुम्हारी पोटली हाथ-की-हाथ में रह गयी है। जैसे किसी ने किसी क्षण को स्टिल कैमरे में पकड़ कर स्नैप ले लिया है। हर चीज़ जहाँ-की-तहाँ ठहरी-ठहरी। एकदम शोख और स्तब्ध।

पोटली को रख धीरे-धीरे फैल कर लेट जाता हूँ। मन अजीब हो उठा है। तुम साथ होतीं तो न जाने क्या कहता, क्या करता। शायद ऐसे ही किसी खोखले खाली क्षणों से ऊब कर उस चतुरी ने (जिस पर मेरा विश्वास नहीं) क्षीर सागर की कल्पना की होगी और वह सागर भरा-पूरा बन गया होगा। लगता है कहीं अनंत में नहीं माँ की छाती में होता है वह क्षीर सागर––ममता का न चुकनेवाला दरिया। शायद उस सागर से भी मन का खोखलापन न मिट पाया होगा। तब अनंत-पति ने अर्धांगिनी बना डाली जो चरणों के दायें बैठी धीरे-धीरे स्पर्श से

वह खोखले खालीपन की पूर्ति कर रही है। मैं फैला पड़ा हूँ। पैर से टोह कर देखना चाहता हूँ। तुम्हारी साड़ी के किसी पल्लू के महीन स्पर्श का अनुभव पाना चाहता हूँ।

तभी एक साहब सामने की सीट से उठकर खड़े होते हुए झुक कर नीचे से कुछ उठाते हुए हाथ बढ़ाकर कहते हैं--यह आपका साबुन गिर पड़ा है।

अब घिसी साबुन की टिकिया हाथ बढ़ाकर उसे लेते हुए मन काँपने लगता है। जानता हूँ पोटली के नीचे यह टिकिया तुमने दबा कर रख दी थी। थोड़ी देर पहले जब वह चट से गिरी थी तो लगा था जैसे किसी ने कन्धे पकड़कर शीतल जल में जबरदस्ती सात बार डुबो दिया हो। हिम्मत ही नहीं पड़ी थी उस टिकिया को उठाने की। इसलिए उसे देखकर अपने से भाग रहा था।

अब इन महाशय ने उठा लिया है—तब बिना लिये रहा नहीं जा सकता। सारा क्षीर सागर बिना लक्ष्मी के सूना लगता है—अकेले में मन के आगे इसे स्वीकार कर लेने में कोई हर्ज नहीं।

कल तक हमेशा जीतता आया हूँ। आज तुम्हारे आगे मेरी पहली हार है। दूर-दूर से मन-ही-मन नमन करता हूँ, देवी तुम्हें!

इस क्षण पहली बार तुमसे कुछ पूछने की कुछ कहने की इच्छा जागी है। आँखों की तरी में तुम्हारा चेहरा स्पष्ट नहीं हो रहा। शायद यह पेट की ज्वाला का आवेग है।

उठता हूँ, हाथ धोता हूँ और सबकी तरह पोटली खोलकर बैठ जाता हूँ। रात की पूरियाँ छिपा कर बाँध दी हैं तुमने। शायद यह तुम्हारी अडिग आस्था थी कि इनका स्वाद न बिगड़ेगा। याद नहीं आता, कभी माँ कहती थीं—स्वाद खाने में नहीं खाना बनानेवाले के हाथ में होता है। आज वह सही लग रहा है।

तुम्हारी वे कंगन की, पायल की, कटि मेखला के घुँघरुओं की किन-किन कान पर बजने लगी हैं। इन पूरियों का स्वाद शायद कभी न भूल सकूँगा। मन की हर सतह पर इसके स्वाद अंकित कर रहा हूँ।

निर्मल !

मेरे दोस्त। आज लगता है तुम्हें दोस्त कहकर केवल अपमान ही करता रहा हूँ तुम्हारा। दोस्ती की परिधि शायद तुमने उस दिन ही तोड़ दी थी जब कि उस बाल अवस्था में तुमने मुझे पीटा था। मारा मैंने भी था--पर अपने से दुगने शरीरवाले के साथ जिस अहं और निर्भीकता से तुम उलझे थे, जिस तरह तुम गुथ गये थे, शायद वहीं मैंने तुमसे हार स्वीकार कर ली थी। वैसे उस भार में मैं कभी उन्नीस नहीं पड़ा; लेकिन आज समझ पा रहा हूँ, साहस का एक दरिया होता है और तुम उसका भर पेट पानी पिये हुए थे। दुनिया सभी देखते हैं, अवसर सब के सामने आता है पर उससे बूड़कर कुछ ही निकलते हैं, जिनके हाथों में मोती होते हैं। सीप के लिए जान खपानेवाले की गणना करने बैठूँ, तो लगेगा आसपास सभी थे, पर मैंने तुम्हारे आगे दोस्ती का हाथ बढ़ा कर भी कभी उस तरह का विश्वास नहीं किया जैसा कि मुझे करना चाहिए था। जब-जब किया फायदे में ही रहा। आज तुम्हारी हर एक बात सही लग रही है। कहाँ सीखी थी यह दुनियादारी ? पढ़े तुम मेरे साथ ही थे--हमेशा मेरी सहायता को तैयार; पर शायद वह मेरा अपना डर था--हीनता का डर कि मैं तुम्हारे लाख कुरेदने पर भी खुल न पाया।

याद है तुम्हें। वह अपनी छोटी कक्षाओं में तेली रघई पढ़ता था, गंगवा तेली का लड़का। उसे मैंने अपना जिगरी बनाया तो सात वर्ष तक उसके चंगुल से छूट न पाया।

आज हँसोगे तुम उसे सुन कर।

मैं भी हँस रहा हूँ। न जाने क्यों उस खाली समय में वह मेरे मन पर चढ़ आया है।

वैसे मेरे घर में तुम्हारे आने की भी मनाही ही थी। वह शायद उस जमाने की बात है, जब दादी अम्माँ का राज था। आज भी वह ज़माना याद करता हूँ तो लगता है शरीर जाड़े से ठिठुर रहा है।

स्कूल से आने के बाद सारे कपड़े खोलकर एक आले में रख देने पड़ते थे। वह आला दालान में थी, जहाँ से भीतरी आँगन शुरू होता था। दादी, अम्मा कहती थी––सभी जात पर-जात पढ़ते हैं स्कूल में। हमारे घर में यह सब नहीं चलेगा। स्कूल का छुतहा कपड़ा अलग !

कल्पना करो छूतवाले कपड़े की। उनका कैसा भयानक, कितना रौद्र रूप छाया था मेरे मन पर। चाहे कितना जाड़ा हो या ठंड घर में घुसते ही कपड़े उतारने का यह द्रविड़ प्राणायम मैं हर बार करते हुए रोता था। मुझे छूत के कीटाणु कहीं कपड़े पर न दिखायी पड़ते थे। ऐसा घर था वह जहाँ मैं पल रहा था। जहाँ बंबे की टोटी को हर बार माँज कर पानी भरा जाता था। दादी अम्मा का कहना था कि बंबे की नली में चमड़ा लगा होता है उससे पानी अशुद्ध हो जाता है। खाना बनाने के लिये हमेशा गंगा जल या कुएँ का पानी आता था। मजदूरिन के माँजे बरतन फिर से कुएँ के पानी या गंगा जल से धोये जाते थे। सफाई आचार-व्यवहार का यह घर और मेरा अन्यतम साथी एक तेली। कभी उसके घर नहीं गया। वह कभी मेरे घर नहीं आया लेकिन जिगरी साथी थे हम लोग। विश्वास होगा तुम्हें !

गर्मी की दोपहर थी और प्यास के मारे कंठ सूख रहा था। तेली तो हमेशा का वही सिकुट्टी मरा-पिटा था, उसे भी न जाने क्यों मेरा साथ भा गया था। रास्ते में उसका घर पड़ता था, अतः अमेशा मेरे पीछे लगा रहता। बिना मुझे लिये घर ही नहीं लौटता। उस दिन एकाएक मेरे मुँह से निकला—यार रघई। बड़ी जोर की प्यास लगी है।

पानी चाहिए। चलो मैं पिलाऊँ।

उसकी दावत पर मैं सकपकाया। उसका घर पास ही आ रहा था। वह बोला—इसमें डरने की क्या बात है। मेरे पास अपनी एक मिट्टी की सुराही है। पानी अभी पिलाये देता हूँ।

इतने में उसका घर आ गया। मैं बिना रुके बढ़ रहा था। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। बोला—'तुम मेरे दोस्त हो, पानी पी लोगे, तो क्या मैं किसी से कहने जाऊँगा। मैं कहता थोड़ी हूँ किसी से। तू रुक, तुझे मेरी कसम। मैं आता हूँ।' और वह तनिक देर में करई में पानी लेकर चला आ रहा है। अनुरोध से बोला—पियो न यार।'

बात टाली नहीं गयी।

शायद उसके दिल में उस समय पानी के प्रति पाप नहीं था; पर एक दिन दो दिन और कई दिनों बाद मुझ से तनिक-सी खट पट होने के बाद वह बोला—'चल घर, मैं चिल्ला कर कहूँगा।'

मेरा चेहरा फक्क हो गया। धीरे-से ही पूछ सका—'क्या?'

यही कि तूने मेरे घर पानी पिया है।

उस एक कुल्हड़ पानी से बदले न जाने कितने रबड़, कितनी किताबें, कितनी पेंसिलें, कितने पैसे मैं उसे हमेशा देता रहा हूँ। और पाटता रहा हमेशा उसके मुँह की खाई।

कई साल तक जब तक कि अकल नहीं पकी मैं उस छूत के डर का गुलाम था। उसके जरा-से कहने पर—चल घर कहता हूँ कि मुझे अपनी दादी का भयानक मुँह याद आ जाता, जो भरे जाड़े में कपड़े न बदलने पर बालटी का पूरा पानी मेरे ऊपर उँडेल देती थीं। फिर कोई गीले कपड़े खोल देता था। कभी-कभी मैं जिद कर बैठता था, तो माँ कपड़े बदलती थी और मुझे छू लेने के कारण उन्हें जा कर नहाना पड़ता था सिर धोकर।

कितनी बार मैंने देखा था दादी माँ घर से बाहर निकली और तुरंत बाद ही फ़ौरन लौट कर बम्बे में सिर मल कर नहा रही है। मैं अपने से पूछता था—'क्यों?'

शायद रास्ते में कुत्ते का गू पड़ा था।

शायद क्या कोरा शक और शक का इतना बड़ा उपचार।

मैंने सुना था पड़ोस के कोई आदमी विलायत गये थे। वह अपनी जात के नहीं थे। लौट कर उन्हें गोबर मल कर नहाना पड़ा था, क्योंकि वह मलेक्षों के यहाँ पानी पी आये थे, खाद्य-अखाद्य खा आये थे। शुद्धि के लिए उनको गो-मूत्र पीना पड़ा था। मैं मलेक्ष से परिचित नहीं था, लेकिन मलेक्ष विलायत में रहता है। वह तेली की तरह काला नहीं है, यह समझता था। उसके देश के लोग बादशाह हैं हमारे। फिर! वह तेली से ऊपर ही होंगे। तब तो मुझे शुद्धि के लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ेगा। रघई के एक करई पानी की सजा याद कर मैं उसका गुलाम न होता, तो और क्या करता! कोई चारा था मेरे लिये।

ऐसे अनगिनत डरों की मैं याद कर सकता हूँ, जिन्होंने मेरे मन को अन्दर-ही-अन्दर खा डाला है, खोखला किया है। आज मैं उन डरों से मुक्ति पाने के लिए क्या नहीं कर डालना चाहता। लगता है मेरा शरीर ऊपर से देखने में कितना ही भरा-पूरा क्यों न हो, अन्दर का मन बड़ा-बूढ़ा रोगी ऐसा हो गया है, जो अच्छा नहीं होगा। इस रोगी मन से भागने के लिए क्या-क्या न करना पड़ेगा मुझे।

एक क्षण के साहस में मैं न जाने क्या-क्या कह सकता था! वह क्षण संवेदना का होता है जब अन्तर मूढ़ बन जाता है, फिर दूसरे क्षण लगता है कि मैं अपने-आप का सामना करने के अयोग्य हूँ, बिल्कुल अयोग्य।

निर्मल भाई यह कहानी तुम कई बार पूछ चुके हो। उस दिन भी तुमने पूछा था, जब मैं गौने के लिये जा रहा था। तब मेरे मन में एक बहुत बड़ा प्रश्न था। मैं बन्नो को अपनी पत्नी कभी समझ ही नहीं सका।

गुड्डे की तरह कब दो गाँठ हलदी रख भाँवर फेरी गयी मुझे याद नहीं। यदि सब कुछ इसी पैतृक घर की मति से होनेवाला था तो मुझे प्रकाश की इन किरणों से परिचित करा कर क्यों हतबुद्धिवाला बना दिया गया। संशय की यह दुधारी तलवार क्यों बाँध दी गयी कि मैं अपने-आप की जवाबदेही देते-देते थक कर बीमार हो जाऊँ।

बन्नो का विरोध करने की ताकत मुझमें नहीं है, लेकिन यह घर, मेरा घर जिसे मैं छोड़ आया हूँ वह सब उसके योग्य न थे।

बन्नो मेरी कौन है ? मैं उसे बचपन से एक छोटी पड़ोसिन के रूप से ही जानता रहा हूँ, जो मुझसे तेज़ है, चतुर है, बातूनी है।

फिर एक दिन यह बात कान में पड़ गयी। बन्नो मेरी बाल-व्याहता है। उसकी माँग में जो चटक लाल रंग की सिन्दूर रेखा भरी है, वह कभी मेरी चुटकियों से भरी गयी थी। इतिहास की कक्षा में शारदा ऐक्ट की बात पढ़ाई गयी थी। लार्ड कार्नवालिस के सुधारों को मैंने प्रश्न-पत्र में लिखा था। मैंने रात-रात जाग कर वह सब कुछ रटा था, जो इस देश को अँगरेजों की देन थी। याद नहीं आता ये किस कक्षा की बातें हैं। वे किस कक्षा के प्रश्न थे। लेकिन ठगी प्रथा, सती प्रथा और बाल-विवाह के विरोध में की गयी सारी घटनाएँ मस्तिष्क में भरी थीं कि एक दिन किसी ने कहा--'बन्नो के यहाँ से सावन की त्योहारी आयी है।'

तब पता लगा बन्नो हमारी बिरादरी की होगी।

कोई बोला--'लड़के के बड़े अच्छे कपड़े दिये हैं सास ने।'

मैं भी उत्सुकता से झाँकने लगा।

पटनेवाली भाभी मौजूद हैं। नयी-नयी आयी हैं। उन्हें देख एकाएक ऐसा लगा—शायद देवियाँ ऐसी ही होती होंगी। उनका उस समय का चेहरा दिमाग से उतर गया है। लेकिन वह माथे का गोल बड़ा टीका, पतले अधरों को अतिरंजित किये पान। कान का बाला। सब कुछ मिला

कर ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मैं अंदर-ही-अंदर श्रद्धा में डूब गया हूँ। भीतर-ही-भीतर से नमन कर रहा हूँ।

उन्होंने हाथ खींचकर गोद में बैठा लिया है। वह कह रही हैं—'एकदम अपने भैया की तरह है।'

वह टोपी नाप रही हैं। मेरे सिर पर रख रही हैं। मैं छटक भागना चाहता हूँ। वह खिलखिलाती हैं—'चोर-चोर मौसेरे भाई। एकदम भाई की-सी आदत है।'

पटनेवाली भाभी मेरे ममेरे भाई की पत्नी हैं। वह बकती जा रही हैं—'उमर का ही अंतर है। एक पैंट में, दूसरा धोती कुरते में बस।'

मैं बचपन से ही निकर-कोट पहनता रहा हूँ। माँ की सनकी आदत को क्या कहूँ। भाभी को पहले कभी नहीं देखा। कौन-सी आदत उन्होंने मेरी परख ली है। कौन-सी मेरी आदत भैया से मेल खा गयी है। क्या मैं कुछ समझ पाया था। भाभी की खिलखिलाहट कानों पर कब बजने लगेगी। कब उनकी याद आ जायेगी, इसके लिये मन पर जोर नहीं डालना पड़ता।

सास के कपड़ों की बात भाभी की नयी बात के आगे हल्की पड़ गयी थी। फिर एक दिन सास के दिये गये कपड़े सिलकर आ गये। माँ ने सब सामने रखकर कहा—'जो मन में आये पहन ले। यह सगुन के हैं।'

'सगुन के . . . सास के!'—अपने आप दोहराता हूँ। और पैर से थाली उलट देता हूँ।

खन्खना कर थाली उलट जाती है।

माँ एकदम से चौंककर घूमती हैं। मैं क्रोध से जला-मरा बैठा हूँ। वह पूछती हैं—'क्या हुआ? कहीं चोट तो नहीं लगी?'

माँ के भोलेपन पर आज हँस सकता हूँ, पर उस समय मैंने जोर-से कहा था—'नहीं चाहिए मुझे यह कपड़े। लौटा दो। यह भीख के कपड़े नहीं पहनता मैं।'

माँ हैरान हैं। वह पुचकारती हुई कहती हैं—'ऐसा नहीं कहते बेटे! यह पूजा के कपड़े हैं। तूने देवी के आगे, आगी के आगे, सूरज के आगे पूजा की है। वह तेरी बीवी के घर के कपड़े हैं, दुलहन के घर के।'

और वह निरर्थक हँसने की चेष्टा करती हैं।

पूजा और देवी के आगे व्यक्ति का सब कुछ टूट जाता है। उसके सारे विरोध का गला घुट जाता है।

क्या कह सकते हो मनुष्य ने धर्म की कल्पना अपनी सुविधा और सहूलियत के लिए बनायी थी। मैंने तो कभी उसमें ऐसी सहूलियतें नहीं देखीं।

मुझे तो धर्म, जबरन छाती पर चढ़कर बचपन से ही घुट्टी में घोल-कर पिलाया गया है। साथ ही विरोध करने की आदतवाले बिरवे को भी समय-समय पर पानी डालकर सींचा गया है। वह जो बहुत ही पहले कुम्हला जाना चाहिए था, मर जाना चाहिए था, आज भी पीछे लगा है।

ठीक है। मैं अनमने मन से सह लेता हूँ। माँ कपड़े पहना देती हैं। मैं बाहर निकलता हूँ। बाबू सामने पड़ जाते हैं। मैं उनको देख कर आगे निकल जाना चाहता हूँ। वह पुकारते हैं—'सुन बे, सारे! ऐसन भागत है जैसन बाहर नाच होत है।'

मेरे पैर जहाँ-के-तहाँ ठिठक जाते हैं।

'इधर आ न, सारे!'

मैं भीतर-ही-भीतर खौल रहा हूँ।

वह जब प्यार से भी बोलते हैं तो गाली देकर इतना तेज बोलते हैं कि बहुत देर तक कान के परदे झनझंनाने लगें। मैं अभी भी वहीं खड़ा हूँ। उनके हाथ में गुड़गुड़ी है। वह मेरे पास आ झुकते हुए कहते हैं—'कपड़ा तो नीक सिला है।' कहते हुए वह हाथ से मेरी कमीज़ की कालर टटोलते हैं। उनके मुँह से निकला हुआ ढेर सारा धुआँ मेरे आँख-कान के

आस-पास चक्कर काट रहा है। मेरा सिर भन्नाता है उसकी कड़वी गंध से। मैं साँस रोकने की भरसक कोशिश करता हूँ—कि एकाएक जोर से खाँसी उठ खड़ी होती है। बाबू को अपनी गलती समझ में आती है। वह हँसने की भरसक चेष्टा करते हैं—लेकिन हँस नहीं पाते।

दूर बैठे चाचा कहते हैं—'कपड़ा तो अच्छा लागत है। बन्नो की महतारीवाला है।'

'हाँ, सावन की त्यौहारी में आये रहा।'

बाबू हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कह जाते हैं।

सास, सावन, बन्नो और कपड़े की यह सारी मिली-जुली बातें ऐसे लगती हैं जैसे सारे बदन में किसी ने चिनगी भर दी हो। चाहता हूँ किसी तरह ये कपड़े उतार कर फेंक दूँ। पर तब तक मैं निकल भागता हूँ। घर से बाहर गली और सड़क में पहुँचते-पहुँचते बात मर जाती है।

आये दिन कुछ-न-कुछ त्यौहार साल भर होता रहता है। कुछ-न-कुछ रिश्ता बन्नो से बढ़ता जाता है।

आज होली है।

खूब याद है मुझे पिछले साल की। पिछले साल भी बन्नो के घर गया था। मीठे नमकीन पकवान उसने मेरे साथ खाये थे। बन्नो की माँ ने साँझ को भी कपड़े रंग से गीले कर दिये थे। पर उस साल की बात और थी।

इस साल जैसे मेरे पैर अपने-आप ही गली में कस जाते हैं। मैं उस घर की तरफ निगाह ही नहीं उठा पाता। जैसे मन में एक चोर समा गया है। वह घर, वह गली, वह खिड़की, वह दरवाजे—उन सब का अस्तित्व ही नकार जाना चाहता हूँ। सोचता हूँ मेरा यह फूहड़ प्रयास क्या ठीक उसी तरह से नहीं था, जैसे एक सज्जन जो बारह बजे कहने से चिढ़ते थे कि एक दिन घंटाघर की सूई पकड़ कर लटके पाये गये।

पौने बारह का समय था और वह सज्जन उसमें लटके चिल्ला रहे थे—'आज मैं साले को बजने न दूँगा।'

मैं वह सज्जन नहीं था, लेकिन उस समय की यह लड़कबुद्धि उस उन से कम नहीं थीं। मैं अपन स्मृति-पटल से वह सब मेट देना चाहता था, जो हो रहा था। सम्भावी को असम्भावी समझने और बनाने की यह क्रिया इतिहास के लिए नयी हो या न हो, मेरे जीवन में उसकी पुनरावृत्ति नयी ही थी।

होली के सारे दिन दूर मुहल्ले में, निर्मल, मैं तुम्हारे साथ भटकता रहा। तुमने कई बार पूछा था——आज घर नहीं जाओगे। मैं बिना सीधा उत्तर दिये टाल गया था।

वैसे ही गंदे रंगे-फटे कपड़े पहने तुम्हारा साथ छोड़ने के बाद कंपनी बाग में एक बेंच पर बैठ कर मैंने सारी साँझ बितायी थी। उस र ाँझ का एक-एक पल इस समय भी मेरे मन में पूरे जीवन के साथ चक्कर काट रहा है। जैसे लगता है अभी भी मैं उस फूलों से लदे बाग में लोहे की बेंच पर बैठा हूँ। विक्टोरिया की मूर्ति पर बने महराब से ऊपर एक कबूतर मेरी तरह ऊँघ रहा है। सारा बाग एकदम नीरव शांत है। एक पागल बाबा, जो मौलश्री के पेड़ के नीचे जो दिन के चौबीस घंटे, महीने के तीस दिन, साल के बारहों महीने इस बाग में अड्डा जमाये, बाँसुरी पर कोई बड़ी उजड़ी-सी धुन बजा रहा है। मेरी उमर उस धुन को पकड़ने की नहीं है। विरह से मेरा साबका नहीं पड़ा है। खाने-खेलने की अवस्था में ही बुजुर्ग बन जाने की निरर्थक चेष्टा में इस साँझ को काट रहा हूँ। अंतर मन की चट्टान पर उस मणिहीन साँप की तरह सिर पटक रहा हूँ, जो अनजाने मे किये गये नुकसान की पूर्ति न कर पाने पर हताश हुआ सिर धुनता है, निष्प्रयोजन—निराधार।

घर लौटकर आता हूँ तो बाप-चाचा सभी नशे में धुत हैं। कबीरा गाया जा रहा है। इस सारे कोलाहल के बीच मौत की-सी शांति दिखती है

मुझे। बस चले तो इन फूहड़ गानेवालों को मार-मारकर भगा दूँ। फिर सोचता हूँ क्या बिसात है एक तिनके की इस आँधी में। घर से भगा दूँगा––मन से नहीं भगा सकता।

वे सब जोर से बाजे पीट रहे हैं।

'बम् सर्-र्-र् कबीर...' और फिर भद्दी खुली गालियाँ...भलेमानुसों का घर...!

कहीं भी कोई तारतम्य नहीं मिलता।

अंदर जाता हूँ। माँ चुप-चुप बैठी हैं। जैसे सब कुछ खत्म हो चुका है। कोई काम नहीं। चूल्हा ठंडा पड़ा है।

मुझे पुचकारती हुई मेरे सिर पर हाथ फेर कर पूछती हैं––'कहाँ रहा दिन भर?'

'होली के दिन भी घर में ही रहा जाता है।'––मैं अपनी आँखों को अधिक फैला कर पूछता हूँ।

'त्योहार के दिन इस तरह नहीं फिरते, मेरे लाल!'

'मुझे भूख लगी है। खाना दो।'

इसी बीच बाहर जोर से कहकहे की आवाज आती है। इसमें से जो सब से तेज आवाज़ है वह मेरे बाबू की है। हर आदमी से ऊँची और हर आवाज से बुलंद।

कौन-सा बेटा है जिसके दिमाग़ में अपने बाप के लिए स्वर्ग का सब से ऊँचा सिंहासन नहीं रहता। हर बेटा सोचता है––उसका बाप दुनिया का सब से बड़ा बहादुर, सबसे बड़ा उपकारक, सबसे बड़ा सत्यवादी है। महान् की जितनी बड़ी कल्पना इस विश्व की ओर-छोर में सभव है, वह अपने बाप में देखता है और चाहता है कि यह उसके बाप की कुव्वत है जो उन सबको पूरा कर दिखायेगा। धीरे-धीरे जैसे-जैसे बेटे को दुनिया की यथार्थता का पता लगता है जीवन के क़ड़वेपन से परिचय मिलता है तो वह

वास्तविक धरातल पर जीने लगता है। लेकिन मेरे साथ सब कुछ बड़े ही गलत तरीके से शुरू हुआ। मुझे अच्छी तरह याद है बाप की पहली स्मृति मुझे उस अखाड़े के चित्र दिखाती है, जहाँ दंगल हो रहा था। मेरे बाबू ने कुश्ती मारी थी और मुझे हाथ में ऊपर उठाकर वह सारे अखाड़े में घूमे थे। उस समय की किलकारी आज भी कभी-कभी हुलास भर जाती है। कैसी तालियाँ बज रही थी चारों ओर।

मेरा वचपन अधिकाधिक बाबा साहब की गोदी में कटा है। मैं बाप से दूर ही दूर रहा हूँ। क्योंकि याद नहीं पड़ता कि कभी भी बाबू की गोद प्यार से चढ़कर बैठा हू। बाबा की गोद में बैठा-बैठा टुकर-टुकर ताकता ही रहा हूँ। देखता रहा हूँ बाबू कह कर जो लोग भी मेरी ओर से उन्हें संबोधित करते थे, वह हमेशा ही रूखी नज़र देखकर शांत हो जाते थे। अधिक-से-अधिक कभी वह मेरे पास खड़े होते तो उठाकर जोर से हवा में उछाल देते थे। शायद मेरे और उनके बीच समय का ही इतना बड़ा अंतर था कि मैं लाख चाहने पर भी वह अपनत्व न पैदा कर सका, जो संभवतः एक बाप-बेटे के बीच साधारण रूप से होता है। मेरा पाला किसी दूसरे बाप से नहीं पड़ा और न स्वयं मैं ही अभी बाप का पार्ट अदा कर पाया हूँ इसलिए हो सकता है जो कुछ सोचता हूँ, उसमें त्रुटि हो, अपने दायरे के खोटे अनुभव के आधार पर ही मैंने यह सोचा था—अपने-आप नहीं सोचा था। शायद समय, घर, वातावरण जिसका भी मुझ पर प्रभाव पड़ा है, उसने यही चेताया और मैं उस प्यार के, उस स्नेह के घेरे से छिटकता ही रहा। इधर के कुछ अंतिम दिनों में मैंने बाबू की आँखों में जो प्यार की झलक देखी है, वह मेरी समझ से ढलते हुए शरीर से स्वार्थ की ही गंध अधिक लाती थी।

वह भरा-भरा शरीर, वह हुमक कर चलनेवाला आदमी मेरा बाप होगा—मैं कई बार अचरज कर बैठता था। जैसे अंतर में यह बात जमती ही नहीं थी और उस बात को घृणा में परिवर्तित करने की बहुत

काफी जिम्मेदारी बाप के प्यार की भी है। जब जवानी के उतार में बाबू ने घर छोड़ दिया था--जब वह अधिकाधिक सुरा-सुन्दरी के उपासक हो उठे थे, उन दिनों मैं स्थिति पूरी तरह नहीं समझ सकता था; लेकिन बाबा हमेशा उनके पीठ पीछे बिगड़ते रहते थे। उनके सारे ताने, सारे उलाहने, चरित्र को इंगित करके ही कहे जाते थे। बाबा की बूढ़ी टाँगों के बीच दबा मैं उन सारे शब्दों को आत्मसात करता रहता था, जो मेरे लिये उन दिनों अर्थहीन थे।

आज याद आता है, बच्चे बड़े हों या बूढ़े, यह तो शरीर ही बढ़ता-घटता है। आत्मा का स्वरूप चिरंतन है। वह बूढ़े या बालक सभी में एक समान होती है। बच्चे नकल उतारने में हातिम होते हैं। बुजुर्ग यह नहीं जानते कि जब वह बच्चों से यह पूछते हैं—'बेटा, बताओ तो तुम्हारे बाबा कैसे बिगड़ते हैं, तुम्हारे बाबू कैसे गुस्सा होते हैं। दादी कैसे मुँह चलाती हैं, तो शायद उनका आशय केवल बच्चे की भोली प्रकृति से, उसके छोटे से मुँह से बिगड़े स्वभाव भर देखने का होता है। वह यह नहीं जानते कि वह अनजाने म बच्चों के मन में क्या-क्या बो रहे हैं।

आज भी बाबा का नाम लेते ही अंतर में बिना पूछे ही, बिना किसी संकेत के कुछ शब्द नाचने लगते हैं। ये शब्द वही होते हैं—'बेटा, राजू, तुम्हारे बाबा कैसे पुकारते हैं।'

मैं पूरे वेग से निकलनेवाले शब्द को जबरन रोक लेता हूँ। अन्यथा चीख पड़ता उसी तेज स्वर में और शब्द होता—'बैजू !'

'चुप !'

'बैजू ! नहीं है। चला गया। गया होगा अपने बाप का मुँह फूँकने।'

अंतिम दिनों में बाबा बहुत दुःखी हो उठे थे। मैंने देखा है, कई-कई दिन वह बेटे के आसरे में रात भर जागते रह जाते थे। बेटा नशे में धुत मुजरा सुनकर लौटता होता था। उस हालत में वह उसे क्या समझा पाते थे ?

ंडी, मुजरा, नशा, बोतल यह कुछ ऐसे रटे हुए शब्द थे, जिनका मतलब समझने के लिए मुझे किसी स्कूल में नहीं जाना पड़ा था।

एक दिन दोपहर थी।

मैं बहुत ही छोटा था। पट्टी नहीं पुजी थी। मैं गर्मी की दोपहर को फर्शी हुक्के की निगाली मुँह में लगाकर आराम-कुर्सी पर पैर फैला कर ठीक उसी तरह नकल कर रहा था जैसे बाबा करते थे। वे गुसल गये थे। लौटकर आये तो उनका माथा ठनका। मुझे गोद में उठाये अंदर पहुँचे और अम्मा के आगे करते हुए बोले—'लो सुपुत्र की। यह मेरा हुक्का पी रहे थे।' और दूसरे हाथ में पकड़ी चिलम को आँगन में फेंकते हुए बोले—'आज से मैंने हुक्का पीना छोड़ा।'

काले-काले अधजले कोयले, लालखरी मिट्टी के चिलम के टुकड़े मेरी आँखों के आगे अभी भी बिखरे पड़े हैं। माँ रुआँसी खड़ी हैं। मेरी समझ में अपनी भूल नहीं आ पायी थी। आज समझ में आ रही है।

बाबा बीमार है। डाक्टर कहता है एकाएक तमाखू छूट जाने से हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है। वह दवाई देते हैं। मैं माँ से पूछ रहा हूँ—'अम्मा, बाबा अच्छा नहीं होई! का अम्मा?'

वह मुझे अपने कलेजे से चिपटा लेती हैं। मुझे समझाती हैं।

मैं चिलम लग फर्शी हुक्के की नली लिये बाबा की चारपाई के पास खड़ा हूँ। मेरी आँखें आँसू से भरी हैं। मैं बुदबुदा कर कहता हूँ—'हमका माफ करो, बाबा! हम गलती न करब। कबौं न करब। हुक्का तैयार है। पी लेव खाँसी कम होय जायी।'

वह कहते हैं—'अरे मर्द की जबान एक होती है, बेटा!'

मैं उनके कहे का मतलब नहीं समझ पाता हूँ। अम्मा के रटे-रटाये शब्द फिर दोहराता हूँ। बाबा फिर उसी तरह खाँसी रोक कर कहते हैं।—'एक बार कह दिया, छोड़ दिया सो छोड़ दिया।'

बाबा नहीं समझते--बच्चों के भी कोई दिल होता है, जो टूट जाता है। अपने किये का कितना क्षोभ है मुझे।

लोग कहते हैं। बाबा के झटका लगा है। साँस उलटी चल रही है। बाबा फटी-फटी आँख से सभी की ओर देख रहे हैं। सभी कोई हैं। मेरे बाबू नहीं हैं। बहुत-से आदमी उन्हें खोजने गये हैं।

सब लोग एकदम से चिल्लाने लगे हैं। झूमते हुए बाबू को दो आदमी पकड़कर लाये हैं। वह आज भी गाली बक रहे हैं।

कोठरी में जलता हुआ दीया बुझा दिया गया है।

चार आदमी पकड़कर बाबा को आँगन में उठा लाये हैं। उनका शरीर एक सफेद चदरे से ढँका है। मैं अकेला खड़ा हूँ। मुझसे कोई नहीं बोलता।

मैं सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ। जैसे बाबा मेरे ही कारण मर गये हैं। मर गये हैं! क्यों मर गये हैं? क्या बाबा अब कभी न बोलेंगे? बैठक की दीवाल-घड़ी जब बोलते-बोलते बंद हो जाती है, तो उसे ठीक कर दिया जाता है, जरा-सा हिलाया-डुलाया जाता है। वह फिर चलने लगती है। क्या बाबा उस घड़ी से भी गये गुजरे हैं। वह क्यों नहीं बोलेंगे। मर जाने के बाद लोग मरे हुए को, फूल में लपेट कर ले जाते हैं। जब सड़क से उसे ले जाते हैं, तो देखनेवाले सारे बच्चे सिर पर हाथ रख लेते हैं। मेरे यहाँ तो कोई सिर पर हाथ नहीं रखे हैं।

रात बीत गयी है।

मैं सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ। खड़ा हूँ। चुप हूँ। सब अपने-अपने काम में लगे हैं। कोई मुझसे नहीं बोलता, मुझसे नहीं पूछता। मैं सबको रोते देखकर आँसू भर लेता हूँ। सामने औरतों का झुंड चद्दर ओढ़ बैठा है। उनकी गोल में बन्नो भी बैठी है। बुजुर्ग-सी लगती है। मेरी

आँखें उसे देखते ही और वेग से बरस चलीं। मैंने दीवाल की ओर मुँह फेर लिया है।

चाचा मुझे घसीट कर हाथ पकड़ कर दीवाल से हटाते हुए कहते हैं––'देख तो, तू ही तो भाग्यशाली है। बाबा की मिट्टी स्वारथ कर। बढ़ पैर छू बाबा के। मोरछल हाँक बाबा के।'

वह जबरन मेरे हाथ में मोरछल पकड़ाने की चेष्टा करते हैं। मेरी बाँहों से पकड़ मुझे उठा उस जगह ले जाते हैं, जहाँ बाबा का पैर है। मेरा सिर जबरन बाबा के पैरों पर झुका देते हैं।

यह सब मैं नहीं चाहता, नहीं चाहता, नहीं चाहता।

जोर-जबरदस्ती हमारे यहाँ सभी के खून में शामिल है। मेरा जी एकाएक धक्क से रह जाता है। मेरी आँख बाबा के खुले मुँह पर जा टिकती है। उनकी आँखें खुली हैं। ऐसी जैसे वह लेटे हैं। सपना देख रहे हैं।

मैं एक-टक देख रहा हूँ। एक पल, दो पल। फिर जैसे मन में हाहाकार मच उठता है। मैं जोर से रोना चाहता हूँ। सभी लोग रो रहे हैं। सब को रोते देखकर––यहाँ तक कि अपने बाबू को भी रोते देखकर मेरा जी अंदर-अंदर सहम जाता है। जो कुछ अंदर है, वह मैं खुद भोग रहा हूँ। लगता है मैं अब लड़का नहीं रह गया हूँ। मैं नहीं रोता। यह बात शायद बाबू को रोते देखकर मेरे मन में उठी है। मैं नहीं रोऊँगा। लोग कहते हैं––'बड़ा कुसीला है।'

बाबा बहुत चाहते थे। उनको एक हाथ मोरछल भी नहीं हिलाता। और लोग शंख बजा रहे हैं। घंटा बजा रहे हैं।

राम नाम सत्य है !

सत्य बोलो मुक्ति है !!

सभी के मुख से यह आवाज फूट पड़ती है।

अर्थी उठा कर लोग चल पड़े हैं।

मैं अपने को रोक नहीं पाता।

चल पड़ता हूँ, लोगों के आगे-आगे। बढ़ रहा हूँ। कोई टोकता है—'बच्चे तू कहाँ जायेगा?'

कुछ लोग कहते ह—'लड़के को पकड़ो। लड़के को घर में रखो।'

मैं नहीं मानता। चाचा गोद में उठा लेते हैं। फिर मैं गोद से उतर जाता हूँ।

गाड़ी चलते-चलते रुक गयी है।

मैं सोचते-सोचते चुप बैठ गया हूँ।

मन एकदम खाली लग रहा है।

चारो ओर अँधेरा है। जैसे अभी-अभी मैंने अपना कोई स्वजन खो दिया हो। मन में उस खोये प्राणी के प्रति हाहाकार मच गया है। दुःख जब सीमा से पार हो जाता है तब...तब शायद आदमी उलटी दशा को चलने लगता है। मन लौट पड़ता है घर से बाहर। घर से दूर, बहुत दूर।

आज बहुत दिनों बाद—एक स्वप्न पूरा होगा। मैं मुक्ति की तलाश में कुछ खोने, कुछ पाने की लालसा लगाये बहुत दिनों से बैठा था। अब विश्वास हो रहा है—अतीत क्यों श्रेयस्कर है। पुरानी बातें मन को जब-तब क्यों गूँधती रहती हैं।

मैं सब कुछ पीछे छोड़ आया हूँ लेकिन मेरे पास ऐसा कोई तरीका नहीं, जिससे अपने अतीत को काटकर अलग कर सकूँ।

मैं सब कुछ नये सिरे से नया शुरू करना चाहता हूँ। नये के लिए पुराने की जरूरत नहीं पड़ेगी। परंतु जितना इस पुराने से भागने की चेष्टा करता हूँ। उतना ही वह सब पकड़ने दौड़ती हैं। शायद यह भी सृष्टि के अधिनियमों में से एक हो। नहीं जानता।

अब तो मैंने अपने को समय की लहरों पर छोड़ दिया है। नाव की पतवार हवा के सहारे छोड़ दी है। नाव से लंगर काट फेंका है।

चाहता था डायरी रखकर वह सब लिखता चलूँ, जो बीतने के लिए आयेगा। पर किसके आगे यह सारा लेखा-जोखा रखना है। कृपण नहीं हूँ। बनियाँ वृत्ति आती नहीं। उन्मुक्त हाथों से इस जीवन को लुटाने निकला हूँ। ग़म पीकर कलेजा भर गया है। अब उस अनादि की सत्ता में विश्वास नहीं होता, फिर भी न जाने क्यों स्कूल की उस प्रार्थना की दो पंक्तियाँ बार-बार याद आ रही हैं। तुम्हें भी याद होंगी निर्मल भाई—

ईश्वर अंश अनंत अनादी

पूजन ब्रह्म सनातन रे।

और इनके अर्थ मन को नहीं छूते। शब्द अच्छे लगते हैं। उनको गुनगुना रहा हूँ।

औरत जो देखती हैं उससे ज्यादा पैदा कर देती हैं। सारा फल उनकी नजरों का ही होता है यह उस दिन, यह उस विशाल नगरी में ही समझ सका।

कन्याकुमारी के चरणों में खड़े होकर उत्तर की ओर विंध्य और उससे आगे कैलास की श्रेणियों की कल्पना में लीन खड़ा रहा। हिन्द सागर मन्दिर के पैर पखारता है। यहाँ अपने उधर के आदमियों के दर्शन नहीं होते। कभी-कभी कोई यात्री दिख जाता है, तो साधु-साधु काला बगलें कतराता है। जितने दिन रहा अपनी भाषा बोलने को तरस गया।

वहाँ से भागा पांडिचेरी। बड़ा मनोरम आश्रम है। बहुत दिनों तक पड़ाव डालने की तबियत थी। हर और शश्य श्यामला, सुजलाम् सुफलाम् ही दिखता था। सोचा कुछ दिन बसेरा करके ही चलूँगा।

एक दिन रात में फिर वही माँ वाला स्वप्न दिखा, भयानक स्वप्न। जिस कोठरी में रहता था वहीं बड़ी देर तक चीखता पड़ा रहा। सामने की खिड़की खुली थी। जरा नींद टूटी तो सुना, लोग कह रहे थे—'ख्वाब गिरा, ख्वाब गिरा !'

याद आया निकला था लुटाने—संचय के लिए तो नहीं। एक दिन माता के दर्शन करने को जी चाहता था। वहाँ का जो बंदोबस्त देखा उससे मन पूरा-पूरा उखड़ गया। भाग चला।

बंबई में फिर समुद्र के दर्शन हुए। यहाँ किसी होटल में रहने से जी ऊबता था। हर दिन नयी जगह जा ठहरता। बड़े से बड़े होटल देखे। लगा पिछली जगह से हर नई जगह ज्यादा खतरनाक है। कभी अपने पर चकित होता, कभी अपने को विमूढ़ और अपमानित समझता। सोचा, कहीं किराये का अतिथि बन जाऊँ। उसके लिए दलाल करना पड़ा।

साँझ ढलते-ढलते दलाल एक कोठरी दिखाने ले चला। बड़ा शहर, नयी जगह, ठगा जाऊँगा इसकी चिंता नहीं थी। जीवन देखने की इच्छा थी सो चल पड़ा था। महल्ला क्या और कहाँ था वह भूल गया हूँ। कोई गंदी-सी चाल थी, दो कमरों वाली। बाहर के कमरे में जा खड़ा हुआ। चारों ओर अँधेरा था। यह प्रेतपुरी अजीब थी ! भाग जाने का साहस मालिक को देखते ही काफूर हो गया। चारों ओर से कट-कट, कुट-कुट सुनाई पड़ रही थी। ऐसी सीलन, ऐसी गंदगी कि बस !

'तुम यहाँ रहते हो।'

'हाँ' वह उसी तरह बोला—'बत्ती के लिए इंतजाम करना पड़ेगा।' कह कर वह अंदर चला गया।

मैं उसी अँधेरे में खड़ा रह गया।

याद आया एक दिन ऐसे ही अँधेरे में बन्नो ने अपना आत्मगोपन खो दिया था। अजीब-सी घटना थी, वह भी। उसे मैं जब का तब ही भूल

गया था। मेरे लिए तो जैसे वह घटना घटी ही नहीं थी। पर इस अँधेरे में वह स्पष्ट हो आयी थी। बन्नो के कहे एक एक शब्द मन के अंदर जाग पड़े थे।

उस रात बन्नो को इस तरह एकाएक सामने देखकर मैं चौंक उठा था। पर लगा डर की कोई बात नहीं थी। बड़ी मामूली-सी घटना थी। मंदिर-शिवालय में इस तरह रोज ही होता था। बन्नो के घर के पास भी एक मन्दिर था। कंठी वाले पुरोहित जी पुजारी थे। हमेशा शाम की आरती लेकर बन्नो की अम्मा जाया करती थीं। बन्नो बड़ी हो गयी थी। रोज शाम को कपड़े बदल मन्दिर में ज़ाने का पौरुष नहीं रहा था, बन्नो की अम्मा का। सो वह साथ में बन्नो को ले जाने लगी थीं। फिर कभी-कभी बन्नो की अम्मा जा भी नहीं पाती थीं। बन्नो ही अकेली जाती रही। रोज जाती रही। पुरोहित जी पुरनियाँ आदमी थे। भजन-कीर्तन में ही कटी थी जिन्दगी। राधा के प्रेम-गीतों को बड़ी तन्मयता और भक्ति से गाते रहते थे। हर समय करताल और मजीरा हाथ में रहता था। मुँह में--भज गोविदम् हरे मुरारे--की ही धुन रहती थी।

एक बार घटना-चक्र घूमा। बन्नो एक दिन मंदिर में न जा सकी। लगातार तीन दिन का अंतर पड़ गया। अगले दिन सिर धोकर रूखे बालों से वह आरती लेकर पहुँची, तो पंडित जी निराश से बैठे थे। जैसे बन्नो के न आने से बड़ी क्षति हुई हो उनकी।

'कल नहीं आयी?'

'नहीं आ सकी।'

'उसके पहले भी नहीं आयी थीं।'

'आना नहीं था।'—दबी ज़बान से कहा बन्नो ने।

'क्यों?'—निर्लिप्त भाव से पुजारी जी कह गये।

बन्नो जड़ की तरह टुकुर-टुकुर ताकती खड़ी थी। कपोल लाल हो उठे थे। गाल जलने लगे थे। आँखें चमक आयी थीं। माथा का पल्ला उसने नीचा कर लिया था।

पंडित जी घंटी बजाते हुए कहते जा रहे थे। गोपाल की राधा मन्दिर में नहीं शर्माती और वह भी वंसरी वाले के सामने! छी छी। नहीं आने का कारण भी तो होगा। डरती क्यों है?

बन्नो की समझ में नहीं आया था—वह क्या कहे। केवल हकला कर घबरा उठी थी। सारा शरीर लता की तरह काँप रहा था।

पंडित जी अपने ही आप थोड़ी देर गोमुखी में हाथ डाले कुछ बड़-बड़ाते जा रहे थे। उनकी आँखें बन्द थीं। बन्नो कितनी कठिनाई से कह सकी होगी—'मैं अलग थी, मुझे आना नहीं था।'

'ओ समझा! राधे, राधे! पहले क्यों नहीं कहा'—और पंडित जी फिर अपनी क्रिया में रत हो गय।

फिर वही पुराना क्रम चलने लगा था। बन्नो रोज मन्दिर में जाती रही। कोई नयी बात नहीं हुई, नयी घटना नहीं घटी। अगली पूर्णिमा के दो दिन पूर्व पुजारी बोला—'परसों पूर्णिमा है। तुम्हें गुरुमुख हो जाना चाहिए। क्यों तैयार है न तू। दीक्षा ले लेनी चाहिए।'

'दीक्षा!'—बन्नो को याद आया। उसकी माँ भी दीक्षित थी, कंठी वाली थी।

पुजारी आगे बोला—'हाँ हाँ। तुम्हारी रोज-रोज की प्रार्थना और पूजा देखकर अचानक मेरे मन में यह विचार जाग उठा है। तू दीक्षित हो जा।'—वह आँखें मूँद गोमुखी में हाथ डाल माला फिराता हुआ फिर ठहर कर बोला—'तैयार है।'

हिचकिचा कर बन्नो बोली—'क्या करना पड़ेगा?'

'व्रत। पूर्णमासी को निर्जला रहना पड़ेगा, बस। नहा-धोकर साफ मन से आना होगा। गुप्त दीक्षा में और कुछ नहीं करना पड़ता। मन की शुद्धि ही एक मात्र चीज है। जितने शुद्ध और निष्पाप मन से रहोगी उतना ही गोपाल प्रसन्न होगा, बोल है तैयार?'

'आऊँगी।'--वह धीरे से कह कर रुक गयी।

पंडित उसी तरह ध्यानावस्था में बोला--'वचनबद्ध है तू गोपाल की। कह तीन बार, हाँ।'

और तीन बार उसने हाँमी भरवा ली।

माँ कहती रहीं—'चल बिटिया खाले।'

बिटिया बोली—'आज पूर्णिमा का व्रत हूँ।'

माँ भी धर्मपरायणा पुत्री के स्वभाव से खुश हुईं। कहाँ—एक बार मन्दिर में जाने में सौ-सौ नखड़े करती थी, कहाँ अब पूर्णमासी का व्रत! बिटिया को सहज बुद्धि आ रही है।

वह दिन भर शुद्ध मन से गोपाल को याद करती रही। निष्काम-निष्पाप। साँझ को वह आरती लेकर पहुँची तो पुजारी वैसे ही विराजमान थे। आज उन्होंने आँख नहीं खोली। वैसे ही बंद आँखों से वह बोले—'गाँठ में पाँच पैसे लायी है। रख दे गोपाल के सामने।

बन्नो चक्कर खा गयी। यह पाँच पैसे तो माँ ने दिये थे। पुजारी को कैसे मालूम हो गये।

पुजारी वैसे ही सहज भाव से कहता गया—'चिंता करती है। पूजा शुद्ध मन से करनी होगी। वचनबद्ध है तू गोपाल की।'

वह वैसे ही हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी।

पुजारी आँखें मूँदे ही मूँदे उठे। उनका हाथ अभी भी गोमुखी में था। ओठ फड़फड़ा रहे थे। जैसे वह विष्णु सहस्त्र नाम का पाठ कर रहे हों। आग बढ़कर बोले—'अभी तू शुद्ध मन से नहीं हुई। शुद्ध मन के लिए शुद्ध काया की जरूरत है। तेरे शरीर पर कपड़े हैं।'

'पर यह घर के धुले हैं।'

'पर हैं तो कपड़े। इन्हें भी अलग करना होगा।'

थोड़ी देर बाद आँख खोल उन्होंने देखा और फिर गड़ाप से आँख बंद कर वह बोले—'समझा, प्रकाश के कारण शर्म आती होगी। मैं रोशनी गुल किये देता हूँ। अँधेरे में अपना-पराया सब मिट जाता है। 'मूँदो आँख, कतौं कुछ नाहीं।

और वहाँ घोर अँधेरा हो चुका था। वचनबद्ध नारी को धर्म का भय दिखाने के लिए मन्दिर काफी था। जिस कमरे में खड़ा हूँ, यह भी अंधकारपूर्ण है। वहाँ पुजारी शुद्ध मन और काया से खेल रहा था। यहाँ खड़े-खड़े मुझे अपने पर ही क्रोध आ रहा था। मन्दिर से लौट कर बन्नो मेरे पास आयी थी। गले में उसके तुलसी की कंठी थी और दिल में हाहाकार पाप से घिरी जीवन नैया। वह उस पुजारी के भय से विरोध न कर सकी थी। माँ से कुछ कहना उसे सह्य नहीं था। लेकिन वह बिलख-बिलख कर मुझसे पूछ रही थी—क्या होगा उसका। उसका धर्म नष्ट हो गया है।

मैं उसे समझा रहा था, जो कुछ मेरी समझ में आया। पुजारी के कर्म की कहीं गवाही नहीं है। उससे झगड़ा मोल लेना अपनी ही लज्जा को उड़ाना है। सब कुछ इस तरह भूल जाना चाहिए जैसे कुछ घटा ही नहीं है। तूने बात मुझसे कह दी है—तेरा पाप मैंने बाँट लिया है। फिर पागल की तरह क्या रोती है।

'मैं कलंकिनी हूँ। हत भागिनी हूँ, पापिनी हूँ।'—वह रोती रही।

'कौन कहता है। मैं नहीं मानता। तू मेरे लिए वैसी ही सुकुमार कली है अछूती, निर्मल।'

और फिर मैंने उसका हाथ अपने सिर पर रख कसम खिलायी—खुद खायी कि उसे गोपन ही रखेगी। कभी कहीं नहीं कहेगी।

आज मैं सोच रहा था। उस पापी पुजारी को छोड़ कर मैंने बड़ा पाप किया था। मुझे कुछ नहीं तो कम-से-कम उसे अधमरा कर डालना चाहिए था। कायर का असंयम मैं कैसे सह गया। उस दिन सहज में मैं वैसे टाल गया वह सब। उस असंयम के प्रति मेरी आँखों में जहर क्यों नहीं फटा। कुछ नहीं तो मैं इतना तो उसे कर ही सकता था कि छः महीने गोमुखी में हाथ डाल माला न फिरा पाता। सतीत्व की जयगाथा गानेवाला फिर किसी को कुराह पर ले जाने की हिम्मत न कर पाता।

आत्मग्लानि से मेरा अन्तर दुखने लगा था। कैसी नीच प्रकृति थी उसकी। बन्नो ने रो रोकर बताया था कि किस तरह की छूट उसने ली थी। बत्ती बन्द होने के बाद बड़ी देर तक बन्नो यह नहीं समझ पायी थी कि यह सब उसके साथ क्या हो रहा है। वह जागती है या निद्रित है। उसने एक दिन पहले शाम से ही खाना छोड़ रखा था। दिन पूरा होते-होते आँख के नीचे अँधेरा आने लगा था। जरा-सा छूट पाते ही वह उस लंपट के जाल से निकल भागी थी।

अँधेरे में खड़े-खड़े मैं अपने-आप अपनी कायरता पर खीझ रहा था। अपने हाथों से अपना मुँह नीचे आ रहा था। वह आदमी अन्दर से कड़ुवे तेल का छोटा-सा दीया लेकर आया। अब सब कुछ साफ दिखने लगा था। उस आदमी का चेहरा अन्न को तरस रहा था। स्वभाव भले घर के लड़कों जैसा था। मैंने पूछा—'तुम तो एडवांस चाहोगे। कितना दे दूँ,' और फिर उसके कहने के पहले ही कुछ नोट उसके हाथ पर रख दिये।

तभी अन्दर से किसी के क़राहने की आवाजें आयीं। मैं सुबह आने की बात सोच रहा था। सोच रहा था क्या, और बात कहाँ जा निकली! 'अन्दर क़ौन है ?'—मैंने पूछा।

'मेरी पत्नी।' वह दबी ज़बान से बोला।

'पत्नी।'––मैं उत्तर पाने के पूर्व ही उस किवाड़ को ढकेल कर अंदर जाने को उद्यत होते हुए एक क्षण रुका, फिर दलाल को पाँच रुपये कमीशन देकर बिदा कर दिया। और वह आदमी चकराता हुआ मेरे आगे-पीछे नाच रहा था। यह घर किसी पत्नीवाले का होगा, विश्वास नहीं हुआ। गृहस्थी के नाम पर शून्य था। अन्दर झोलदार अदवान की टूटी-सी खाट थी। उस पर एक औरत क्लांत-सी बेहोश पड़ी थी।

'बीमार है।'

'कब से ? क्या किसी को दिखाया ?'

आदमी की आँखों में टप्-टप् आँसू थे।

लगा जिस मन्दिर से निकल कर वन्नो रोयी थी, वह धार्मिक आडम्बरों से सजा पत्थर की मूर्ति का मन्दिर था ! वहाँ भी अँधेरा था। यह आडम्बर रहित प्रेम का मन्दिर है, जहाँ अर्थ के अभाव में दो जिन्दगी हिचकियाँ भर रही हैं। श्री पौरुषहीन दुर्बल व्यक्ति के सिर यह क्या सवार हो जाता है। जिसको दो मूठी अन्न नसीब होने का सहारा न हो, अभाव को पूरा करने की, जिम्मेदारी उठाने का पौरुष न हो, वह यह खेल किस बूते पर खेलने चले आते हैं। अपना पेट नहीं पाल सकते और जिम्मेदारियाँ ओढ़ बैठते हैं। अपनी गाँठ नहीं देखते उधार की दूकान से इश्क खरीदते हैं। सिनेमा के परदों पर जो कुछ दिखा दिया जाता है वह जीवन में नहीं घट सकता।

कैसे समझाता कि निर्धन्नता के आगे प्रेम फीका पड़ जाता है। अभाव की आग के आगे जलने से क्या बच सकता है। यह गलाघोंट वातावरण लाने के पहले क्या तुम में अलग होने का संबल नहीं था। हीरामन तोते की कहानी या अलिफ लैला के खेल आज के युग में मन बहलाने के लिए ही श्रेष्ठ हैं जीवन में उन्हें उतार देना पागलपन नहीं क्या ! स्वस्थ ही जीवन बिताने की अपेक्षा यह घुटन क्या अर्थ रखती है ?

दूसरों को समझाने के लिए मन को पंडित बनते देर नहीं लगती। बातों-बातों में जाना कि लड़की निर्धन थी। लड़का बड़े घरवालों का

है। सब से झगड़ कर निकल पड़े और अब निभा रहे थे। निभाने का यह भी तरीका ठीक था।

पर समझ जल्दी लौट आयी। बिगड़ने के बहुत पहले बनना आ गया। तबियत खुश हो गयी। प्रेम का ज्वर शान्त होते ही दोनों को घर का किराया दे गाड़ी पर बैठा आया हूँ। रहने की जो जगह थी, वह फिर चली गयी। उस अन्धकूप में रह कर जिया जा सकता है, समझ में नहीं आया।

बिदा होते इस लड़के ने छोटे भाई की तरह झुक कर चरण स्पर्श कर लिया था। लगा जैसे जानेवाला लेने के बजाय बहुत कुछ सौंप कर चला गया है। बोझ उठाने और ढोने के काबिल नहीं रह गया हूँ। वजन भारी ही लगा।

लड़की काफी स्वस्थ हो गयी थी फिर भी घर जाने पर कैसी बीती होगी, यही सोचता हूँ। वैसे शब्दों से जो संबल दिया जा सकता था, वह दे बैठा था। अपने आगे का पता नहीं था; अतः बात मन में खटकती ही रही। उनका पता कहीं लिख छोड़ा है। विश्वास है कहीं-न-कहीं फिर मिल जायेंगे। दुनियाँ गोल तो है ही अब छोटी भी लगने लगी है। दोनों कपोत की जोड़ी-से सुकुमार, सलोने और सुन्दर। लड़के का नाम था योगेश, लड़की का विनती। बहुत दिनों तक उनकी याद रहेगी।

--:०:--

निर्मल

मेरी आँखों में स्वच्छंद जीवन के चित्र उभर रहे हैं। सोचता हूँ हर कथा कहानी का कोई-न-कोई जीवन केन्द्र होता है। तुम्हें लेकर मेरे मन में अनेकों भाव बिखरे पड़े हैं। उन्हीं में से चुन-चुनकर यह दृश्य खड़ा कर रहा हूँ।

जहाँ बैठा हूँ उसके ठीक सामने फूस की एक मड़ैया पड़ी है। वहाँ तुम्हारे चाचा बैठे हैं। सोचता हूँ, तुम स्कूल-कालेज का मुँह न देखे होते तो वहीं बैठते--वैसे ही बैठते जैसे तुम्हारे चाचा बैठे हैं। बीच-बीच में में मंत्रोच्चारण की ध्वनि कान में पड़ जाती है। वही दृश्य है सब कुछ वैसे ही है--मन अंदर-ही-अंदर भागते-भागते थक गया है। तखत के पास गड़ी बल्ली के सहारे ही वहाँ भी फूस की ही छाया है। पीठ उस बल्ली पर टिका लेते हैं। त्रिवेणी की यह तपोभूमि है। गंगा यमुना का संगम है--सरस्वती की वह अलोप धारा अंदर-ही-अंदर यहाँ मिलती है, पर किसी ने आज तक देखा नहीं। प्रकृति की गोद में यहाँ तीर्थों की राजश्री फैली है। दूर जहाँ तक नजर जाती है रेत के कगार हैं।

दिन चढ़ आया है। नहानेवालों की भीड़ छँट गयी है। कहीं इक्का-दुक्का नहाने वालों का स्वर सुनायी पड़ जाता है। संगम दूर है। एक ओर गंगा का प्रचंड वेग है। दूध की तरह साफ जल। पिंडली-पिंडली भर पानी, फिर भी पैर रुकते नहीं। गंगा की ऐसी धारा केवल हरिद्वार छोड़ और कहीं नहीं है। दूसरी ओर कालिंदी का अथाह नीला जल है गंभीर और शांत। मड़ैया के नीचे बैठे-बैठे जब जी ऊब उठा तो एक नाव में जा बैठा। और उसे खे ले चला दूसरी ओर। थोड़ी दूर जा नाव छोड़ दी है, वह धारा के साथ अपने आप बह चली है। मैंने हाथ डालकर जल स्पर्श किया। नाव बीच संगम से गुजर रही है। नाव के एक ओर यमुना का गर्म जल है। नाव के दूसरी ओर माँ भागीरथी का शीतल जल इतना शीतल कि पोर डूबते ही कटने से लगें। नाव के पीछे

ले कोने पर बैठकर देख रहा हूँ। कभी नीला जल दूधिया को आत्मसात कर रहा है, कभी दूधिया नीले को अपने में खपा जाने के लिए भँवर काट रहा है। नाव रुकती है तो गंगा के उथले जल में बाँस डालकर नाव ठेल रहा हूँ। मुझे याद आता है। कभी ऐसी ही ढलती दोपहरी में तुम भी मेरे साथ थे। भूले नहीं होगे। कैसा अचरज लगा था उस दिन जब मल्लाह से तुमने कहा था—'इधर-ही-इधर क्या बाँस चलाते हो। दूसरी तरफ से ठेलो, इस नीले पानी की ओर से।'

तब वह कहकहा लगाकर हँस पड़ा था—'बाबू तोहार अंगरेजी सब चौपट कर दिहेस। तू पंडा कै लरिका नहीं जानत हौव!'

सच उसे तुम्हारे अज्ञान पर खिजलाहट हुई थी। उसने बिना तुम्हारी भावना का ख्याल किये वह बाँस का पूरा बीस फुट लम्बा यमुना के अथाह जल में डाल दिया था। फिर वह खुद भी झुक गया था और बोला था—'आओ देखो कहीं पता है जमीन का। ऐसन-ऐसन तीन बाँस चला जाहीं एहमा।'

तुम्हारे मुँह के भाव मुझे आज भी गड़ रहे हैं। सच, तुम ले से भी इस गंगा के किनारे नहीं आते थे। जब मैं कहते-कहते हार जाता था तब न जाने क्यों किसी दिन हम दोनों चल पड़ते थे और हर बार तुमसे कोई-न-कोई ऐसी भूल हो जाती थी जिसकी तुमसे अपेक्षा नहीं की जाती। तुम्हारे 'स्व' को ठोकर लगती थी। शायद इसीलिए तुम कतराते थे।

मेरी नाव चल रही है। मैं नाव पर बड़े आराम से बैठा ठाट से चला आ रहा हूँ। अकबर के किले की दीवार आज भी उसी तरह खड़ी है। दूर पंडों की हर मड़ैया के ऊपर कोई-न-कोई निशान लहरा रहा है। यहाँ से बैठकर उन ध्वजा-पताकाओं को देखने में बड़ा मजा आता है। किनारे पर आदमी से ऊँचा कगार है और कगार पर फूस के छप्पर हैं। रणक्षेत्र की तरह हर सूरमा का अपना अलग ध्वज है। हर एक दूसरे से भिन्न—रंग, आकार-निर्माण सभी बातों में। एक जगह बाँस पर पीतल के एक पर एक तीन लोटे रखे हैं।

तुम्हारे मलकाने की चीज है वह तो। मैं यहाँ से बैठा हुआ सोचता हूँ जिस आसानी से तुम अपना अतीत काट कर पलायन कर गये। काश, वैसे ही सभी कर जाते तब शायद नीलांबर में सूरज का फिर से जागना निरर्थक हो जाता। बादल सींचना भूल जाते और हवा सांस छोड़ बैठती, फिर कहीं कुछ न रहता। वह अदृश्य, जो एक से दूसरे को जोड़े हैं, वह जो बकरी के थन में भी छौने के लिए दूध की व्यवस्था करता है—सब क्यों हो पाता। याद है, इसी तरह नदी के दूसरे किनारे पर इसी समय हम लोगों ने एक बार एक साधु को बाँसुरी बजाते देखा था। वह वीतराग अभी भी बज रहा है। उसकी मड़ैया अभी भी इस किनार पर खेतों के बीच खड़ी है। तुम थे तब हम लोग एक दिन साधु के पास खड़े हुए थे। यहाँ--जहाँ से कि दोनों ओर शहर तो क्या गाँव का भी कई मील तक पता नहीं; यहाँ जहाँ केवल दूर तक कछार की हरी पीली सरसों ही लहराती है, आज भी उसी तरह धूनी जल रही है। लकड़ी का कुंदा अपने आप सुलग रहा है। वैसा ही धुआँ है। वैसे ही किनारों पर चिलम पड़ी है। उस दिन बाबा के पास और कुछ नहीं था। इस जाड़े में जब कि अपना अंतर तक काँपा जा रहा है, धूनी रमाये बाबा एक कुंदे पर बैठा था, उसके हाथ में हाथ भर का खोखला बाँस था। अपने ओठों पर रखे वह उसे बजा रहा था। बाँसुरी से मधुर आवाज नहीं निकल रही, थी गंभीर मोटी आवाज थी, जो दूर-दूर तक गूँज रही थी। नाव आज मैं अपने हाथ से ही खे ले आया हूँ। इस किनारे पर भी पुरसा-पुरसा कीचड़ है, इसलिए उतरने की हिम्मत नहीं होती। डाँड वैसे ही धर कर बैठ गया हूँ।

याद आता है, तुम भी सामने बैठे थे। हम लोगों को छोड़ कर नाववाला दूर खेतों में चला गया था। हम लोग इस बाबा की ही बात कर रहे थे। तभी पीछे-पीछे एक दूसरी नाव यहाँ आकर लगी थी और उसमें बैठे लोग सशंकित से हम लोगों को देख रहे थे। ऐसे समय यहाँ कोई दूसरा नहीं आता। फिर दो-एक नावें और आ गयीं थीं। समझ

में आया था वह साधु यहाँ क्यों रहता है। उल्लू और प्रेमी को ऐसा बीहड़ ही पसंद होता है। पहले जो श्रद्धा जागी थी, मन में वह शीशे के बर्तन की तरह चटक कर टुकड़े-टुकड़े हो गयी थी। एक आदमी खेत के पीछे से हाथ में ठर्रे की बोतल लिए आया था। फिर सब पी रहे थे, गा रहे थे।

तुमने कहा था--'यह है शान्ति। यह है धर्म, यह है योगी। शायद यह जानना बाकी था, इसीलिए आये थे यहाँ।'

आज यहाँ एक भी आदमी नहीं है। बाबा जी वैसे ही बीत राग बजा रहे हैं। मैं चुप बैठा देख रहा हूँ। सोचता हूँ--साधु की कुटिया में बासमती चावल पक रहे हैं। अच्छी, भीनी सुगन्ध हवा में पूरित है। लगा आज दिन भर से अन्न का एक दाना पेट में नहीं पड़ा।

कभी-कभी आदमी अपने में डूबना चाहता है। भूखे रहने में भी कभी-कभी तृप्ति मिलती है। मन अपने-आप मीमांसा कर रहा है। तर्क मर चुका है। तुम सामने होते तो समझाता--डियर उपकरण होने से ही आकर्षण होता है। जो है नहीं, वह उत्पन्न नहीं होगा। केन्द्र कहीं भी मान बैठना अन्याय है। सोचो तो, केन्द्र कहाँ है, एक से शुरू करोगे या सौ से। सौ है इसलिए एक है। एक है इसलिए सौ है। हर कोई कहता है अपने को दिखा देना न्याय नहीं है पर बिरला ही कोई इसे पाल सकता है। चीज एक ही है, आदमी बदलता है। यह दुनिया देखते हो, फूल के नीचे काँटे होते हैं। इस समय मेरी आँखों से आकाश में देखो कितना गहरा लाल रंग छाया है। बादलों की आकृति समझ पाओगे। कहीं कोई समन्वय नहीं है। कहीं काट-छाँट करने की, समानता लाने की आवश्यकता नहीं। सब बिखरा-बिखरा है, सब कुछ असंबद्ध होते हुए भी अपूर्व सौंदर्य से पटा पड़ा है। एक बच्चे को भी लाकर खड़ा कर दोगे, तो वह उल्लास से तालियाँ बजा उठेगा। शिशुमन में तर्क नहीं होता। अतः वह तर्कहीन मन सौंदर्य को समझे बिना भी नाच उठता है।

मंगल और श्रद्धा के न होने से यह अन्तर समझ में न आयेगा। विपुल असामंजस्य से भी मणि निकाल लेनेवाले को ही प्रतिभाशाली कहा जाता है। बिना योगसूत्र के बताओ तो यह सारे विरोधाभास कहीं टिक सकते थे ? कहना पड़ेगा, इनमें कहीं जोड़नेवाले काँटे हैं। इस कगार से परे हट कर खड़े हो। नदी की पतली-पतली लहरें धीरे-धीरे बड़े-बड़े कगार-पिंड काट ले जा रही हैं। वह सारे बालू मिट्टी के ढाँके कट जाने के बाद कहीं दूसरी जगह नया कुल तैयार ही करती हैं। जल-थल, प्रकाश, अन्धकार सब एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी किसी एक पृष्ठभूमि पर टिके हैं। वह पृष्ठभूमि कहाँ है। उसे खोजना पड़ेगा। उसे समझना पड़ेगा।

रात काली हुई। आकाश का आँगन तारों से भर उठा है। चन्द्रमा नदारत है। जब तक चन्दमा की याद नहीं थी सब सुन्दर था। चन्द्रमा की याद आते ही उस सौन्दर्य में कहीं शूल-सी चुभने लगी। वैसे कमी कहाँ थी। सोचने से ही दुःख बढ़ता है। यह आरोप नहीं करता कि तुम ग़लत सोचते थे। पर मेरी समझ से कहीं कमी रह गयी थी। उस कमी के कारण खोजने लिए ही आज सारे दिन से भटक रहा हूँ।

कल साँझ घर गया था।

बहुत दिनों के बाद जाना हुआ। बड़ी कठिनाई से बन्नो तक पहुँच पाया। वह पीली पड़ गयी है। उसे कोई रोग हो गया है, राजू। बहुत पूछा। वही मुस्कुरा-मुस्कुरा कर रह गयी। हर मुस्कुराहट के पीछे उसकी सतत चेष्टा स्पष्ट दिखायी पड़ रही थी।

सोचता हूँ, कहीं उसे कुछ हो गया तब तुम क्या करोगे ? कैसे मुँह दिखाओगे ? क्योंकि जो कुछ भी होगा उसका कारण तुम होगे, केवल तुम !

मैं बैठा रहा। जितनी देर बैठ सकता था। बैठा-बैठा तुम्हारे खिलाफ विष वमन ही करता रहा। लेकिन जब भी मैंने तुम्हारे विरोध में कुछ कहने की चेष्टा की—कुछ बुरा-भला कहने की हिम्मत की, तो

देखा कि उसे मेरा यह साहस अनधिकार ही प्रतीत हुआ है। क्या मंत्र पढ़ा गये हो उसे। वैसे वह तुम्हारी स्थिति की जानकारी से––कहाँ हो, कैसे हो, कब आओगे––सभी कुछ से इनकार करती है। सुना है रोती रहती है। रोने की यह गुप्त सूचना मिली है मम्मी से, तुम्हारी भतीजी से। बड़ी ही चंचल बालिका है। निःसंकोच गोद में आ जाती है। सोचता हूँ, तुम होते तो इतना बड़ा नहीं तो ऐसे ही हँसमुख बच्चा तुम्हारा होता। तब शायद बात ही कुछ और होती।

जरा-सा अकेला पाकर बोली––'बन्नो चाची को समझाओ न, तुम तो ताऊ के दोस्त हो। बन्नो चाची खराब हैं। किसी का कहा नहीं मानतीं। हमेशा रोती रहती हैं।'

मैंने कहा—'अच्छा। तुम क्यों नहीं समझातीं ?'

'मैं तो छोटी हूँ।'—गोदी से उतरते हुए वह बोली और तभी उसे आहट लग गयी थी कि कोई आ रहा है। वह कूद कर भाग गयी। मैं हत्‌बुद्धि-सा मूक बैठा उलझता रहा।

बन्नो वैसे ही किवाड़ की ओट में खड़ी थी। थोड़ी देर खड़ी रही। फिर मेरे तनिक-सा पूछते, बात करते हुए उसकी सारी चेष्टा अनोखी-सी लगी। मैं अपने-आप में उलझ पड़ा था। थोड़ी देर बाद मैं मम्मी की बात करने लगा––एकाएक याद नहीं आता, मैंने क्या कह दिया अनजाने में। मेरे मुँह से क्या निकल गया कि वह फूटकर रो पड़ी और अंदर भाग गयी।

क्या बात थी। मम्मी और बन्नो के भागने में कोई अंतर नहीं था राजू। दोनों भागी थीं। एक बच्ची थी, एक बच्ची की तायी थी। बच्ची का भागना, मम्मी का दौड़ना समझ में आता है, पर बन्नो का––इस तरह से वह कभी मेरे साथ पेश आयेगी उसकी आशा मझे नहीं थी। क्या रहस्य था!

कल सारी रात मैं उलझन में पड़ा तारे गिनता रहा। वह विधि बैठाता रहा कि मैं बन्नो के पास किसी को भेज सकूँ। सोचता हूँ अपनी पहुँच में कोई औरत होती, जिसे मैं बन्नो के पास भेज सकता तो जरूर ही बन्नो के दिल की गहराई नापी जा सकती थी। लेकिन दुर्भाग्य से अभी तक मैं शादीशुदा नहीं हूँ। मेरे भी घर में ऐसा कोई नहीं, जिसे मैं बन्नो तक पहुँचा पाता। रहस्य-रहस्य ही रह गया!

सुबह से यहाँ आ बैठा हूँ। गंगा की धूल फाँक रहा हूँ। सोच रहा हूँ। क्या कर सकता हूँ मैं?

सब तरफ धुँध है। एक अजीब-से अँधेरे बंद कमरे में तुम जकड़ गये हो जहाँ हिलने-डुलने की, साँस भरने की सभी चीज की मनाही है। केवल फटफटाते ही रहना पड़ा--तब क्या मजा रहेगा। अपने से लाख बार पूछा है; पर कुछ सुझाई नहीं देता।

--:०:--

राजू

घूमने-फिरने की भी एक अवस्था होती है। बचपन में घूमने के माने कुछ और होते हैं। लेकिन अपनी तो इतनी जिन्दगी आसरे में कट गयी। जाने के लिए जगह ही कहाँ थी? फिर जाने भी कौन देता? मेरे आगे के भाई-बहिन मर चुके थे। छोटी अवस्था में ही मर जाते थे। माँ व्याज खोते-खोते ऊब चुकी थीं; इसलिए मुझे बचाने में पूरे जतन से

काम लिया गया था। पाँच-सात बरस की अवस्था तक बाहर गली का मुँह नहीं देखा था। कहते हैं, हर महीने पूनम की तिथि पर फल और तरकारी के भरे टोकरे पर रखकर घसीटा जाता था। सारे टोने-टोटके किये जाते थे। गले में चन्द्रमा, सीप और न जाने क्या-क्या पहनाये रखा जाता था। बाद में धीरे-धीरे सब उतार फेंका है। चन्द्रमा के आकार का एक बिम्ब जाने क्या होता होगा ? जिस धागे से यह चन्द्रमा बँधा है, वह वर्ष में दो बार सड़ता है। उसे बदल देता हूँ। चंद्रमा ज्यों-का-त्यों, जहाँ-का-तहाँ है। न जाने क्यों शीशे के सामने खड़े होने पर अपना गला और गले में वह काला धागा, बीच में चन्द्रमा की वह आकृति अच्छी लगती है।

वेटिंग-रूम के इस बड़े शीशे में जिसके दोनों कोनों पर आई० आर० अंग्रेजी में लिखा है, इन दो अक्षरों को बार-बार दोहराते हुए खड़ा सोच रहा हूँ। गले में पड़ा चन्द्रमा का यह प्रतीक अच्छा लगता है। सच जब सामने कोई चीज या व्यक्ति होता है, तब आँख अपनी ओर जाती है—हम कौन हैं ? क्या हैं ?

बेंत की यह खुरदुरी बेंच और रात भर खटमलों द्वारा खून के चूसने की प्रतियोगिता के बावजूद भी गहरी नींद सोया हूँ। भला-भला लग रहा है; क्योंकि कहीं जाने की, कुछ होने की, कोई चिंता नहीं है।

पहले भी दो बार वेटिंग-रूम में रह चुका हूँ। एक बार बंगलौर में गाड़ी बदलते हुए, दूसरी बार पाँडिचेरी में। पर उस समय मन की अवस्था और थी; पर आज वह बदलान की जिज्ञासा मर गयी है।

किवाड़ के बाहर काला साफा लगाये काली वर्दी में वह वेटर खड़ा है। कैसे भाव हैं उसके मुँह पर, जैसे जिंदगी थककर चूर-चूर हो रही है। कंधे पर बिल्ला है—सी० आर०। मैं इन दोनों शब्दों को भी दोहराता हूँ। शीशे में मुँह किये ही यह सब देख रहा हूँ। बरामदे में थोड़ी-थोड़ी धूप है। वेटर निर्मम उदास आँखों से मेरी ओर ताक रहा है।

उसका चेहरा उदास है--मैं सब देख रहा हूँ। कमरे में कोई मुसाफिर नहीं है। वेटर जैसे बार-बार पूछना चाहता है--'बाबू, आपको कौन-सी गाड़ी से जाना है।'

फिर वह अपनी कायरता से हताश हो जाता है। कहीं सुबह-सुबह बाबू बिगड़ न जायें। जो दो-चार आने मिलने को हैं, वह भी न मिलेंगे। सोचता हूँ--अजीब खेल है, जो मन चाहता है उसका साथ वाणी नहीं देती। जो वाणी से कहते हैं, उसका अर्थ दूसरा निकलता है।

मन कहीं जाने को नहीं करता। वह कपोत की जोड़ी बरबस मन को छेद रही है। सोच कर चला था--मुक्त हो बाँटता चलूँगा। किसी से कुछ न लूँगा। लेकिन होता उलटा ही है। हर जगह कुछ-न-कुछ अतीव है, ऐसा जैसे पहले कभी न सुना न जाना। यहाँ इतने दिनों योगेश और बिनता का आतिथेय बदा था--चुकाना ही पड़ा।

सब कुछ हो सकता है पर पेट की आग! उसके लिए हिलना ही पड़ेगा। खाना खाते हुए भी बिना हाथ हिलाये वह पेट में नहीं आ पड़ेगा। सोचा इसको मारने के लिए सब कुछ पेट में डालना जरूरी हूँ। रेस्तराँ ऊपर है। सो चल पड़ा।

यह जगह भी खाली है। एक दम खाली! जैसे सारे कुर्सी-मेज काट खाने को दौड़ते हैं। जगह की भी क्या कोई आत्मा होती है?--शायद, जरूर। बिना मेरे यहाँ आये भी यह जगह रही होगी। कहाँ रही होगी? मैं बच्चों की तरह सोच रहा हूँ--एक भयावह चित्र। बैरा एक पानी का गिलास रख कर पूछता है--'साहब! क्या लाऊँ?...ऑमलेट, एग-फ्राई, टोस्ट, मक्खन, काफी! बस, अभी तो यही है।'

देखा सामने बोर्ड दिख रहा है--नॉनवेजिटेरियन। यानी शाका-हारी कमरा दूसरी जगह होगा। कहीं आगे। कहीं दूर। मन ने कहा--

बेटा रोब में गलत जगह आ गये। अब उठ कर जाने में क्षोभ लगेगा। वह तो बैरा है। एक झटके में सब तोड़ कर जा सकता हूँ। तभी अक्ल आड़े आई। फौरन कह गया—'दो टोस्ट और कॉफी।'

बैरा चला गया।

शरीर में गर्मी भर आयी थी। मन का सारा उद्वेग शान्त हो गया। बात निभ गयी थी। एक और साहब आये। देखने में अँगरेजी—रोबीला जवान पर बूढ़ा, उमर। सूई की तरह तेज, पैनी चमकती आँखें, काला पका चमड़ा। सारी मेजों को छोड़कर मेरे ही सामने आ, पूछता है—'इक्सक्यूज मी, मे आई...?

मैं यंत्रवत कह जाता हूँ—'हाँ, हाँ, शौक से!'

वह जरा घूर कर देखता है। बैरा आ जाता है। उसे डबल ऑमलेट का आर्डर दे वह अपने में खो जाता है। उसका बायाँ हाथ टेबिल पर है। छाँगुलिया के बगल की तीन अँगुलियों में मोटी सोने की अँगूठियाँ हैं। दो नगदार, एक मोनोग्राम की। मुझे वे अँगुलियाँ अच्छी लग रही हैं। उस आदमी को देख कर मेरे खून में भी तेजी आ गयी है। मुझे भी अपनी भुजायें कसी-कसी लग रही हैं। लुंज-पुंज-सी बात नहीं रह गयी है। इच्छा होती है इस आदमी से कुछ पूछूँ, कुछ कहूँ। मैं सहारा खोज रहा हूँ।

काफी देर हो रही है। बैरा सामान नहीं लाता है। वह आदमी शान्त बैठा है। उसके इस तरह बैठने से, उसकी इस शान्ति से मैं और अधिक घबड़ाने लगता हूँ। ऊब कर इधर-उधर देखता हूँ। मेरी उत्सुकता देख वह आदमी स्वयं कहता है—'आई थिंक यू आर न्यू! यहाँ टाइम लगता ही है।' फिर बिना मेरे उत्तर को सुने ही वह पूछता है—'कहाँ से आता आप?'

अजीब-सा प्रश्न है। मैं अपने शहर का नाम अकारण ही छिपा जाता हूँ और कह देता हूँ—'यू० पी० से।'

'ओ, हम सरकस का आदमी है। तुम अच्छा बदनवाला बिजनेस करता ?'

'नहीं।'

'कहीं नौकरी ?'

'नहीं ?'

'फिर ?'

'घूमता हूँ।'

'ओ घूमता है!'--वह खिलखिला कर हँसा--'तब पैसेवाला! घर में बिजनेस होता है ?'

मैं बात काट कर 'हाँ' कह देता हूँ। फिर बातें चलती हैं। खूब बातें होती हैं। मैंने पहली बार कॉफी पी है। नाम पहले सुन चुका हूँ। पीने की हिम्मत नहीं हुई थी। जरूरत ही नहीं पड़ी थी। वह जले दूध के स्वादवाला कड़वा पेय, नहीं भाया मुझे। मक्खन-टोस्ट के साथ किसी तरह घोंट गया। गोपालन साहब खाते रहे। ऑमलेट और चाय; टमाटर के लाल रंगवाले सॉस के साथ। बातें छनतीं रहीं। सरकस के सम्बन्ध में मेरी उत्सुकता उनकी पैनी निगाहों से छिपी न रह सकी। बोले--'कुछ काम नहीं करना, तो हमारा साथ चलो। हम तुमको घुमाने ले चलता।'

सामने क्रॉस मैदान है। साथ-साथ मैं चल रहा हूँ। जितना मजा साथ चलने में आ रहा है, उससे अधिक आनन्द उनकी हिन्दी में आ रहा है। सारे शब्द अपनी जरूरत के अनुसार वह तोड़ कर अंग्रेजी स्टाइल से बोलते हैं। बड़े अच्छे लगते हैं उनके हाव-भाव। मैं ताकता रह जाता हूँ। सामने की सड़क पर क्या है--समझ में नहीं आता। लड़खड़ा कर एक बार गिरने लगा था--उन्होंने सँभाल लिया। सामने सरकस का बोर्ड लगा है। टेंट और बाड़े बने हैं। मैं उनके साथ अन्दर जाता हूँ।

सोचता था सरकस बच्चों की जगह है । पर यहाँ की दुनियाँ और है। अभी सबेरा हुए देर नहीं हुई। रात तक इन लोगों ने काम किया है--शो किया है । सुबह होते ही प्रैक्टिस शुरू हो गयी है । गोपालन साहब कहते हैं--वह रिंग मास्टर है ।

'मास्टर !' मैं दोहरा कर चुप खड़ा हो जाता हूँ ।

कई दिन से सुनता था मास्टर साहब आनेवाले हैं। कभी मास्टर को नहीं देखा था । सुना था मास्टर साहब पढ़ायेंगे । कभी किसी को पढ़ते नहीं देखा था । हाँ, बाबा को रामायण पढ़ कर सुनाने के लिए एक पण्डितजी आया करते थे। पढ़ने से मेरा उतना ही परिचय था । कभी कुछ दिन पहले पट्टी पूजी गयी थी । उस दिन मिठाई खाने को मिली थी। फिर एक दिन कहीं खेल रहा था कि किसी ने आवाज दी--'चल राजू, तेरे मास्टर आये हैं ।'

जी धक् से जहाँ-का-तहाँ बैठ गया । लोग कहते थे--'ठहर जा, खूब बदमाशी कर ले ! मास्टर को आने दे, वह इस तरह पीट-पीट कर पढ़ायेंगे कि बस नानी याद आ ज़ायेगी ।'

मैं सोचा करता था--पीटने और पढ़ने में क्या रिश्ता है ? मास्टर साहब सामने खड़े थे । पट्टी लिये मैं खड़ा था । उनके माथे पर बड़ा-सा तिलक था । शरीर पर एक दुपट्टा था--केसरिया रंग का, उस पर कुछ छपा था । बाद में जब पढ़ना आ गया। पैर में उनके खड़ाऊँ थी । उनके पहले शब्द थे--'चल बेटा पैर छू ।' उनकी बड़ी लाल आँखें आज भी याद आती हैं ।

नहीं जानता कि विद्या का हर जगह ऐसा ही श्रीगणेश होता है। सर्वप्रथम संस्कार यही कि जैसे कहें वह मान लिया जाये। पहले विश्वास करने की आदत डालनी पड़ती है, फिर अनुकरण । सो विश्वास पहले ही डिग गया था। अनुकरण यह तो मानव प्रवृत्ति है, जिसे जबरन करना ही पड़ता था। पंडितजी ने कहा--'कहो छोटा 'अ' ।'

मैंने दोहराया--'छोटा अ !'

उन्होंने कहा--'मुँह फाड़ कर नहीं। मेरी तरह कहो 'अ'।'

मैंने गला बैठा कर कहा—'अ' !

जितनी बार पंडितजी ने बताया। बात उतनी बार विगड़ गयी। क्योंकि मैं समझा नहीं था मुँह फाड़ कर किसे कहते हैं। जैसे-तैसे बात चलती रही।

कुछ बड़ा हुआ कि मास्टर बदल गये।

लड़का घर पर पढ़ेगा। अंगरेजी स्कूल में जायगा।

अंगरेजी स्कूल ! घर पर टँगी जार्ज पंचम और क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर को मैं देख रहा हूँ। यह अंगरेज हैं। हमारे देश के राजा हैं। सात समुद्र पार विलायत में बैठ कर राज करते हैं। पैसे के ऊपर शेर की जगह इनकी तस्वीर बनी होती है। नहीं, गलत कह गया। दो लड़के बैठे हैं। एक पैसा उछाल कर जमीन पर गिरने से पहले ही हथेली से दबा लेता है। मैं कहता हूँ—'बोकरी।'

वह हाथ हटा कर जोरों से चीखता है--'शेर ! शेर !' और चिल्ला कर कहता है--'हार गया, हार गया !'

थोड़ी देर में खेल खत्म हो गया। मैं हार गया हूँ। पैसा ले कर बैठा उसकी तस्वीर की तरफ देख रहा हूँ। यह शेर है—यह एक आदमी की सूरत है जिसके सिर पर ताज है, दाढ़ी-सी है। आधा धड़ है। मैं पहचान लेता हूँ। यह वही आदमी है जिसकी तस्वीर मेरे यहाँ बैठक में लगी है। यह शेर है।

मैं अंगरेजी स्कूल में जाऊँगा। स्कूल क्या होता है ? वहाँ पढ़ानेवाले पंडित नहीं होते। फिर कौन पढ़ाता है, मैं सोच नहीं पाता। अजीब-अजीब तस्वीरें मैं अपने दिमाग में गढ़ लेता हूँ। कभी बहुत वीभत्स, कभी बहुत मनोरम। मन की कल्पना कभी कितनी सुखदायिनी होती है, जैसे सात समुद्र पार बैठा हुआ मैं ही राज्य कर रहा हूँ। मेरा ही चित्र इन सारी

तस्वीरों में है। मेरी ऊँचाई की यह तस्वीरें हैं। ताज़पोशी की यह तस्वीरें! बाबा बताते हैं कि जब राजकुमार सन् १९११ में हिन्दुस्तान आये थे; तब बाबा छोटे थे और वह अपने बाबा के साथ नुमाइश देखने गये थे। वह बड़ी नुमाइश जो गंगाजी के मैदान में लगी थी। नुमाइश क्या थी, बड़ा-सा नगर बस गया था। हिन्दुस्तान में पहली बार हवाई जहाज इसी नुमाइश के मैदान में आया था। क्या-क्या बात बताते हैं। मैं उस राजा की विशालता में डूब जाता हूँ, जिसके दरबार में लोगों ने नोटों को जला-जला कर चाय बनायी थी। फिर अंगरेजी पढ़ानेवाला मास्टर कोई ऐसा-वैसा नहीं था।

धीरे से एक दिन वह भी आ गया। मेरे सामने एक सीधा-सा आदमी खड़ा है। मेरे चाचा के उमर से बड़ा—कुछ बड़ा, काले कोट और सफेद सुथने में। उसका लाल नारबन्द फुन्दनेवाला, कोट के सामने लटक रहा है। मैं सोचता हूँ। यह नारबन्द रेशम का—इसके यह दो फुन्दने तक जरा नीचे एक जरा उससे ऊपर इस तरह क्यों लटक रहा है? जैसे यह कल्पना ही अपने-आप में अनोखी है बहुत तीखी है। जैसे उस नारबन्द के फुन्दने को काट कर फेंक देने को जी चाहता है। मैं अपने जी को दबा कर पढ़ने बैठ जाता हूँ।

पहला दिन—मास्टर साहब देखने में ही भले नहीं, पढ़ाते भी उसी सहूलियत से हैं। मुझे हर बार पुचकारते हैं।

दूसरा दिन—आज भी कोई खास बात नहीं।

तीसरा दिन—मेरे काम में गलतियाँ होती हैं। पता नहीं क्यों मैं बहुत ठीक-ठीक काम करना चाहता हूँ; पर अदबदाकर गलतियाँ हो ही जाती हैं। वह समझा कर चले जाते हैं।

चौथा दिन—आज मैंने उनका बताया काम नहीं किया है। खेल में बखत नहीं मिला। वह मेरा कान पकड़ कर मसलते हैं। मसलते रहते

हैं। मुझे कुछ देर तक अच्छा लगता है। मैं चाहता हूँ, वह कान मसलते रहें।

पाँचवाँ दिन——मैंने आज का काम जानबूझ कर नहीं किया। वह कानउमेठी आज भी करते हैं; पर वह कान नहीं उमेठ रहे, लगते हैं काग़ज फाड़ रहे हैं। इतने जोर से कान खींचते हैं कि मैं उनके सामने गिर-गिर पड़ता हूँ। कभी किताब पर कभी उनकी जाँघ पर। एकदम से सहम जाता हूँ।

बाबा कहते हैं—'चमोटी पड़े चम-चम;

विद्या आवे झम-झम !'

मास्टर पुराने पड़ गये हैं। हर महीने उनको दस रुपया दिया जाता है। पहली तारीख को वह देर तक बैठे रहते हैं। बाबा रुपया देने में देर नहीं करते।

दिन और बीत गये हैं। मैं स्कूल जाने लगा हूँ। घर पर वही मास्टर साहब पढ़ाते हैं। पर बात एक ही बढ़ी है——मार की ओर, मास्टर साहब इतना मारते हैं कि घूँसे की आवाज से कमरा झनझना जाता है। कान इतना कस कर खींचते हैं कि कनकटी हो जाती है। सूख-सूख कर खून की परत जम जाती है। मैं जिद्दी हूँ। अन्दर-ही-अन्दर एक ओर मास्टर साहब के लिए अशुभ की कामनायें किया करता हूँ और दूसरी ओर मास्टर साहब की सभी तारीफ करते हैं। वे लोग कहते हैं—–'लड़का अंगरेजी पढ़ता है। अंगरेजी बहुत कठिन होती है। अगर मास्टर साहब इतना न मारें, तो लड़के को एक अक्षर न आये। वह तो मास्टर हैं जो इस गधे को पढ़ा रहे हैं।'

हर मुँह मास्टर की तारीफ करते नहीं अघाते। मास्टर आज भी मेरा कान उसी बेरहमी से खींचते हैं। वैसे ही झटके से अपनी ओर गिरा लेते हैं। नीचे की ओर सिर दबाये रहते हैं। मैं समझ नहीं पाया यह क्या होता है। थप्पड़ कस कर मारते हैं। कभी-कभी चुटकियों में

गलुच्चा भी मींज देते हैं। अजीब लगता है उस समय। मैं रात भर याद करता हूँ—'जी० ओ० डी०, डॉग—माने कुत्ता!'

फिर सुबह रटता हूँ। सोते हुए बर्राया करता हूँ। नहीं, मैं जरूर याद करूँगा। लेकिन याद करते समय मेरे चारों ओर कोई ऐसा नहीं था, जो मेरी गलती उसी समय ठीक कर देता। बता देता तुम गलत रट रहे हो। मैं अनजाने में गलत शब्दों का गलत नाम लेकर गलत माने याद करता चला जाता हूँ। आज सोचता हूँ, तो अपने किये पर हँसी आती है। पर उस समय लगता था मैंने सही याद किया है, खूब याद किया है; फिर बात कहाँ गुम हो गयी। मास्टर साहब सुधारते हैं। उसी बेरहमी से; उनकी अँगुलियाँ हैं, मेरा क़ान है, उनके पैजामे का लाल फुन्दना है और अजीब-सी धुआँ भरी-भरी आँखें हैं!

मुझे उन आँखों से, उस लिबास से डर लगता है। लेकिन उस मन के साथ घृणा नहीं है। उसके साथ एक अजीब श्रद्धा है; शायद जो उस पहले गुरु पंडितजी के साथ नहीं थी। आज जब मैं अपने मन को चेतना की चलनी से छानता हूँ, तो अजीब-से तथ्य समझ में आने लगते हैं।

सोचता हूँ, लोग उस मास्टर की ऐसी तारीफ करते थे, पर उस पढ़ाई का मूल्य, उस मार का फल!

यह उस समय भी जानता था कि मास्टर साहब किसी स्कूल में नहीं पढ़ाते। उस समय भी जानता था कि वह किसी सरकारी प्रेस में मुलाजिम हैं। प्रेस जहाँ किताबं छपती है। तब तो वह और बड़े आदमी होंगे। दसवाँ दर्जा पढ़े हैं। अंगरेजी! बाप रे। लेकिन उनको उस समय भी मेरे घर में उसी बर्तन में पानी मिलता था, जिसमें रऊफ़ चाचा को मिलता था। लोग कहते थे—'मास्टर साहब कैंथी हैं। कैंथी और मुसलमान में क्या अन्तर। खान-पान एक ही होता है दोनों का। रहन-सहन में दोनों सुथनाबाज हैं। दोनों ही मुंशीगीरी करते हैं।'

आज सोचता हूँ, तो बात जरा कड़वी ज़रूर लगती है। अब कोई-कोई ही इस तरह का सुथना और उसमें वह लटकता हुआ नारबंद बाँधते

" । जो लोग बाँधते हैं, उन्हें लखनौवा कहा जाता है—यानी वह दूसरे फैशन के लोग माने जाते हैं--लड़कों की ओर उनका झुकाव ठीक नहीं माना जाता । वह लड़कों के कान इस बेरहमी से मसलते हैं कि इससे उनकी इच्छा को अजीब-सी शान्ति मिलती है--बस और मार का कारण कुछ नहीं । विद्या के आने-जाने से उसका कोई सरोकार नहीं । मार एक बहाना है, उनकी अपनी तृप्ति का—अपनी पूजा का । उनका पेशा है लड़कों को पढ़ाना । इस बहाने रुपये मिल जाते हैं । उन्होंने जीवन भर कम्सिन लड़कों को पढ़ाया है । मुझे अपने मास्टर साहब का हाल उस समय तक मिलता रहा है, जब तक मैं बी० ए० में गया था । उस समय भी वह गवर्नमेंट प्रेस की मुलाज़मित में थे । सुथने का नारबंद उनकी जवानी के आलम की तरह लंबा नहीं लटकता था, फिर भी लटकता था । वह मेरी ओर अजीब निगाहों से तब भी देखते थे--झेंप जाते थे; क्योंकि शायद उनका पढ़ाया लड़का बी० ए० में था और वह वहीं थे और दुनिया उनके हाथ से निकल गयी थी । फिर धीरे-धीरे मैं उनके सामने से स्वयं ही कतराने लगा था । उन्हें इस तरह शर्मिन्दा करना अच्छा नहीं लगता था । वह मास्टर थे, काफी जगह पर पक्के मास्टर थे । यह दूसरी बात थी--आज जमाना दूसरा था ।

मैं दो क्षण के लिए रुका रहा । आज मेरे आगे जो मास्टर खड़ा था उसके नाम के आगे 'रिंग' शब्द जुड़ा हुआ है । उसके हाथ में लम्बी सटाक- ; ; : ी चाबुक थी और सामने आठ घोड़े थे । एक घेरा था और उसकी निगाहों में अपने घोड़ों के लिए असीम प्रेम था । उसके होठों से श्याबास, बहुत खूब, नहीं, फिर से...निकल रहा था ! कभी-कभी वह हवा में चाबुक फटकारता था ।

मैं सोच रहा था—'भले घोड़े को एक चाबुक, भले आदमी को एक बात ।'

क्षुद्रता को छिपाये रखने में आदमी की विशेषता है । इस गोपन को अति गोपनीय रखने में वह तर्क के कौन-से बाण रख छोड़ता है । मैं

जुहू 'बीच' पर सुबह-सुबह खड़ा हूँ। एक लहर को पछाड़ती दूसरी लहर आती है। दूसरी के बाद तीसरी। किनारे खड़ा आदमी गुम-सुम खड़ा है। म सोचता हूँ कौन है यह? इस विचार से रोमांच हो आता है। समुद्र ज्वार पर है। कदम-कदम पीछे हटना पड़ता है। लहर निरन्तर ऊँची और आगे बढ़ती आ रही है। भयावाह के अंतर में भी एक सौंदर्य की चेतना है। जो मन को डरा कर भागने के लिए, छिपने के लिए परबस नहीं करती। एक अजीब-सी रोचकता और श्रद्धा में मन नत है। किनारे पर खड़ा आदमी अंदर-ही-अंदर सोच रहा है। ऊँचा कगार है। नीचे गंगा की मुक्त धारा निबंध हो कर किनारा काटती हुई आगे बढ़ रही है। अर्...र...धम्म् के स्वरों में कगार का कोई हिस्सा ध्वस्त हो गिर पड़ता है! पुराना ढह रहा है नित नया बनने के लिये। वहाँ सौंदर्य अपनी कोमल भावनाओं में सजा दिखा था, इस आदमी को। आज वही आदमी इस वीभत्सता में डूब गया है। सोचता हूँ, आदमी का मन क्या है—बच्चों के स्वभाव-सा बदलता रहता है।

उस दिन वह आदमी मैं था। आज भी मैं हूँ। उस दिन इस 'मैं' से लिपटा-चिपटा था। आज दोनों स्थितियों को मन की प्रयोगशाला में रख कर सोचना पड़ रहा है।

कल रात जो कुछ बीता है, उसका आभास बहुत पहले से ही मिल गया था। लगता है जैसे रात की कालिख अभी भी मुँह पर लगी है। अवाक् अपनी ही हाथ बार-बार मुँह पर फेरता हूँ। हाथों को घूर कर देखता हूँ—क्या सचमुच कालिख है। यदि हाँ, तब हार नहीं विनाश होगा। लहरें अभी भी सिर धुन रही हैं। मैं पीछे आ कर गाँधीजी की मूर्ति के पास आ बैठता हूँ। एक कुतिया भागी जा रही है। पीछे एक लम्बी लाइन भर कुत्ते हैं। कल रविवार की साँझ थी। समुद्र की लहरें पूरी नहीं चढ़ी हैं। पूरी चढ़ जायेंगी, तो थोड़ी देर में कल शाम का बिखरा कूड़ा, चाट के पत्ते, नारियल के छिलके और भेल-पूरी की चटनी

से सने कागज जो अभी भी पड़े हैं, सब साफ हो जायेंगे। कुत्ते कहीं रुकते हैं, कुछ सूँघते हैं, कुछ चाटते हैं, चले जा रहे हैं--इधर-उधर भागते किलोल करते। सब कुछ वही है, वैसा ही है; लेकिन आदमियों की भीड़ नहीं है। भेल-पूरी और आइसक्रीमवालों की गला-फाड़ चिल्लाहट नहीं है। उनकी ऊँची बेंचें और छतरियाँ नहीं हैं। मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ, तो कानों पर उसी तरह शोर छाता जाता रहा है, जैसाकि रविवार को जूहू के किनारे मचता है। बन्द आँखों के भीतर ही कहीं किसी बच्चे की रोने की आवाज है, तो किसी जगह डुगडुगी बजने का स्वर। कहीं कोई पिपीरी बजानेवाला है, तो किसी की बाँसुरी पर किसी सिनेमा की धुन का गान निकाल रहा है--'ढूँढो ढूँढ़ो रे बालमा, मेरे कान का बाला!'

बहुत-सी मिली-जुली आवाजों के बीच जो मन की तरंगों पर अपने दिल का बैंड बज रहा है, वह इन सब से ऊपर है। कहीं किसी से मेल नहीं आता। जैसे अभी-अभी मिस्टर गोपालन पूछ रहे हैं। मैं फटी-फटी आँखों से उन का चेहरा देखता रह गया हूँ। मेरे मन की बातें उनकी पकड़ के बाहर हैं। जैसे वह पूछते-पूछते अपने-आप ही खिजला पड़ते हैं। मैं कोरी खाली निगाहों से उन्हें देख रहा हूँ। अन्दर का जो मंथन है, वह चेहरे पर उमड़ पड़ना चाहता है। मैं लाख प्रयत्न करता हूँ, उन सब बातों को पी जाना चाहता हूँ। पर जैसे वह मेरे वस की बात नहीं रह गयी है। शिकंजा कसता जा रहा है। मुँह खोल कर कह नहीं पाता हूँ। मन में एक बड़ा भारी प्रश्न-चिह्न खड़ा हो गया है। वह मुझे बहुत पीछे घसीट ले चला है। पीछे उस दिन जब मैं सरकस के उस तंबू-कनात में पहला शो देखने को खड़ा था।

कभी मन ने माना था--हर धन से भी एक धन अलग होता है, जो अपना सानी नहीं रखता। उसे मूलधन कहने में असुविधा न होगी। स्त्रियों को जो मूलधन है वह यहाँ कहीं नहीं। सब आडंबरहीन, सब कुछ

खुला-खुला ! वेश्या का कोठा नहीं है। भले घर की ललनाओं की तरह शरीर-प्रदर्शन की होड़ नहीं है । तनिक देर में विचार आया, सरकस का भी कोई नियम-विधान भी तो होगा । अभी थोड़ी देर पहले अपने-आप से शर्म आ रही थी । मैं पैसे देकर दर्शकों की पाँति में नहीं बैठा हूँ । इनके बीच दिन भर में जो कुछ देख पाया हूँ, उससे यह शो की दुनिया ही कुछ दूसरी है।

इनके शरीर पर वह छोटी अधकटी चिपकी हुई जाँघिया जाँघों के ऊपर कसी है, छोटी-सी चोली ऊपरी हिस्सों को ढँके है। एक क्षण के लिए यह प्रदर्शन आँखों में चुभ गया । समझ नहीं पा रहा था यह विधान ! हर उमर की लड़कियाँ हैं । सुबह से, इस समय के पहले भी वे थीं । लेकिन उस समय की वेश-भूषा में कोई यह नहीं कह सकता था कि यह सरकस की नहीं हैं । न जाने क्यों इनको इस वेश में देख कर नहीं ही कहना रुचि कर लगता है । सारा हाल तालियों से गड़गड़ा रहा है । यह हाथी, घोड़े, ऊँट, बबर शेर और चीते--यह साजो-सामान सुबह पहली दृष्टि में व्यर्थ का आडंबर लगा था । लगा था आदमी के मन बहलाने के उपकरण भी कितने अनोखे होते हैं । फिर इस झंझटपूर्ण व्यवसाय में क्या रस आता होगा गोपालन साहब को, जो इस देश में रहते हुए भी विदेशी हैं । लेकिन अपने धर्म, अपने देश और उससे संबन्धित हर अपने-पराये से उनको पूरा-पूरा लगाव है । वह आज भी उतने ही शैव हैं, जितने कि मद्रास के किसी गाँव में रह कर होते । पर अब धीरे-धीरे रहस्य खुल रहा है । लगता है--कितना छोटा था मैं । अपने ही अन्दर अपना कैदी या और था कितना परवस !

लगता है यह भी एक मंदिर है--साहस का, खतरों से खेलने का ! हर क्षण मौत मुँह वाये खड़ी है । सरकस की हर इकाई एक क्षण पूर्व जो कुछ खा चुकी है, दूसरे ही क्षण उसका मूल्य अदा कर रही है । सुबह सोचा था--यह लोहे के मोटे-मोटे कड़े, यह रस्सियों और जालों के ढेर

आडम्बर नहीं तो और क्या हैं ? हाथी ! वह मेरे बावा के राज में हमारे द्वार पर बँधे रहते थे। ऊँटों पर बैठ कर कितनी बार हमारे यहाँ यात्री आते थे। घोड़े ! उन को गहरेबाज इक्कों में जोत कर हमलोग जान हथेली पर रख नहीं चले। पर नहीं, वह सब साहस प्रदर्शन के लिए नहीं था, दूसरों की आत्मतुष्टि के लिए नहीं था। पर यहाँ ! यहाँ तो जो कुछ दिखलाया जाता है, उसके पीछे एक अजीव चक्कर है। रिंग-मास्टर की पत्नी इस देश के कहीं दूर गाँव में रहती है। उसकी पर्स में एक फोटो है, जिसमें बीवी-बच्चे हैं। वह आज दोपहर को कहीं चला गया था। मैं बड़ी देर तक खोजता रहा। जब मिला तो हँस कर बोला—'गया था पोस्ट आफिस !'

मैं चौंका—'पोस्ट आफिस !'

'हाँ ! घर पैसा भेजना था। बच्चा वीमार है।'

रिंग-मास्टर के हाथ में एक लम्बी चाबुक है। सामने एक जोड़ा बवर शेर हैं। जिन्हें वह कुर्सी पर बैठाने की चेष्टा कर रहा है। चीते पहले ही दुबके बैठे हैं। भालू पीछे दबे हैं। यह देख मेरा ध्यान उस पत्नी और बच्चों के दर्शन करने लगता है, जो किसी गाँव में होंगे और तभी शेर जोर से गरज उठता है। गोपालन साहब ने कहा था—'एक्सीडेंट !' जब एक खेल समाप्त हो जाता है हमारा सिर एक बार अन्दर-ही-अन्दर झुक जाता है। शुक्र है, आज कोई बात नहीं हुई।

मुझे ताज्जुब हुआ था, उसकी बात को सुन कर ! यह आदमी जिसे मैं कितना बड़ा साहसवाला समझता था, अंदर से कैसा है। ऊपर जटा और कड़ी काठ से कसी कमजोरगरो। लेकिन नहीं, जो एक्सीडेंट और असंभावनाओं को ही घेरे बैठा हो, उसके लिए इस तरह सोचना उपयोगी नहीं। बात सच थी। यह रिंग-मास्टर क्या था भाग्य के सागर पर बढ़ती हुई जीवन की एक लघु लहर ! वह पशु हैं, जो भय से त्रस्त मानव के हाथ का खिलौना बने हैं। किस घड़ी उनकी पाशविकता दमक

उठे, इसका लेखा-जोखा मनुष्य के किसी भी विधान में नहीं। किस घड़ी—और तब लगा; उस गाँव में बैठी उस युवती का, जो अपने रुग्ण बालक को लिये बैठी होगी, जिस घड़ी सुख चुक जायेगा, उसके बाप गोपालन साहब की सारी प्रार्थना, आस-पास खड़े आदमी की सारी शक्ति लोप हो जायेगी। कितना सच लगता यह सब! सुबह मिस मालती से भी मैंने बातें की हैं। वह आठ साल की लड़की है, जो तीस फुट ऊँचे बे-लाग की सीढ़ी पर झूलती है। पाँच वर्ष की थी, तब से ही वह इस सरकस की सदस्या बना ली गयी। सारे दिन सुनी है, उसकी कहानी। उसका बाप माधवन रिंग-मास्टर था, गोपालन साहब का दोस्त! उस दिन सब ठीक था। बहुत दिनों से ठीक था। माधवन ने अचानक सुबह कहा—'आज अजीब-सा लग रहा है! कल रात मुझे मालती की माँ दिखी थी।' और फिर दिन भर वह उदास था। पहले शो के खेल की घंटी बजी। आज शेर की दहाड़ में तेजी अधिक थी। वह घेरे में आते ही अपने साथी शेर से लड़ पड़ा। शायद छब्बीस जनवरी थी। शहर कोई बहुत बड़ा नहीं था—यू० पी० का ही कोई कस्बा था। खूब भीड़ थी। उस पखवाड़े में काफी पैसे आये थे।

माधवन इस समय हँस रहा था। उसकी चाबुक हवा में लहरा रही थी। शेर अलग हो गये थे। एकाएक पीछे दर्शकों में बैठा लड़का जोर से रोया। वह ऊपर बेंच पर बैठा-बैठा गिर पड़ा था। माधवन का ध्यान बँट गया। वह क्षण भर के लिए गफलत में आ गया। उसकी पीठ तनिक-सी घूमी। चाबुकवाला हाथ पीछे फिरा। वह रोते हुए बच्चे को देखने लगा। शेर मौका पा गया था। यों कहो, मौत को अवसर मिला था—खुल खेलने का। शेर ने झपाटा मार दिया था। गोपालन साहब का हाथ बिजली की गति से रिवालवर पर गया। एक फायर करके रिवालवर का ट्राइगर फँस गया! पहला वार मिस हो चुका था। माधवन को मौत से निकालने में गोपालन ने क्या नहीं किया? पर वह क्या मानव की उस असीम के आगे सीमित ताकत नहीं थी!

माधवन की पत्नी पहले ही मर चुकी थी। बेटी उसी जमात में पलने लगी। और आज वह मेरे सामने उस वेलागवाले झूले पर झूलने जायेगी। क्या वदन है उसका ! मैं उस झूले को देख रहा हूँ। उस लड़की को देख रहा हूँ और इस सारे कैम्प को देख रहा हूँ। यह सारे आदमी किसी के बच्चे, किसी के पति, किसी के भाई, किसी के पिता होंगे और बवाल में आते हुए माधवन साहब मुँह में दबा चुरुट निकालते हुए जोरों से मेरी वाहों पर थपकी देते हुए कहते हैं--'क्या देखता ? आता मजा ?'

'मजा !'--दोहरा कर मैं चुप हूँ।

मैं जबरन मुस्करा कर रह जाता हूँ।

वह जो मौत के कुएँ में मोटर सायकिल चलाते हैं। वह जो मौत की रस्सी पर शरीर साधते हैं, सब कुछ मेरे मन के परदे पर सिनेमा के चित्रों-सा घूमता जा रहा है। धीरे-धीरे खेल समाप्त हो रहा है। एक दिन समाप्त हो रहा है। यहाँ हर चीज़ पूरी आवश्यकतानुसार पक्की योजनानुसार ही रखी गयी है। कोई चीज अनावश्यक नहीं। एक चिरई का पूत ऐसा नहीं, जो बिना जरूरत का हो, जो हराम का खाता और पड़ा रहता हो। जैसे सभी शरीर के छोटे-छोटे पोर हैं। कोई हाथ है कोई पैर है कोई दिमाग है। एक की कमी से शो में फर्क पड़ जायेगा। उसको पुराना होने पर बदलना ही पड़ेगा। सारे शो की एक जान होती है-- उसको अपनी कल्पना से सजाते हैं गोपालन और जब तक शो चलता रहता है, वह बास बने नहीं घूमते। उनकी पैनी निगाहों में तनिक-सी गलती नहीं चूक पाती। जरा-सी गफलत उन्हें मिट्टी में मिला सकती है।

इसे खत्म होने पर लगता है कि मैं उस बेबी को उस मालती को गोद में भर लूँ उसे खूब जोर से पुचकारूँ--प्यार करूँ ! पर क्या ऐसा करना ठीक होगा ? मैं न्याय पर अपने को तौलकर पीछे हटने लगता हूँ। वह भागी आ रही है। मैं अपने को रोक नहीं पाऊँगा। जबरन उसे उठा

लेता हूँ। नहीं जानता मैंने क्या किया है। सारे आदमी सभी छोटे-बड़े एक क्षण को ठिठक कर रुक जाते हैं। शायद ऐसा कभी नहीं हुआ। यह लोग जो एक परिवार जैसा चलाते हैं, उस रस्सी पर चलते समय अगर एक भी व्यक्ति जरा-सी ईर्ष्या में गफलत बरते तब--! तब का अनर्थ--जैसे मैं सह नहीं सकूँगा। पर यह सब अलग-अलग दूर-दूर के छिटके हुए प्रांतों के लोग हैं। एक दूसरे से एक दम भिन्न फिर भी एक सूत्र में गुँथे, पिरोए।

इन बातों से मन की जो दशा हुई है वह और मन को बींध चुकी है। मैं नहीं जानता था ममता का यह सागर मन के किस कोने में सीमित सिकुड़ा-सिमटा पड़ रहा। वह वेग जो मुझे पीछे छोड़कर आगे फूट पड़ा है, मैंने उसी वेग से इस बेबी को अपनी बाँहों में बाँध लिया है।

वह मेरे अचानक के इस प्रहार से क्षण भर के लिये घबड़ायी है। मैं दिन में भी उससे बातें कर चुका हूँ, वह मेरी बाहों में चुप है। मैं उसके दिल की धुकधुकी सुन रहा हूँ।--धक् धक्...धक्...। मैं उन खाली धड़कनों को सुन सकता हूँ--पर क्या मैं...।

और याद आता है कभी मैंने इस तरह के प्यार को भी ठुकरा दिया था। मर्महीन थीं यह बातें उस समय मेरे लिये।

मैं उस भीड़ में उस बच्ची को लिए खड़ा हूँ। जैसे मैं अपने कमरे में हूँ। घर में हूँ। वही मेरा पैतृक घर, वही मोहल्ला, वही गलियाँ, सब कुछ जैसे एक बारगी डूबे हुए समुद्र के अतल से बाहर भूमि पर आ जाती हैं। जाड़े की धूप फैली है--पतली बहुत पतली। सामने खिड़की पर खड़ा हूँ। मेरे मकान के बगल में खुली जमीन है। कहारों के खपरैलवाले इकहरे घर हैं। इस खिड़की पर जब भी खड़ा होता हूँ--तो मुझे खल जाता है। पर कमरे में यही एक खिड़की है और खिड़की के बाहर वही दृश्य है। सब एकदम पुराना--सदियों का पुराना। न जाने क्यों जबरन कभी-कभी खड़ा होता हूँ। धूप अच्छी आ रही है। मैं खड़ा हूँ।

सामन एक कोठरी है। उसके खपरैल पर एक बिल्ली धूप में दुबकी बैठी है। रबड़ का जूता बहुत दिनों से खपरैल पर पड़ा सड़ गया है। एक फटी पतंग खपरैल पर पड़ी है। मेरी निगाह घूमकर नीचे आती है। धूप नीचे भी है। एक कहारिन बैठी है। औरत है। नयी थी कभी। मैं यह भी जानता हूँ किसकी औरत है। यह कोठरी किसकी है। उसके सिर पर धोती का पल्ला एक तरफ कानों के पीछे से फँसा है। आधा माथा खुला है। कानों में चाँदी की बड़ी-सी तरकी है, जिससे चाँदी की चेन जूड़े में खुसी है। बीचोबीच माँग में बोर बँधा है––चाँद-सा एक गोल टिकड़ा। घने काजल से आँखें भरी हैं। पैर की धोती उसने काफी ऊँचे तक खींच रखी है और नंगी जाँघों पर वह अपने लड़के को लिटा कर तेल लगा रही है। गोदी का लड़का है।

क्या जाने क्यों मैं चित्र लिखित-सा खड़ा हूँ। सब कुछ जैसे एक चित्र है और आँखें अपने-आप ही चुन रही हैं। सँजो रही हैं। किसी पृष्ठभूमि की जरूरत नहीं है। मैं चुप खड़ा कभी उस बच्चे को देखता हूँ, कभी उस जाड़े की सुनहरी धूप को देखता हूँ जिसमें आंच नहीं, केवल रंग है। कभी खपरैल पर पड़ी चीजों को देखता हूँ, बगल के घरों के बाहर टँगीं मिरचों की माला को देखता हूँ, जो सूखने के लिए पिरो-पिरो कर टाँग दिये गये हैं, हरी-लाल मिर्च एक-दूसरे के अगल-बगल गुँथी हुई।

बीच-बीच में लड़का किलकारी भर लेता है।

मैं वैसे ही सींकचा पकड़े खड़ा हूँ। धूप की दो-चार किरणें मेरे हाथों पर, नाक पर पड़ जाती हैं।

सामने की कहारिन तेल लगा चुकी है। पास में अँगीठी भी रखे है। उस पर हाथ सेक लेती है। गरम-गरम हाथ बच्चे की पीठ पर पड़ता है, तो वह किलकारी भरने लगता है। मैं किलकारी सुन अपने में वापस आ जाता हूँ। औरत तेल लगा चुकी है। धूप में बच्चे को वैसे ही

बैठी-बैठी उछाल रही है। बच्चा हँस रहा है। अबोध है। एक बार उछालकर वह उसे हाथों में लोकती है और उसका सिर चूम लेती है। एक बार, दो बार। फिर उसे उछालती है फिर बच्चा खिलखिलाता है। वह बच्चे का मुँह चूमती है, नाक चूमती है, गाल चूमती है, गरदन चूमती है, छाती चूमती है, पेट चूमती है। हर बार के चूमने में बच्चा और अधिक हँसता है और अधिक खिलखिलाता है।

फिर मैं यह देख रहा हूँ। उस औरत ने पेट चूमते-चूमते अजीब-सी क्रिया की है। उसने उसके पेट को जोर से चूमा है; फिर मुँह से और नीचे गुदगुदाने लगी। ..वह उसे चूम रही है। बच्चा उसके हाथ में ऐंठ रहा है। गुदगुदी की चरम सीमा का उसे भी क्या ज्ञान होगा !

एकाएक ऐसे ही अवस्था में औरत की आँख बगल की ओर उठती है। आँखें टकराते-टकराते मैं हट जाता हूँ। वह जान गयी है। चोरी देखी जा चुकी है। वह भाग कर अपनी कोठरी में चली जाती है। कोठरी का दरवाजा नहीं खुला है। मैं उस दृश्य को सोच कर व्याकुल हो उठता हूँ। मनुष्य का साधारण स्वभाव पशुता से भी बहुत नीचे है। एक असीम दर्द मन में समा गया है, जो फड़फड़ाना चाहता है। मैंने अपनी खिड़की बन्द कर दी है। फिर बहुत दिनों तक नहीं खोली।

आज एकाएक वह खिड़की इस जगह याद आ गयी है। माँ के प्रेम, वासना का वह रूप मन में उसी दर्द के साथ करवट ले रहा है। दर्द पल-प्रतिपल बढ़ता जा रहा है। बरदाश्त के बाहर--सहने की शक्ति से परे हो चुका है। मैं अपने बाजुओं को अपने हाथ से कसे खड़ा हूँ। भूल गया हूँ कि उसमें एक लड़की कसी है, जो मुक्त होने के लिए अकुला रही है, कुलमुला रही है।

पीछे से गोपालन साहब आ धमकते हैं। अबकी बार उनके हाथ की थपथपी और जोर से पीठ पर पड़ी है। वह वैसे ही कहते हैं--'फिर

क्या सोचा ? यह बेबी अच्छा लगता है ? कैसे काम करता है ? हमारे सरकस का जान है, क्वीन है ।'

मेरी बाहें ढीली हो चुकी हैं । वह लड़की उतर कर टा-टा करती चली गयी है ।

गोपालन साहब ने दोपहर को मेरे सामने प्रस्ताव रखा था । वह उसी के बारे में पूछ रहे थे, मैं फिर वैसे ही खड़ा हूँ । मालती बच्ची है । मेरी बाहें आपस में अभी भी वैसे ही कसी हैं । दिमाग में उठा हुआ दर्द का तूफान धीरे-धीरे शांत हो रहा है ।

सरकस के दूसरे शो की तैयारी हो रही है ।

मैं तंबू के एक ओर रस्सी को जो दूर जमीन के एक खूँटे से बँधी है, पकड़े खड़ा हूँ । ऊपर नील आकाश है । कहीं-कहीं ही तारे हैं और खेमे के भीतर भीड़ है, भीड़ का कोहराम जवानी पर आ रहा है ।

यह दिन का बचपना, यह सुबह का नंगापन जिसे स्वयं ही अपने नंगेपन का आभास नहीं है—दूर क्षितिज तक फैला हुआ अशांत समुद्र मेरे मन में भर रहे हा हा कार से तादात्म्य कर रहा है । मैं गाँधी की इस मूर्ति के किनारे बैठा-बैठा अपने मन के शीशे को तोड़ रहा हूँ । यह चुभता-भटकता हुआ अकेलापन । जब जब जाता हूँ, तो खड़ा होकर टहलने लगता हूँ । सोचता हूँ मैं गोपालन साहब को खोजने नहीं गया था । वह आप ही आ टकराये थे ।

फिर !

फिर वही जो होता आया है । हमेशा होता रहा है । तुम मिले हो, आओ मिल बैठें, कुछ बातें करें । दुख-सुख बटायें । ऐसा फंदा फेंका था । ऐसा जाल था कि मन की मछली उलझती ही गयी । चारे के लिए नहीं । अकारण ही । खूब सोचा । क्या लालच था, जो गोपालन साहब की बात मान गया । वह शरीर को थपथपा कह-कह जाते थे । मैं सहमते कलेजे से सुन लेता था । अपने को कड़ा कर लेता था । पहले सोचा

अभी थोड़ी देर में चलता हूँ। फिर दिन के खाने के बाद चला ही जाऊँगा। पहले खेल के बाद देखने को और क्या रह जायेगा। उनका उलहना क्यों रखूँ। कहने लगे थे--'हमारा शो नहीं देखेगा?'

शो खत्म हो गया था। मुझे देखते ही बोले--'क्या सोचता है?'

फिर वही थपकी...जोर से रोषपूर्ण चुनौती। मैं हार रहा हूँ। उस मालती की कहानी ने उसके करतब ने पछाड़ दिया है। सोचता हूँ गोपालन साहब शरीर के लिए ताना देते हैं। कहते हैं मेरे जैसे आदमी को यों भटकने से क्या मिलेगा। इसका उपयोग होना चाहिए। उपयोगिता मैं मानता ही नहीं। दूसरे शो के बाद मालती भागी जा रही है। मैं वहीं खड़ा देख रहा हूँ। वह एकबारगी वैसे ही भागती रुक जाती है, मुड़ती है और मेरे सामने आ खड़ी हो जाती है--'आप?'

'हाँ, मैं?'

फिर दोनों चुप खड़े रहते हैं। कुछ देर वह घूमने को उद्यत होती है। मैं पुकारता हूँ--'मालती!'

वह चुप सिर हिला खड़ी रहती है। उस अँधेरे प्रकाश में उसकी छोटी-छोटी दो आँखें जुगनू-सी चमक रही हैं।

मैं पूछता हूँ--'मैं यहाँ रहूँ तो तुझे कैसा लगेगा?'

'मुझे?' वह पूछ कर रुक जाती है। जैसे विश्वास ही नहीं होता उसे। एक क्षण रुकती है और उतनी ही देर में मन आकाश-पाताल नाप जाता है। वह फिर दोहराती है।... 'मुझे? मुझे...कैसा लगेगा। अच्छा लगेगा।'

मैं फिर कहता हूँ--'तो मैं यहाँ रह जाऊँ?'

मुझे कुछ कहना चाहिए था। अकारथ ही मैं कह जाता हूँ। जिन बातों का कोई अर्थ नहीं है वह कह गया हूँ।

'जरूर !'––वह कहती है और बिना रुके भाग जाती है। दौड़ती चली जाती है। फिर गोपालन साहब। फिर उनका टेंट और यह क्या ? मैं बात हार गया हूँ। आज का खाना गोपालन के ही साथ होगा। खाने की टेबिल पर तीन आदमी हैं।

उन्होंने मुझे छूट दे दी है। बोले... थोड़ा पहले कहा होता तो तुम्हारा गाजर, मूली का खाना ठीक से बनवा देता।

मैं हँस देता हूँ। मेरी निगाह उस नारी मूर्ति की तरफ जा टिकती है। परिचय हो चुका है इसलिए और अजीब बातें मन में उठ-उठ आती हैं। लकड़ी का एक क्रास है। बहुत खूबसूरत लकड़ी जिस पर पीतल की प्रतिमा है। शूलयुक्त ईसा दूसरी ओर शिव की प्रतिमा है। खाना रहने के ही टेंट में लगाया गया है। सोलह उपचार से सामग्री सजी है। अतिथि के लिये कुछ भी नया नहीं किया गया है। बीच में ही हम दोनों को छोड़कर गोपालन साहब चले गय हैं।

अगले दिन भी वह रात के खाने के पूर्व चले जाते हैं। तब मैं खोद-खोदकर रहस्य जानने के लिए उत्सुक हूँ। आज सोचता हूँ—वह अपना खाना छोड़ हर टेंट में झाँकते हैं। सबसे पूछते हैं उसका खाना हुआ या नहीं ? घर के बड़े का हर हक़ बखूबी निभाते हैं।

अकेले हम दोनों टेबिल के आमने-सामने रह जाते हैं। कुछ कहने पूछने की बात खोजता हूँ। यह ऐमली है, जर्मन माँ और इतालवी पिता की पुत्री। कभी गोपालन साहब भी रिंग मास्टर थे और मैं एक के बाद एक बात पूछता चला जाता हूँ। जितनी सतहें उलटता हूँ, उतनी ही जिज्ञासा जागती है। मैं सीधे एक ही प्रश्न पूछना चाहता हूँ—'पति-पत्नी मैं कैसे बनती है ?' जीवन जैसे खौल खेलता है उसके मुँह पर।

बाद में जाना—इस सारी सरकस की योजना के पीछे यह बैठी-बैठी सूत्र संचालन करती है। तब लगा गोपालन से अधिक ऊँचा स्थान इन्हें मिलना चाहिए। पर नहीं, गोपालन इनसे अधिक अपने सरकस को प्यार

करते हैं। इनकी दोनों टाँगें बेकार हैं। पहले ही दिन पता चल गया था। वह मौत के कुएँ में मोटर सायकिल चलाती थी। और एक दिन एक्सीडेंट हो गया।

'तो क्या उसके बाद आपने शादी की।'

'नहीं। हम शादी पहले रचा चुका था। यह हमारा फोटो है।' उन्होंने एलबम खोल कर रख दिया।

वह रूप, सौंदर्य का अनोखा रूप, अभी भी मेरी आँखों के सामने कौंध जाता है। और सोचता हूँ। वह नहीं, बन्नो बैठी है।

फूल भरे बिस्तर पर तकिया नहीं थी। वेणी कस कर बनी थी फिर भी बिनती ने धीरे-धीरे गाँठें खोल डाली थीं। जरी की चोटी अधखुली लटक रही थी। शृंगार, उत्सुकता, लालच, संभ्रम न जाने क्या-क्या मन में लिये खड़ा था। बन्नो नयी नहीं थी। पर आज के रूप में मैंने उसे पहले नहीं देखा था। मैं एक टक देख रहा हूँ।

'यह अपने आनंद के लिए सजी है?'—मन का प्रश्न था।

फिर मन ने ही उत्तर दिया—'पराश्रिता।'

और तभी उसने दोनों हाथों से अपनी आँखें ढँक लीं।

किन-किन टिन-टिन गहने बोल उठे।

वह अप्रस्तुत थी—मेरे इस तरह आने के लिए।

पर यहाँ ऐमली और मेरे बीच कोई गोपन घटनेवाला नहीं है। वह राजसी शान से बैठी है। सब कुछ विपरीत होते हुए भी एकाएक लगा जैसे बहुत कुछ बन्नो का आभास पा रहा हूँ। शायद भ्रम हो आँखों का, देखने का।

इस भ्रम की बात बाद में खुली। बताया गोपालन ने ही। कैसे उन्होंने शादी की, फिर कैसे उन्होंने इस औरत को निभाने के लिए

अपना जीवन-बदला, अपना रवैया बदला और निभ गयी, निभती चली जा रही है।

अहम् वाली औरत है। बस !

शायद यही अहम् की वह झलक थी जिससे बन्नो याद आयी थी। फर्क नहीं था, बहुत-सी बातों से वह अबोध थी—अज्ञान के कुंड में कोल्हू के बैल की तरह सीखी थी—चरैवैत-चरैवैत।

फिर वह अपने टेंट में ही अधिक रहती हैं।

मैं रोटी खाता हूँ—तो काम करना शुरू करना ही पड़ा।

धीरे-धीरे सब कुछ समझ में आ रहा है। बड़ी छूट है सरकस के मालिक की। पुराने लोग साथ छोड़कर चले जाते हैं। भटकते हैं—कहीं ठिकाना नहीं मिलता तो वापस आ जाते हैं। कभी कोई विदेशी आ जाता है। कुछ दिन साथ रहता है। अपने काम दिखाता है चला जाता है। न आने पर प्रतिबंध है न जाने पर रोक। घर की तरह सब को खिला कर खाते हैं। सब बच्चे हैं उस आदिम पुरुष के।

मैं भी हवाई झूले पर चढ़ता हूँ। पैर फंसा कर उलटा झूलता हूँ। सामने वाला व्यक्ति दूसरे झूले पर झूल कर पास आता है और उसका हाथ छोड़ते ही मैं उसे पैर से पकड़ कर झुलाता और वापस लौटाता रहता हूँ। सब कुछ मशीन-क्रम से होता है।

कभी युवकों के पैर होते हैं। कभी लड़कियों के।

उलटे टाँगों के बल झूलते हुए दुनियाँ की सीधी गति समझ में आती है।

काश आसमान में एक ऐसा ही झूला टँगा होता ! और मैं इस समुद्र की छाती पर उलटे झूल सकता ! शायद तभी तृप्ति मिल पाती।

× × ×

दिन काफी चढ़ आया है। मन पूछता है कहाँ तक बैठे सोचते रहोगे। गाड़ी आठ बजे जाती है। नौ बज चुका है। वापस लौटते-लौटते बारह बजेंगे।

× × ×

कल रात यहाँ सरकस लगा था।

आश्चर्य होता है वह आयोजन देखकर। आज खुदी हुई जमीन है। कहीं-कहीं धरती की छाती पर छेद बने हैं। यहाँ मोटे लट्ठे गड़े थे। सोचता हूँ, उसकी आँखों में किस कदर रस का आवेश था। कैसी मादकता थी। उन सबको याद कर मन पंख खोलकर उड़ने लगता है।

वह निकिता थी। अवस्था में हमउमर। रूप-रंग ऐसा कि कोई भी हाथ पकड़ कर चल पड़ने को तैयार हो जाये। घूरना नहीं आता, अतः पहली बार उसकी आँखों में क्या था बता नहीं सकता।' तृषित दृष्टि नहीं पायी वरना बहुत कुछ कहने को दिल चाहता। राजसिंहिनी, वनसिंहिनी, गजगामिनी, नहीं, वह सब नहीं कहूँगा। वह कहने में पाप लगेगा। और जो मन में था नहीं उसे सामने रखकर व्यर्थ का पाप ढोना खलेगा ही। उम्र कितनी है यह पता नहीं लगाया। शरीर पर कब कपड़े रहते हैं, कब नहीं इसकी भी खोज-खबर नहीं थी। पर यह बराबर लगता रहा—दो चरण पीछे लगे रहते हैं। जो पीछे रहते हैं उनके बारे में मुँह से कुछ कहना अपने को ही खाली करना है। हाँ कभी-कभी दो काली आँखें मन में गहरे डूब जाने को सामने आ टकराती थीं—तब जरूर भागने की फिक्र करता था। सोचता था—रूपवती और वह भी तरुणी!—कटाक्ष और ठंडी साँस सहने को जगह कहाँ थी।

मनस्तत्व का विश्लेषण शुरू हुआ।

कैसे समझाऊँ—'हे अन्नपूर्णा! हे माँ तारा! यहाँ कुछ बाकी नहीं है। जो कुछ है वह ऐसा है जो बँट नहीं सकता।'

पहली बार जब सुबह मैं गाइड के साथ हवाई झूले पर रस्सी की सीढ़ियाँ चढ़कर गया तब एकबारगी नजर नीचे गयी। उस समय यहाँ कोई खड़ा होगा—यह बात समझ में नहीं आयी।

उस दिन खेल में नाम सुना—लीना। जात पता लगाने की जरूरत नहीं थी। दूसरे या तीसरे दिन मैं उस प्रमुख झूले पर था, जहाँ से आने-

वालों को पैर या हाथ पकड़ कर वापस भेजना होता है। दूसरे झूले पर जो लड़की खड़ी है--आँख अगर मेरी कमजोर नहीं तो वह लीना ही है। उतने में उसका पैर सामने है। मैं भरसक कोशिश करता हूँ। हाथ हवा में रह जाते हैं। वह नीचे गिर रही है।

भारी भीड़ चिहुँक कर उठ खड़ी होती है।

क्षण भर में वह जाल पर आ गिरती है। सहज और सीधे थे। कुछ दूर हवा तक वह सिर के बल आयी थी। फिर उसने पैंतरा बदल दिया था। हवा में कई कलाइयाँ उसने भरी थीं। मैं सँभल गया हूँ। जानता हूँ यह चाल उसकी अपनी थी। जैसे वह जानती थी--उसकी अपनी योजना थी।

जाल उसके बोझ से दो बार उछला है। अब सब लोग शांत हैं, पर सशंकित हैं, फिर वह उठ खड़ी हुई है। उसने हाथ के इशारे से दर्शकों को संबोधित किया है जैसा कि हर खेल के बाद लोग करते हैं। भीड़ ने खुशी से गड़ गड़ गड़ गड़ तालियाँ पीटी हैं।

मैं उलटे टंगे टंगे यह सारी लीला देख रहा हूँ। फिर मैं भी खुश हुआ हूँ। थोड़ी देर बाद वह लड़की फिर झूले पर है। वह फिर आ रही है। अबकी बार वह उलटी नहीं सीधी आ रही है। मैंने भरपूर जोर से अपनी मुट्ठी बाँधी है। उसकी कलाई मेरी ग्रिप में है। मैं उसे दो बार की जगह चार बार हवा में लहरा कर छोड़ता हूँ। वह वापस पूरे वेग से अपने झूले पर जाती है। वह पटरे पर खड़ी है। अपनी कलाई को वह बार-बार मल रही है।

शो समाप्त हो चुका है। सब लोग बाहर जा चुके हैं। वह बैंड के पास खड़ी पैर से जमीन कुरेद रही है। मैं तौलिये से गरदन और हाथ पोंछता हुआ रुक-रुककर चल रहा हूँ। पूरी कोशिश में हूँ कि उसे अनदेखा कर निकल जाने का रास्ता मिल जाये। एक बार मैं मौका पा निकल जाने को उद्यत हूँ कि गोपालन साहब पूछ बैठते हैं—'कैसा चल रहा है ?'

अब वह बॉस हैं। कम लिफ्ट देते हैं। मैं कई बार उनसे बात करने की चेष्टा करता हूँ पर हर बार वह दो-एक काम की बात से अधिक आगे बढ़ने ही नहीं देते।

इसी बीच लीना आ टपकती है।

पहले मुझे माफी माँगनी चाहिए। मैं लंपट और अभद्र नहीं होना चाहता। झट से माफी माँग लेता हूँ। पूछता हूँ—'कहीं चोट तो नहीं आई ?'

वह कहती हैं—'कहीं कोई खास नहीं।'

गोया कोई ख़ास नहीं आम बात हुई जरूर है। मैं आगे बात काट दूँ, वह झट से कह बैठती है—आपकी ग्रिप बड़ी स्ट्रांग है। देखिए नील पड़ गयी।

एक मांसल कलाई मेरे आगे बढ़ी है, सूनी कलाई, लुंड कलाई। एक लड़की की कलाई। मैं अपना हाथ बढ़ाकर देखने की चेष्टा करता हूँ। मेरी कलाई भी सामने है। क्या इस तरह की दो कलाइयां मेरे सामने पहले नहीं आई थीं ? जरूर आई थीं। मैं इनके आगे उनको भेंट देने की बात सोच सकता हूँ ? शायद यह असंभव है।

लगता है बन्नो की कलाई अगर इस तरह मेरे सामने आती, तो उसमें कंगन में लगे घुँघुरू बराबर आवाज देते—किन किन कन् कन्। वह आवाज मन के तारों की आवाज से मेल खाती। पर यह सूनी कलाई, वह भी एक औरत की। यह ठीक है, मैंने थोड़ी देर पहले बिना आधार के हवा में गिरती हुई एक लड़की का हाथ पकड़ा था। पहले की तरह वह फिर न छूट जाय, इसलिए ताकत भर जोर मुट्ठी में लगाया था। मन में कोई कलुष नहीं पनपा था। यह लड़की शायद उसी ओर इशारा कर रही है—बतला रही है। तुम्हारी पकड़ का रहस्य मैं जानती हूँ। उसकी आँखों की भाषा में जोर था और सामने कलाई फैली थी। मैंने ऊपर से नीचे तक उस लड़की को एक बार देखा। मैं उस छलना

का आधार खोजना चाहता था जिसके सहारे इस को इतना बढ़कर बोलने का साहस मिल रहा था।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी—परकीया या स्वकीया के निकट रहने से अनायास ही मन के कूल नहीं खिसकने लगते हैं। पुरुष के हृदय में जल रही आदिम चिनगारी—प्रेम से कोई कैसे इनकार कर सकता है। वह कहानी जो संसार की प्राचीनतम कहानी है। वह नारी-शरीर के अलक्ष्य यौवन का संवाद पाकर फिर बुननी शुरू हो जाती है, जो अपने-आप अपना रास्ता गढ़ लेती है। जो पुरानी होने के बाद भी बहुरूपिया होने में नहीं हिचकिचाती। ऐसी ही एक बहुरूपिया मेरे सामने खड़ी थी। उसकी कलाई मेरे आगे बढ़ी थी और मैं स्तब्ध प्रस्तर खण्ड-सा खड़ा हूँ—निश्चल, अनिश्चित। हजारों प्रश्न मेरे मस्तिष्क में अकुलाने लगे। एक क्षण के लिए उसके चेहरे पर बुझते जलते भाव आये और गये।

गीली-गीली रात है।

मैं आज बरबस पकड़ लिया गया हूँ। वह पूछती है—'बोलो, इस तरह कब तक कतराते रहोगे?'

मैं सोचता हूँ। आज इस लड़की को यह क्या हुआ है? उसकी बाहें मेरे सामने फैली हैं। हिम्मत नहीं पड़ती है समर्पण की, उन दो बड़ी-बड़ी आँखों की ओर देखने की। चोरी से आँखें उठाकर देखता हूँ और चोरी पकड़ जाने के बहुत पहले ही आँखें नीची कर लेता हूँ। चारों ओर धुँध है और गली का अँधेरा। अँधेरे में वह फैला हुआ हाथ है जिसने मेरा कोट पकड़ रखा है—इसका आभास मिलता है और दो चमकतीं आँखें दिखती हैं।

वहाँ इस तरह चाहे वह अपनी होने वाली पत्नी ही क्यों न हो, गली में खड़े नहीं हुआ जा सकता।

वह मुझे चुप देखकर मौका नहीं खोती । मेरे कोट को हिलाकर कहती है––'मैं कहना चाहती थी...।'

मैं उसके शब्द नहीं सुन पा रहा हूँ। मुझे लग रहा है कि एक लड़की जबरदस्ती मेरी चीज ले बैठी है और मैं उससे झगड़ रहा हूँ । उसकी बंद मुट्ठी को बार-बार खोल पाने में असमर्थ हूँ, तो लाचार उसके फैले हाथ को दाँतों के तले भर लेता हूँ। फिर जितनी ताकत सम्भव है, कस कर अपनी दाँती बैठा लेने की कोशिश करता हूँ। दाँत पैने हैं। उस मुलायम चमड़ी को जो मुझे अपने दाँत में सख्त, काफी सख्त, प्रतीत होती है। मैं भरसक खूब चबाने की कोशिश कर रहा हूँ, लड़की मुझसे छोटी है फिर भी वह बायें हाथ से मेरा सिर पीट पाती है, पीट रही है, चीख रही है। जी भर कर काटने के बाद ही मैंने उसका हाथ छोड़ा है।

हाथ वैसे ही मेरे सामने हैं। जिद्द किसी की भी मुझे बरदाश्त नहीं है। पर वह तो एक औरत का हाथ है जो कह रही है––'मैं कहना चाहती थी . . .।'

एक क्षण को दिल में आया हाथ झटक कर बढ़ जाऊँ। कुछ कहने से क्या लाभ और मेरा हाथ आगे बढ़ा ––बहस करने से कोई फायदा नहीं। पर इतना कहने के पूर्व ही मेरा बढ़ा हुआ हाथ उसके हाथ से अचानक जा लगा। चूड़ियों की हल्की खनखनाहट उस नीरव वातावरण को जगा गयी। क्या सोचा होगा ? और फौरन ही मैंने हाथ खींच कर कहा, 'मेरे साथ चलो।'

फिर उस अँधेरे वातावरण में, जहाँ कि म्युनिसिपल लैंप की केवल धुँध-सी रोशनी होती है, जहाँ जगह-जगह पत्थर उखड़-पुखड़े रहते हैं, केवल दो शब्द ही हो रहे थे।––एक-एक जोड़े बूट की सधी हुई चाल की खट्ट खट्ट और एक जोड़ी चप्पल की आवाज जो कोई क्रम नहीं बनाती थी, कभी घिसटती कभी सटकती आवाज। दूसरी आवाज थी उस फड़फड़ाती साड़ी की जो मन में अनोखा रोगन घोल रही थी।

मैं आगे बढ़ता गली छोड़ सड़क पर आ गया था। गली के बाहर ही रिक्शा खड़ा होता है। मैं धमाके से जा उस रिक्शे पर बैठता हूँ। कहता हूँ--चलो। बन्नो पीछे आ बैठती है। लगता है गलती हो गयी। मैंने वैसे ही किया जैसे जाहिल करते हैं। पढ़ने-लिखने का सलीका, तहजीब का शऊर सब पीछे छूट गया है। आखिर यह गुस्सा किसलिए और किस पर? अपने-आप से ही सोचकर मैं रह जाता हूँ। रिक्शावाला घंटी बजाता चल पड़ता है।

जरा दूर पर एकांत था। बन्नों फिर कहती है--मैं कह रही थी...।

मैं उसे वहीं-का-वहीं फिर चुप कर देता हूँ। वह समझती है हम अकेले हैं। वह शायद भूल जाती है कि साथ में रिक्शेवाला है, जो सब कुछ होते हुए भी आदमी पहले है। रिक्शा चल रहा है। मैं चुप बैठा हूँ। बन्नो भी वैसे ही बैठी है। घंटाघर के पास आ जहाँ से रास्ता कई ओर फूटता है, मैं कह देता हूँ--कंपनी बाग। फिर मेरी निगाह घूम कर बन्नो के मुँह की ओर जा अटकने की चेष्टा करती है। पर वहाँ रोशनी नहीं पड़ रही। मैं उसका मुँह नहीं देख छटपटा कर रह जाता हूँ। आज भी मैं खोज नहीं पाता वह छटपटाहट क्यों हुई थी। एक अजीब-सी जिज्ञासा जागी थी उस समय। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। क्या यह वही बन्नो है जिसके साथ कभी खेलता था? अजीब-अजीब लग रहा था। पड़ोस की लड़कियाँ--'छाई बहार है जिया बेकरार है' गा उठती थीं। युनिवर्सिटी में सुना था लवलेन भी है जिसे कृष्णकुंज कहते हैं। देखने का जब साबका पड़ा... वह घटना बताने की नहीं। लेकिन यह बन्नो, यह उन सबसे अलग दिखती है। प्रणय से अनभिज्ञ, बातचीत और भाषा में सरल, जैसे कहीं गाँव से किसी ने उठा लाकर रख दिया है कि हर कण से वनस्पति की महक ही आती है। पर गँवार नहीं है--खूब सलीका है। यह कम्पनी बाग के फाटक पर उतरते ही मैंने देखा। वह पहले उतरी थी। मैं पीछे उतरा था। थोड़ा आगे बढ़कर मैं सोच रहा था—शायद वह अब बोलेगी। पर वह एकदम बुत बनी रही। हम

लोग सड़क पार कर लान में आ रहे थे। वह फिर भी वैसे ही प्रस्तर-मूर्ति की तरह साथ दे रही थी। जानबूझ कर मैं उस ओर बढ़ा था। चाहता था वह कहेगी—इस ओर ओस पड़ेगी। चलिए उस मौलश्री के पेड़ के नीचे बनी सीमेंट की बेंच पर बैठेंगे। पर उसकी बोली नहीं सुन सका। लगा जरूर दो बार बात काट दी है, जरूर कुछ अपमानित हुई है।

घास पर बैठने का उपक्रम करते देख उसने झट से अपनी मुट्ठी का रूमाल बिछा दिया। उसके बैठने के लिए मुझे अपने रूमाल का पटरा बनाना पड़ा। आगे मुँह भी मुझे ही खोलना पड़ा—'यह पश्चिम में सूरज क्यों निकला? तुम्हें डर नहीं लगा?'

'डर!'—वह मेरी ओर तीखी हो ताकने लगी। फिर बोली—'खफ़ा मत हो। वचन दो तो एक बात पूछनी है।'

मैं बोला—'वचन माँगती हो वह भी उससे, जो खुद वचन नहीं निभाना जानता वह वचन क्या दे? भिखारी से भीख और आश्रयहीन के पास आश्रय का प्रश्न ही नहीं उठता, बन्नो।'

मैं जानता था बन्नो यह सब सुनना नहीं चाहती। मैं उसे यह सब सुना कर अपने को और बड़ा दिखाने की लोलुपता में उलझता जा रहा था। बात छोटी थी, सीधे से नारी की बुद्धि में अटेगी या ऊपर-ही-ऊपर निकल जाएगी। इसका कहीं प्रमाण नहीं था।

एक क्षण को देखती रही। मेरी बातों से जैसे उसके हाथ के तोते उड़ गये थे। फिर अपने को संयत करती हुई बोली—'इतनी गहरी बातें मेरी समझ से बाहर हैं, सम्पर्क दोगे तो शायद समझ सकूँ। अभी यह सब नहीं जानती। हाँ इतना पूछूँगी—यह वृत्ति कब तक चलेगी।'

'वृत्ति! वह क्या?'

'यह तो जानते ही हो। लड़की अपनी माँ के घर हमेशा नहीं रह सकती।'

'पर घर तो वह भी है ।'

'है; लेकिन वह उसका घर नहीं होता । कई बार जी में आया—पर मौका खोजने पर भी न मिला । कुछ लिख कर तुम्हारी बदनामी का कारण नहीं बनना चाहती थी । कई दिन से राह देखती थी । पर जब भी तुम झुटपुटे में निकलते तो हमेशा कोई-न-कोई साथ होता ।'

'तब !'

'इस तरह मखौल में बात को मत टालो ।'—कहते हुए उसने मुँह नीचा कर लिया ।

उस मैदान में बैठे हुए शरीर अकड़ने लगा था । बन्नो का सिर का पल्ला सरक आया था । वेणी ढीली बँधी थी । मेरा हाथ उसके काफी निकट था । ऊपर चाँद था और चारों ओर अशोक और मौलश्री के पेड़ थे । अच्छी-खासी ठंडक थी । ऐसे में बाग़ की सुधि लेना रोमांटिक नहीं लगता । कौन अपने को ठंडक से अकड़ाने के लिए वहाँ आता ? हम दोनों थे, अकेले ! अपनी-अपनी दुनिया को एक-दूसरे से बदलने के लिए तैयार ।

कटाक्ष, निःश्वास, मीठी हँसी, इशारों में बात-चीत करते हुए वह हर बार मोटे तर्क सामने रखने की चेष्टा करती । वह यह नहीं दिखाना चाहती थी कि माँ की आड़ ले कर वह जो यह कुतर्क करने चल पड़ी है, उसका फल कहीं उलटा भी सम्भव हो सकता है । उसे अपनी हिम्मत पर विश्वास था । अपना पलड़ा भारी देख कर ही लोग सौदा करते हैं । मैंने धीरे से पूछा—'तुम्हारे घर से निकलने की बात अम्मा को मालूम है । वह क्या...?'

आगे के शब्द उसने मेरे मुँह से छीन लिये । बोली—'शंका मत करो ।'

मैं उन आँखों से देखता रहा, जिसके अर्थ होते हैं—'क्यों ?' मेरा मुँह खुल कर कुछ अधिक फैल गया था । यह तो आज भी वैसी ही है ।

फिर वह और भी अधिक गंभीर हो गयी। बोली—'मैं यह सब ज़ानती थी। सारी खाइयाँ पाट कर आयी हूँ।'

'मैं समझ नहीं पाया !'

मेरे प्रश्न पर वह और खुलने की चेष्टा कर रही थी; पर हर बार लगता था वह अपनी सारी चेष्टा के बावजूद हार रही है। शायद उसके पुराने संस्कार बीच में आ खड़े हुए हैं, जो उसके रास्ते के बाधक हैं। जो कुछ वह कहने को उद्यत है उससे अधिक उसकी यह आँखें कह रही हैं। मैं उन आँखों को देख कर भी उनकी भाषा न समझ पाने का स्वांग करता, अबोध बना बैठा हूँ। मुझे उसकी इस परेशानी में उलझे हुए देख कर भला-भला लग रहा है।

वह कठिनाई से कह पाती है—'तुम जो कुछ चाहो पूछ सकते हो। हर प्रश्न का उत्तर सोच रखा है मैंने। लेकिन जब सब पूछ लो, तब मुझे भी कुछ कहने का अधिकार दो। शक मिटा लो अपना।'

'नहीं, बन्नो !'—मैं उसी तरह कह जाता हूँ—'शक की कोई बात नहीं, आश्चर्य जरूर हुआ था—इस तरह इस अवस्था में तुम्हें देख कर !'

मैं स्पष्ट अपने मन में अनुभव कर रहा था कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह नहीं कह पा रहा। बात अपने-आप जैसे हम दोनों के बीच भाग रही है। हम दोनों अपने-अपने दिल में सोच कुछ और रहे हैं, कह कुछ और रहे हैं। जब अनायास में कुछ कह जाते हैं, तो उनके मतलब में भी अपने को नहीं खपाते। बात अपने-आप ऊपर-ही-ऊपर निकल जाती है। जाने हम कुछ समझ पाते हैं या नहीं ?

वह भावों को फिर पुनः पकड़ कर बातें आगे बढ़ाने की चेष्टा करती है। उसके दूसरे हाथ की उँगुलियाँ हरी-हरी दूब के तिनके नोच रही हैं। मैं कभी उन हाथों को देखता हूँ; कभी सामने लगे अशोक वृक्षों की ओर आँख टिकाये देता हूँ। बन्नो के शब्द सुन रहा हूँ। बन्नो मेरे माँ चाची

तायी...इन्हीं लोगों की गोद में पली है। दुनिया के नाम पर यह गल्लियाँ ! लोगों की पढ़ाई के नाम पर वह स्कूल की छोटी कक्षा की कुछ पुस्तकें और उसके आगे खड़ी पायी ही तो लगा देनी पड़ेगी। मैं बन्नो को यहीं तक सीमित देख रहा हूँ। सोचता हूँ, इससे अगर अपनी मन की कह दूँगा तो यह टूट जायेगी। मैं सोच बन्नो के बारे में रहा हूँ; लेकिन मैं अपने दिल की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ही उसके ऊपर आरोप कर पाता हूँ। इसके आगे कुछ कह पाने, कुछ समझ पाने के लिए मुझे पृष्ठ-भूमि ही नहीं मिलती।

हम लोग इतने बड़े मैदान में इतने खुले वातावरण में बैठे हैं। लेकिन लगता है जैसे यह सब कुछ सिमिट कर एक हो गया है।

अन्धकूप की ही शकल ले लेता है। यह गोल दायरा, जो पेड़ों से घिरा है, सिमिट कर बहुत छोटा हो गया है। मैं बन्नो को अपने मन की इस अवस्था में रख कर जब सोचता हूँ, तो लगता है कि बन्नो के विचारों से प्रभावित हो जाने पर––वह जिन बातों के लिए मेरे सामने बैठी है––अन्त एक ही होगा। बन्नो आगे हो या पीछे, कोल्हू के बैल की तरह घूमने के अलावा और कोई दूसरी सम्भावना हो सकी है क्या ?

इस बीच वह कह जाती है—'तुम माँ की बात करते हो ? वह सब जानती हैं। उन का दुःख नहीं देख पायी। उपचार के लिए और रास्ता क्या था ? तुम मेरे लिये वही हो और हमेशा वही रहोगे। अब भी क्या कह सकते हो कि तुमसे बात करने में लज्जा का प्रश्न है ? आखिर सभी को असंतुष्ट करने की चाल...!'

'बन्नो !'––मैं जोर से चीख़ पड़ता हूँ। उसने मेरी कमजोर नस को झनझना दिया है। कुछ देर में संयत हो कहता जा रहा हूँ––'तुम मुझे समझती क्यों नहीं ?'

'खूब समझा है। आज तुम्हारी माँ होतीं, तब शायद इसकी नौबत न आती। तुम माँ का दुःख जरूर जान सके होते। बोलो, कितनी बार माँ ने तुम्हें बुलाया, कितनी बार...?'

मेरी आँखें डबडबा आयी हैं, वह भी रो उठी है। मैं कहता हूँ--'तुम सब कह जाओगी। तुम्हें सब अच्छा लगता है कहते हुए।'

'बिना सुने हुए तुम जान नहीं सकोगे। तुम घर में किसकी मानते हो? आखिर बताओ तो क्या पाप है मेरा? मेरा नहीं तो उस बूढ़ी माँ का ख्याल करो, जिसने रो-रो कर आँखें खो दी हैं। तुम घृणा करते हो मुझसे! जी भर कर करो। मैं तुम्हें नहीं जीत सकी, उसका ग़म भुगतने से तो तुम मुझे नहीं रोक सकते; लेकिन मेरी आँखों से उस बुड्ढी को देखो। उसने जिंदगी भर क्या किया, मुझे पाला-पोसा किसके लिये और वह क्या करे? बोलो!'

बन्नो कहती जा रही है। मैं उस की कोई बात का उत्तर नहीं दे सकता। सच कहती है वह। मेरा अन्तर मुझे ही खरोचने लगा है। मैं सुन रहा हूँ।

'तुम चुप हो। मैं औंधे घड़े पर पानी डालने नहीं आयी हूँ। कुछ तो कहो। बताओ मुझे क्या करना चाहिए? मेरी उस माँ को क्या करना चाहिए कि वह उन आदमियों को जवाब दे सके, जो ताने कसते हैं।

'बन्नो!'---मैंने धीरे से पूछा---'कह चुकीं तुम सब कुछ। मेरी एक बात सुनोगी।'

वह चुप नीचा सिर किये उसी तरह घास नोच रही है।

मैं उसकी चिबुक अपनी उँगलियों से सहारा दे कर उठाता हूँ। उस की आँख के कोये खूब गीले हैं। मैं कुछ देर वैसे ही देखता हूँ।

'मैं जानता हूँ। यह तुम नहीं बोल रही थीं। फिर भी तुम्हारी हर बात मेरे सिर आँखों पर। मेरी गलती थी कि मैं तुम्हारी माँ के बुलाने पर नहीं आया। मैं सोचता था तुम अपने घर में हो, अपनी माँ के साथ हो। खुश होगी। तुम्हारी माँ की इस जरूरत पर मैंने कभी सोचा नहीं। तुम्हें अनदेखा कर जाना चाहता था। क्या किसी भी तरह तुम मुझे माफ नहीं कर सकतीं।'

'किस लिए ?'—वह पूछ रही है।

'मैं बहुत कमजोर हूँ। तुम्हारा भार—यह घर, यह गृहस्थी—यह सब मैं न कर पाऊँगा। मैं बहुत जल्दी ही यहाँ से निकल जाऊँगा।'

बन्नो ने दोनों हाथों से मेरे पैरों को पकड़ लिया—'नहीं यह कैसे होगा ? मैं नहीं जाने दूँगी।'

मैंने झट से पैर छुड़ा लिया। उसने अपनी बाहों में मुझे बाँध लिया है। मैं कहता जा रहा हूँ।—'मैं सच कहता हूँ बन्नो ! मेरा सारा मोह टूट गया है। मुझे यह घर अच्छा नहीं लगता। यहाँ के रहनेवाले हर आदमी के मन में कैसा कपट है, कितना झूठ है, मैं वह सब अब नहीं सह सकूँगा।'

'नहीं ! मैं यह सब नहीं सुन सकूँगी।'

'इसीलिए कह रहा था। आज बात को समाप्त कर डालो बन्नो !'

वह जैसे एक लता है, जो बार-बार हवा के थपेड़ों में करवट बदल जाती है। वह मुझसे मेरे शरीर में यथासंभव सिमट रही है। मैं खड़ा हो गया हूँ। उसके मन का बाँध टूट गया है। वह रो रही है और अपनी बाँहों को मेरे गले में डाल कर झूलती है, मेरे कंधों पर सिर रखती है और मेरे सीने में अपनी पलकों, गालों और आँखों को भरसक रगड़ कर मुझे पूरा उतावला बना देने की चेष्टा करते हुए कहती है—'नहीं यह कैसे होगा ? मैं न जाने दूँगी। किसी भी कीमत पर नहीं। हज़ार बार नहीं।'

मैं बराबर उसे हटाने की चेष्टा कर रहा हूँ। उसे समझा रहा हूँ; पर वह उसी तरह उससे अधिक आवेश से मुझ में समा जाने के लिए तैयार है। वह होश खो बैठी है।

कुछ देर इसी तरह !

मेरा विरोध जैसे मर रहा है। मैं उसे होश में लाने के लिए उसे थपथपा रहा हूँ। सान्त्वना के लिए तरह-तरह की बातें कर रहा हूँ। दोनों हथेलियों के बीच उसके सिर को थाम कर अपनी आँखों के बहुत पास ला कर कहता हूँ--'क्यों रोती हो ? अभी मैं ज़िन्दा हूँ। अभी मैं कहीं नहीं गया।'

जैसे एकाएक किसी ने बटन दबा दिया है। वह हिचकियाँ ले कर सहमते हुए कहती है--'तुम चले जाओगे।'

'तब रो लेना !'

'तब क्या फायदा होगा ?'

'इसलिये अभी रो लेना चाहती हो। दिखावा तुम औरतों के हक़ में ही लिखा गया है।'

मैं जानता कि था मैं कस-कस कर गहरी चोट कर रहा हूँ। यह चोट मुझे स्वयं अच्छी नहीं लगती। लेकिन इसके अलावा मेरे सारे हथियार गोठिल हो चुके हैं। औरत को मनाने का कोई चारा नहीं है। वह खूब कातर निगाहों से मेरी ओर भर आँखों देखती है। मन-ही-मन सोचती होगी—यह हक़ आदमी को नहीं नसीब है। उसके मुँह से ही शोभा देता है।

मैं फिर कोई बच्ची बात कहने जा रहा हूँ। मुह खोलता हूँ, तो वह हाथ बढ़ा कर मेरे मुँह पर हाथ रख देती है। भगवान् के लिए मुझे माफ करो। उसकी उँगलियाँ मेरे ओठों पर हैं। आज भी उस स्पर्श की गंध जैसे मैं अपनी नाक में महसूस कर रहा हूँ। नारी के हाथों का शायद मेरे जीवन में यह इस तरह का पहला स्पर्श था। सारा शरीर जड़मूल से झनझना जाता है। अपनी हथेली अनजाने में ही मैं उसकी उँगलियों पर रख लेता हूँ। जी के अन्दर से एक खिचन अनुभव होती है। चूमने की, फाड़ खाने की, पीने की ! ओठों के हर रेशे में एक

विद्रोह की हरकत मची है। एक बौखलाहट केन्द्रित हो गयी है उनमें ! शायद ऐसे में ही लोगों के मन में चूमने की इच्छा बलवती हो उठती होगी। मैं अपनी हथेली से उन उँगलियों को दबा लेता हूँ। ओठ अपने-आप ही अनजाने में चूमने की क्रिया कर बैठते हैं। शायद इन सब पर नियति और तर्क का अंकुश नहीं रह गया है। सब कुछ कल्पना की किस सतह से उतर कर मशीनगन बन जाता है, यह उस क्षण समझना व्यक्ति की ज्ञान-परिधि में नहीं आता। लगता है, उस दिन अपने बच्चे के शरीर में तेल मलती हुई वह कहारिन यों ही बच्चे को चूम रही थी और औ...! मैं उन उँगलियों को भरसक अपने ओठों के पास रखना चाहता हूँ।

बन्नो ने एक क्षण की स्वतंत्रता दी थी। शायद उतनी देर वह अज्ञान में रह सकी थी। चेतना के आते ही उस की उँगली मेरी हथेली और ओठों से खिंच गयी थी; पर वह अपना हाथ मेरे हाथ से न छुड़ा सकी थी। हरे रेशमी रंग की चूड़ियाँ उस रात की स्पष्ट चाँदनी में अपने सुनहले काम में उसकी कलाई पर झिलमिला रही थीं। वह कलाई मेरे सामने फैली थी। मेरी शादीशुदा पत्नी की कलाई, जो गौना आ जाने के बाद मेरी हो जायेगी।

यह कलाई मेरे सामने फैली है। उस कलाई और इस कलाई का अन्तर क्या मैं नाप सकता हूँ ?

एक असंभव मेरे सामने ! मेरा हाथ आज भी वही है। बन्नो की जगह लिना की कलाइयाँ हैं। उस दिन आकाश में चाँद था; आज कहीं-कहीं छिटके तारे हैं। उस दिन रेशमी चूड़ियाँ झिलमिला रही थीं; और आज मेरी ग्रिप से इन हाथों में नील पड़ गया है।

पास में पानवाले तमोली की दूकान पर रेडियो बज रहा है। एक गीत चल रहा है--'तुम्ही ने दर्द दिया है, तुम्हीं दवा देना !'

मैं उसके हाथ में पड़े नील को अपनी उँगली से छू कर कहता हूँ—'जरूर, काफी कस गयी थी आप की कलाई ! क्या बताऊँ, सच मानें, मुझे अन्दाज नहीं था।'

और मैं जबरन हँस पड़ता हूँ। वह भी साथ देती है।

अगले दिन सुन रहा हूँ। लोगों की काना-फूसियाँ। किसी ने कहा है—'अभी जुमा-जुमा हफ्ता पूरा नहीं हुआ; और हीरो साहब के पर निकलने लगे !' मन कहता है—'सजग हो जा।'

औरत का कौन-सा काम चोरी-चोरी होता है। चोरी छिपाने का मादा तो उसमें होता ही नहीं; इसीलिए तो उसे हल्के पेटवाली कहा गया है। बात की एक बूँद भी छिपा जाना उसके बस में नहीं। उस रात जो घटा था, वह सब कुछ मानसिक धरातल पर ही था। एक दिन में ऐसी कौन-सी बात हो गयी, जिसका पता इस मन्दिर के हर पुजारी को लग गया। साज़िश में जरूर लिना शामिल होगी और बात पकड़ी भी गयी। जिस रागिनी ने हवाई झूले पर जाते हुए कहा था—'देखें, पहले ही कहे देती हूँ—आप की ग्रिप सह जाने की ताक़त मुझमें नहीं है। मेरी कलाई कुरमुरा कर टूट ही जायेगी।'

तब लिना दूसरे झूले पर हँस रही थी।

मैं भी हँस कर रह गया था।

फिर सामने है वह पंद्रह दिन का इतिहास !

सरकस यहाँ पंद्रह दिन ही रहेगा, यह जल्दी ही पता लग गया। शतरंज की चाल खेलना तो कोई इन पढ़ी-लिखी औरतों से सीखे। पूरी गोट बिछा रखी है लिना ने ! चुन-चुन कर चाल चलती है। मौके-बे-मौके तीर फेंकने से भी बाज नहीं आती। मेरे सामने भागने के सिवा कोई चारा नहीं है। जहाँ जा कर सोचता हूँ—'यहाँ उससे मुक्त रहूँगा। वह पहले ही से वहाँ मौजूद है !

मैं अपने हाथ की उँगलियाँ फैला कर उसका ध्यान उस अँगुली की ओर बार-बार खींचता हूँ, जिनमें यह अँगूठी पड़ी है। कोई मोनोग्राम नहीं है। यदि वह होता या उस पर किसी लड़की का नाम लिखा होता, तो शायद मेरे हक़ का काम हल्का हो जाता। मैं बार-बार उसे यह सब समझाने में असमर्थ रह जाता हूँ कि मेरे मरु का ओप्रसिस सूख गया है। वहाँ वह कुछ नहीं, जिसकी लालसा में लिना भटक रही है। जो कुछ है वह किसी और का हो चुकी है और बाँटा नहीं जा सकता। एक दिन जी में आया सीधे-सीधे कह दूँ—'लिना जी . . . कहीं...और . !' पर यह सब कहने के बाद एक क्षण भी यहाँ रह पाना मेरे वस में नहीं रह जायेगा। कुछ ही दिन और रह गये हैं सरकस के।

कल की रात सरकस का आखिरी दिन था। लिना बार-बार घुमा-फिरा कर मुझसे एक ही बात जानना चाहती है—मैं अगले कैम्प में उसके साथ चल रहा हूँ या नहीं।

सभी निश्चिन्त हैं। मैं सरकस से अब अपना साथ शायद न तुड़ा सकूँगा। पर मेरे मन में सरकस के प्रति वह डिवोशन नहीं पैदा हो सकता है, जो दूसरे लोगों के साथ है। शायद इसीलिए मैं अपने को उस सरकस नवीन के अनुरूप नहीं बना पाया। मेरे तनिक-से इशारे पर लीना क्या देने के लिए तैयार नहीं है ? पर मेरे आगे शरीर की मनोहर अश्लीलता का ममत्व भर चुका है। पुरुषों को मूढ़ बनाने की कला में इन कोमलांगियों को खूब सफलता प्राप्त है। पर मैं एक परीक्षण में लग गया हूँ—निरामिष प्रेम संभव है ! देखना चाहता हूँ उन्माद की इस लहर को कहाँ तक खींच लाया जा सकता है। अभिसार की तृष्णा कहाँ तक सह सकती है। अजीब-सा पागलपन सवार है मेरे मन में। मेरे मन में आ गया है कि मैं झाँक कर देखूँगा—यह औरत जात किस गहराई तक कमजोर होती है। क्या मैं उसके तल को छू सकता हूँ। यह अपने को आधुनिक कहनेवाली नारी, यह जिसका शरीर पुतली की तरह अपनी ही कला-परिधि में थिरकता रहता है—बन्नो से कितना आगे है।

फिर इन कुछ दिनों में पाया वही प्राचीन प्रतिमा। हर तरह से जब वह अपना सिर एक बंद किवाड़े से टकराते हार गयी, तो भीख माँग रही है। कलंक का उसे डर नहीं है। अंधी हो कर दौड़ पड़ी है। उन्माद में सारे मर्यादित कूल क्षण भर में भंग हो चुके हैं। कुछ नहीं केवल प्रकृति-दोष! कल्पना करती है मुझसे पानेवाले उस दान की, जिससे गोद भरेगी! इस तरह से मुझे समझाने में मुझे जीतने की युक्ति इसे खूब आती है। कुबुद्धि में रक्त का नशा खूब छाता है। जब वह आर्द्रकण्ठ से बोलती है, खूब एकांत होता है, उस समय उसकी दशा देखने लायक होती है।

सबसे सब कुछ छिपा सकता हूँ, पर मन से कुछ न छिपाऊँगा। एक क्षण की भूल मुझे गर्द में मिला देगी। यह मुसीबत न बाँधने की ही बात सामने रहती है। मैं किसी भी दशा में स्पर्श का दोष भी अपने सिर नहीं लेना चाहता। वह मतवालापन, जो आदिम पुरुष की देन है, उसे हमेशा सिर से उतार कर चलता हूँ कि उसके रस की तरंगों में बह नहीं जाता। पर कभी-कभी पाया है कि वह एक लावण्यमय मधुर कविता की तरह सज कर आती है। मैं अपने पौरुष से अंतर की वीभत्स चीत्कार को दबा लेना चाहता हूँ। यह कोरा अहम नहीं है।

वह कभी-कभी आँखें बंद कर मेरी भुजा के सहारे सिर टिका देती है। मैं उसे इस अवस्था में कभी नहीं जगाता। पूछकर रह जाता हूँ।

वह कहती है—'रहने दो यों, अच्छा लगता है।'

मैं सोचता हूँ—'लोभी है।'

वह मौके-बेमौके न जाने कब अपने शरीर से बुरी तरह मुझे ढकेल कर चली जायेगी—इसका हर घड़ी ध्यान नहीं रख सकता। वह कभी फुसफुसा कर कुछ कहती है। मैं कहता हूँ—'तुम्हारे आमंत्रण के ही लिए तो खड़ा हूँ। जहाँ चाहो, वहाँ ले चलो। बताओ किधर चलूँ?'

मेरा सामान बँध गया है। मैं नये डेरे पर जाने के लिए तैयार हूँ। थोड़ी ही देर पहले मैं गोपालन साहब से मिला हूँ। वह हँस पड़ते हैं। हाथ मिला कर कहते हैं—'जब जरूरत हो तुम्हारे लिये मेरा दरवाजा खुला है।' सब कुछ कहीं छोड़ कर मैं जुहू के इस एकांत किनारे की ओर भोर में ही चला आया हूँ।'

मैं जानता था कि लिना सभी से मेरे बारे में पूछ सकती है पर गोपालन साहब से नहीं पूछ सकेगी ? वह बाँस के आगे खुल सकने की हिम्मत नहीं रखती। वह उनको वह सब जानने का मौका नहीं दे सकती। दिन बीतते जा रहे थे। उनके साथ-साथ मैं अनुभव कर रहा था—लिना की कमी ! क्या यह मेरी गलती थी कि मैं लिना के साथ नहीं जा सका ?

बहुत दिनों बाद गोपालन साहब का एक बड़ा-सा खत मिला है। उन्होंने इस पत्र के अंतिम अंश में लिना का ज़िक्र किया है। उसने सारी बात खुल कर कही है उनसे। वह किस तरह गाड़ी के छूटते-छूटते मेरी राह देखती रही। फिर किस तरह निराश हुई। फिर वह सीधे गोपालन साहब के कमरे में जा पहुँची। वह एक क्षण के लिए सब कुछ सुन कर हताश रह गये। उन्होंने अपने पत्र की आखिरी सतरों में जो कुछ लिखा है उसे पढ़कर सोचता हूँ—क्या यह मेरी एक और हार हुई। उनका मत है कि आदमी हर बात अपने ढंग से सोचता और करता है, फिर भी कुछ निश्चित मापदण्ड होते हैं। यह ठीक है कि यह मापदण्ड समय-समय पर बदलते रहते हैं, पर इसके लिए काफी समय लगता है। तुमने अपनी समझ से भला ही किया होगा, पर मैं उसे भला नहीं कहूँगा। मेरे स्वार्थ से इस बात का कोई लगाव न मानना। फिर भी मैंने लिना की शादी करा दी है। वह सुखी है और अगले कैम्प में मेरा साथ छोड़ देगी।

मैं पत्र लिये बड़ी देर तक बैठा रह गया। लगा जैसे उस हवाई झूले पर पैरों के बल से उलटा लटककर झूल रहा हूँ। सामने से अपना झूला छोड़ कर दो पैर मेरी ओर आये हैं और मैं उन्हें पकड़ सकने में असमर्थ

रह गया हूँ। पैर छूट गये हैं और मेरी मुट्ठी खाली हवा को ही कस कर रह गयी है। नीचे की ओर वह लड़की गिरती चली जा रही है। मेरा अंतस्तल इस मूल पर चिहुँक उठता है। चारों ओर की ठसाठस भीड़ के वीच में मैं अपनी गलती पर पछता रहा हूँ। क्या मैं ओथेलो का नायक बन सकता हूँ? शायद नहीं। मैं अपने हाथों अपने प्रेम की हत्या करने के बाद भी जीने का सहारा खोजता हुआ उस महामरण की कल्पना में लीन हूँ।

--:०:--

बन्नो

मैंने तुमसे कहा था, भूले नहीं होगे। आत्मा में खौलन डालनेवाले प्रेम के बहुत से रंग होते हैं। नारी-हृदय इन रंगों से परिचित होता है; पर उस रात मन का जो कलुष था, वही धोते-धोते भोर हो गयी थी। फिर रंगों का वैचित्र्य कैसे दिखाती। तुम तो केवल मेरे उस अनघड़ सात्विक प्रेम से परिचित हो; लेकिन मुझे विश्वास है तुम कहीं भी दूसरे वैचित्र्य रंगों की लपेट में आओगे ही नहीं। नहीं जानती, उस रात मेरे प्रेम का वह गेरुआ रंग तुम्हें कैसा लगा--बहुत कुछ जताने-समझाने का समय ही नहीं दिया तुमने।

उस दिन जब मैंने तुम्हें रास्ते में घेर लिया था! वह घटना तुम्हें कभी-न-कभी फिर किसी दिन याद आ ही जायेगी। वह ढलती हुई साँझ,

वह गोधूलि बेला, वह गली का मोड़ और तुम्हारी राह देखती हुई मैं ! पिछले कई दिनों से तुम्हारी राह देख रही थी; पर जब भी तुम अपने घर से निकले, हर समय तुम्हारे साथ कोई-न-कोई था। कई बार निर्मल भाई ही थे। मैं चुप जहाँ-की-तहाँ खड़ी देखती रह जाती। तुम पलक ओट होते, तो फिर दूसरी साँझ का इंतजार करने लगती। स्वार्थ की बात हमारी कुबुद्धि में अधिक आती है। आनन्द की बात सोचना अपने मन का रोग नहीं। यह सहज ही स्वीकार कर लूँगी। जानती थी, मुझे इस स्थिति में देख कर चौंक पड़ेंगे। सब कुछ अप्रत्याशित-सा घट रहा था तुम्हारे लिये। तुम नहीं जानते थे मुझे क्या कमी थी ? कैसी लज्जा लगी थी तुम्हें, और मैं नारी हो कर वह सब न सोच सकी थी। अंधी हो कर दौड़ पड़ी थी। निष्ठुर-से भी कई सीढ़ियाँ ऊपर बैठे तुम न जाने क्या-क्या सोचा करते थे। तुम्हारे मन की महक मैं पा गयी थी। मेरा तो अनर्थ ही कर डाला था। अनंत के अंधकार में झोंक कर तुम मुझे मिट्टी में मिला-कर चल देनेवाले थे :

वह बरमावाले पोस्टमैन को जानते हो ना, जो तुम्हारे बगल में रहता था। तुम्हारा वह वयस्क मित्र ! वही उस आग की चिनगारी बो गया था—अनजाने में ही बात फूट पड़ी थी मेरे कान में। विश्वास मानो, वह तुम्हारी महानता ही देखता था। शायद वह यह नहीं जानता था कि मेरे ही कुल में माँ चंडी जन्मी थीं। मेरा मन, वह जो उस पुजारी के साथ भोग चुकी थी, आगे के कलंक को सहने के लिए किसी तरह तैयार न था। मैं ठीक-ठीक जानती थी कि तुम गुमान भरे हो। मेरी तुम्हारे आगे क्या बिसात ! कितना ही तुमने आश्वासन क्यों न दिया हो। तुम पुरुष हो, तुम्हारी आँखों में नारी अबला होती है, जिसे जब जिस तरह चाहा मसल कर फेंक दिया। वह भोग्या है। बचपन से तुम्हारे द्वारा मिली ईर्ष्या को मैं किसी भी तरह भूल नहीं सकती। मैं दूसरे देश की बात नहीं जानती। यह जगह मुझे अद्भुत लगती है। पड़ोसियों-संबंधियों के घर-घर की बातों को देख कर ही लगता था कि औरत को जीने के

लिए मर्द का एक सहारा चाहिए—अन्यथा अन्न और आश्रय अबला के लिए कहीं नहीं। उसके अपने माँ के घर पर भी वह भारी होता है।

मैं तो केवल इतना ही जानती थी कि तुम्हारे साथ ही मैं सुखी रह सकती थी। यह अपना देश है, जहाँ की एक ही राम-कथा है। राम के बिना सीता की कहीं गति नहीं। तुम्हारे साथ नरक में रहने पर भी मैं उसे अपनी नारी सुलभ कोमल सुरुचि से उसे स्वर्ग बनाने की चेष्टा करूँगी। तुम जंगल में चलोगे, तो उसे नंदन-कानन बना दूँगी।

कितना विवाद किया था, इस बरजोरी को सुनकर तुमने। तुम मुझसे उस तरह सब कुछ पूछ रहे थे जैसे मैं किसी परीक्षा भवन में खड़ी हूँ और तुम यह जानने पर तुले हो कि मैं क्या नहीं जानती हूँ ?

आक्षेप नहीं करती। पर मैं इस बात से दुःखी थी कि तुम क्यों कसौटी पर उतारना चाहते हो ? पर मुझे तो बात निभानी थी। इसलिए जहाँ तक संभव था, मैं अपने को पूरा-पूरा रीता कर डालना चाहती थी। मैं अपने रसकुण्ड के वह सारे द्वार खोल, तुम्हें उस समय तक मुक्ति देनेवाली नहीं थी, जब तक कि तुम उसमें डूब न जाओ। क्या तुम-यह नहीं जानते थे कि जो कुछ मैंने पढ़ा-गुना है, वह केवल घर की उस चहारदीवारी के अंदर ही बैठे-बैठे, जिसका द्वार तुम्हारी हवेली की तरफ खुलता है। तुम्हारे घर में तुम्हारी बहन न सही और पास की औरतें-लड़कियाँ हैं, जिनको . . . नहीं माफ करना। यह कह कर मैं तुम्हारे आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाना नहीं चाहती। मैं तो केवल उस बात की सफ़ाई दे रही थी जो तुम पूछ रहे थे। हो सकता है भूल में मैं तुम्हारा अपमान कर बैठी होऊँ और शायद तुमने अपनी ऊँची कक्षाओं में कहीं जरूर पढ़ा होगा·कि अपमान का बदला लेना आसान है, वह सहज ही तुम किसी भी तरह ले सकते थे। लेकिन व्यंग्य-बाणों से तुमने खोज-खोज कर चोट की थी मुझ पर। जान-बूझ कर भी तुमने वह सारी चोट वहाँ की थी, जहाँ-जहाँ मैं दुर्बल थी।

तुम्हारी वह बातें !—मैं उन को किसी भी तरह भूल नहीं सकूँगी। क्या सोचा था तुमने। कितने सहज भाव से कह गये थे तुम कि मैं तुम्हारे जिन्दा रहते ही रो रही हूँ।

तुम नहीं जानते, कहाँ-कहाँ आहत किया था तुमने। तुम्हारे अधिकार को चुनौती देना मेरे बस में नहीं था। खून में यह सब अबलाओं को मिलता ही नहीं। तुमने परिस्थिति ही ऐसी ला खड़ी कर दी थी कि मैं रोने पर मजबूर थी। तुम एक ओर मजबूर कर दूसरी ओर रोने का अधिकार छीन रहे थे। मान लूँ कि वह सब अनजाने में ही तुम्हारे मुँह से निकल रहा था। यह भी मान लूँ कि तुम जो कुछ कह रहे थे, वह महज कहने के लिये ही था; लेकिन तुम्हारे मन में जो कुछ मैंने पाया, वह कुछ दूसरा नहीं था। मैं बाजी हार जाना नहीं चाहती थी। वैसे हारना ही हमें शोभा देता है। जितनी बड़ी हार होती है, मन को वैसी ही तृप्ति और उतनी ही गहन शान्ति मिलती है। इस बात के रस को तुम नहीं जान सकते। तुम्हारे पैरों तले रौंदे जाने में, चूर-चूर होने में, ध्वंस होते हुए भी विरोध न करने में जो सुख मिलेगा, वह अतुलनीय होगा। मन के इस संकल्प को बड़ी श्रद्धा से बाँधा है मैंने।

तुम्हारे साथ चलने की बात सुन कर मैं एक पल के लिए भी नहीं झिझकी थी—तुम्हें यह देख अचंभा हुआ था ! नारी की आदिम कुतूहल वासना से तुम परिचित नहीं हो। मेरे मन में अनोखी जिज्ञासा थी। उसके संबंध में क्या कहूँ। न जानना ही भला है। तुम समुद्र के किनारे बैठ कर लहरें गिननेवाले भी तो नहीं थे; इसलिए वह सब इकट्ठा करके पूरे साहस से आयी थी कि तुम्हें अपने बहाव में बहा ले जाऊँगी। एक प्रबल उन्माद प्रेकट कर तुम्हें मूढ़ बनाने में मुझे सफलता मिलेगी। फिर तुम मेरे संग होगे—मेरी धड़कनों के समीप, अति समीप ! तुम्हारे दंभ को मैं बिलग कर निकाल फेंकना चाहती थी। तुम्हें पा कर सर्वस्व-स्वाहा हो जाऊँ, तो भी ख़ुशी होगी। तुम्हें वह दिखा देना चाहती थी, जिसे

तुमने नहीं देखा था। कितने सौहार्द से तुमने अंक में भर लिया था मुझे !

इससे पहले तुम पूछ रहे थे—'मैं क्यों किनारा तोड़ कर बह आयी हूँ ?'

'मैंने घर की क्यों परवाह नहीं की ?'

नारी का यह भावनांतर तुम्हारी समझ से परे की चीज थी। तुम यह नहीं जानते कि जब कानों पर वंशी की धुन आने लगती है, जब प्रकाश के बिना ही मन का दुर्गम अन्धकार फूट पड़ना चाहता है, तब क्या बीतती है इस मन पर ! तुम अपनी मन की बलिष्ठता के गर्व में बह जाना नहीं चाहते थे। यह बताने की बात नहीं थी कि चन्द्रमा को मुड़ते देख कर ही समुद्र में ज्वार आता है। नारी-अन्तर की व्याकुलता और वेदना को जगानेवाली वंशी तुम्हारे अधरों से बजी थी। तुम्हारे सामने मैं अत्यन्त सामान्य हो गयी थी। निष्ठुर को मैंने जीत लिया था।

तुम मेरे थे, बिल्कुल मेरे !

मैं नहीं याद रख सकी कि तुम क्या कह रहे थे। तुमने कब क्या-क्या कहा था ? मैं तो केवल एक सुख में लीन थी और वह था स्पर्श का सुख। तुमने मुझे स्वीकार कर लिया था।

एक मनोहर अश्लीलता की कल्पना से आज भी मन में स्फुरण होने लगता है।

उस दिन के उस मिलन में कोई भी प्रश्न शेष नहीं था। मैं कितनी भरी-पूरी उठी थी। जैसे मैं थी ही नहीं। कुतूहल, कलंक, अविश्वास कोई भी चीज़ हमें नहीं छू सकेगी। एक अनोखा विश्वास छा गया था मुझ पर।

मन की बात नहीं, प्राण की बात कह रही हूँ। लगता है जैसे अभी भी तुम मुझे अपने में समेटे हो। शरीर का वह अंतर जो अपने-आप ही

बिसर गया है। एक अजीब-सा मोह है और मैं प्रणय के जाल का स्पर्श अनुभव कर रही हूँ। मधु संचय करनेवाली मधुमक्खी स्वयं अपनी धुन में उलझ अपना ही मधु चट कर रही है क्योंकि पूर्णिमा है, क्योंकि चाँद सामने है। क्योंकि वह बावली है। किसी चीज का अभाव नहीं है—क्योंकि तुम्हारी भुजा में कसी हुई भी मैं इतरा रही हूँ—इठला रही हूँ कि तुम्हें चुम्बन करना आता है। किसने सिखाया यह सब? कहाँ सीखी यह कला? तुम्हारे अधरों से मधु रस फूट रहा है। मन का उद्वेग, अंतर का प्रणय बुद्धि का चोर जैसे सब सामान्य में बदल गये हैं। शरीर में चंचलता अभी शेष है। तुम्हारा दुलराना अच्छा लगता है। मैं पूरी हूँ, मुझे कोई कमी नहीं है।

तुम समझा रहे हो। पर नहीं जानते समझने की अवधि बीत गयी है। तुम्हारी हर बात की हामी भर भले दूँ पर क्या विश्वास करोगे वह सुख जो तुमने दिया था उसके आगे तर्क जीवित रह सकता था?

जो कुछ मैं अनुभव कर रही हूँ उसे कैसे कहूँ! कितना भी हूँ, जड़ हूँ। तुम्हारी ज्ञान की बातों को समझने में अबोध! बस, मैं तो यही चाहती थी कि बस हम तुम यों ही रह जायें। वैसे ही तुम्हारे अंक में...फिर धीरे-धीरे समझ जगने लगी थी। फूँक मार-मार कर मेरी पलकों को तुम खोल देना चाहते थे। मैं वह स्वप्न भंग नहीं होने देना चाहती थी। आँखें बंद किये मैं तुम्हारे साथ कहीं बहुत दूर थी। मीठा स्वप्न था। तुम बराबर फूँक मार रहे थे। ओस से सब कुछ शीतल हो उठा था।

कई बार जी में आया है कि फिर किसी रात उस बाग में चली जाऊँ, वहाँ बैठकर तुम्हें अनुभव करूँ। वह सब कुछ एक बार फिर मिल जाय वैसे ही, उसी तरह। पर अब रिक्शे में बैठा कर ले जानेवाला मुझसे बहुत दूर चला गया है। अब कौन है जिसे देखने के लिए मैं घंटों खिड़की के सीकचों पर सिर टिकाये पलक-पांवड़े बिछाती रहूँ। अब वह कहाँ है

जिसकी सायकिल की चैन कवर के खटर-खटर शब्द सुनने के लिए प्राण आकुल होंगे। वह कहाँ है जिसे पकड़ने के लिए बाँह चट से बढ़ जाएगी। अब मैं किससे कह सकती हूँ—'जरा, सुनिए।'

मैं आप से कहना चाहती थी—।

वह लाल आँखों से तरेर कर देखनेवाला न जाने कहाँ जा छुपा है। मैं अपने-आप से ही उस जन्म के साथी मन से ही बातें कर सकती हूँ, जिसे कुछ कहना सुनना नहीं आता। जो अबोध बच्चे की तरह सब कुछ टुकुर-टुकुर देखा करता है। जिसकी अपनी कोई राय नहीं। जिसकी अपनी कोई बात नहीं। तभी तो जैसा तुमने कहा उसने मान लिया।

मैंने देखा वह जादू जिसमें मैं तुम्हें डुबो बैठी थी। वह शाश्वत नहीं है। तुम धीरे-धीरे जाग रहे हो। अपने में आ रहे हो। मैं अंदर-ही-अंदर काँपने लगी। तुमने अपनी गलती मान ली थी। लेकिन तुम मुझे मानने के लिए तैयार नहीं थे। किसी तरह मैं तुम्हें समझौते के लिए राजी कर लेना चाहती थी। तुम्हारे लिए वह समझौता कठिन था। सच एक चक्कर था। मैं आज सोचती हूँ वह चक्कर तुम किस बुद्धि के बल पर पार कर गये, मुझे बुद्धिहीन बनाकर !

अपने अज्ञान से इनकार नहीं करूँगी। फिर मैं किसी तरह तुम्हें झुका सकी थी। तुम्हें झुकाने के लिए मुझे वही कुछ करना पड़ा जो हमेशा हर घर में हुआ है। वह कोई नयी कहानी नहीं है। वेदना की सृष्टि ही शायद इसलिए हुई है कि वह कहानी बार-बार दोहरायी जाये।

तुमने मंजूर कर लिया।

एक जीवन का पटाक्षेप हो रहा था।

शर्तें मेरे सामन थी। तुम किसी तरह बँधना नहीं चाहते थे। तुम मुझे अपने घर में जगह दे रहे थे। तुम्हारे कमरे में मेरी जगह थी। तुम्हारी अंकशायनी बचपन में बन चुकी थी। लेकिन सब कुछ दिखा देने के बाद भी तुम बंधना नहीं चाहते थे। अपने को सार्थक करने—जो

कुछ बीत रहा था उस क्लेश से मुक्ति पाने के लिए तुम्हारे एक पल का यह वरण मेरे लिए बुरा नहीं था। किसी भी शर्त के लिए मैं राजी नहीं थी। मुझे तो एक बार के लिए तुम चाहिए थे और उसके बाद की मुझे चिंता न थी। मैंने विश्वास नहीं किया था कि सचमुच तुम्हारे मन में दूसरी एक और आग जल रही है। तुम्हारी बातों को मैं बकवास समझ रही थी।

तुम कह रहे थे—'बन्नो, मैं फिर समझाता हूँ जिससे तुम खेलने जा रही हो, वह सहज जीवन नहीं है। मैं उस घर में तुम्हें नहीं ले जा सकता।'

'उस घर में नहीं तुम मुझे कहीं भी ले चलो।'

'एक घर देखने के बाद मैं दूसरा घर बसा सकने में नहीं सफल होऊँगा। वह सब मुझसे न हो सकेगा।'

'तुम बहुत कुछ कर सकते हो।'

'वह तो मैं जानता हूँ। मेरी मानो मुझे, विवश मत करो।'

'इतना जानने के बाद भी यह कहते हो। एक बार केवल एक बार की भीख नहीं दे सकते। एक नौका तो मुझे दो। फिर कभी मैं कुछ नहीं कहूँगी। तुम मुझे जैसे रखोगे मैं उसी हालत में खुश रहूँगी।'

'तुम नहीं मानती हो। किसी चीज को पाकर खो देने से यही अच्छा है कि उसे न पाया जाय।'

'मैं तुम्हारी इस बड़ी बात को समझने योग्य नहीं हूँ। मैं इतना ही जानती हूँ कि चाहे किसी की गलती से ही सही मैं तुम्हारी हो चुकी हूँ। बुरे के लिए या भले के लिए तुम मुझे उस आसन से वंचित मत करो। मुझे एक बार तो यह अनुभव करने दो कि...।'

'क्या अनुभव कर लेने दूँ? जिसमें एक बार फँस कर मैं निकलने के लिए छटपटा रहा हूँ उसमें तुम्हें ले जाकर फाँस दूँ। यह वलि मुझसे नहीं दी जा सकेगी।'

'तो फिर जहाँ तुम चलते हो मुझे ले चलो।'

'नहीं, बन्नो, वह और कठिन है।'

'तो यह चाहते हो कि मैं अपनी उस माँ को, उस अम्मा को दुःखी करती रहूँ। वह अपने भाग्य को क्यों कोसती रहे। आखिर उसका कोई तो रास्ता निकालना होगा।'

'कोई रास्ता नहीं है। मैं लौटकर नहीं आना चाहता। यदि कहीं जम जाऊँगा तब विश्वास करो तुम मेरे साथ होगी। यह बात केवल हम दोनों के बीच में है।'

'वह विश्वास मुझे हमेशा से है। पर तुम्हारे जाने के बाद मैं अपनी अम्मा के इस घर में क्या मुँह लेकर रहूँगी। एक बहुत बड़ा काँटा हूँ। इसे क्यों नहीं सोचते?'

'वही सोच कर तो कह रहा हूँ। धीरज रखो, मैं जरूर कुछ-न-कुछ कर लूँगा।'

'कब तक?'

'इसकी हामी मेरे पास नहीं। वह कैसे कह सकता हूँ।'

'एक रास्ता है।'

'बोलो।'

'तुम्हारे जाने के बाद भी मुझे यहीं रहना है। क्यों नहीं तुम मुझे अपने घर में छोड़ जाते।'

'अपना घर!'—तुम हँस पड़े थे।

उस व्यंग को मैं जानती थी। मैं कह बैठी थी—'अपनी चीज पर बड़ा अधिकार होता है। एक बार तुम मुझे अपने घर में वैठाल दो मैं सब निभा जाऊँगी। मुझे कोई तकलीफ न होगी।'

'बन्नो !'—तुमने जोर से कहा था।

'मैं ठीक कह रही हूँ। और इसी कहने के लिए सब सह कर आयी हूँ। औरत का घर उसका माँ का घर नहीं हो सकता। वह गली, वह महल्ला, वहाँ की फिजा यह बर्दास्त नहीं करेंगी। और तुम्हारे चले जाने के बाद...। मैं कसम खाती हूँ—मेरा मुँह नहीं खुलेगा। मैं हर हालत में खुश रहूँगी।—तुम्हारा आसरा देखूँगी।'

'चाहे मैं कितने दिन न आऊँ!'—कहते हुए तुम अपने मन के उद्वेग को रोक नहीं सकते थे। तुमने फिर मुझे अपने में खींच लिया था। मैं खुश थी—बहुत खुश कि तुम्हारे विरोध की चट्टान टूट रही थी। कितना था तुम आदमी ही थे।

मैंने कहा था—'तुम्हारे आसरे मैं तुम्हारी याद के सहारे अपने घर में मेरा हर पल सोना है।'

'मैं अपने पीछे के सारे पुल तोड़ डालना चाहता था। तुम अपने घर में रहतीं तो शायद कभी मैं तुम्हें फिर बुला सकता था। लेकिन उस घर में जाने के बाद मैं नहीं कह सकता कि मैं तुमसे कोई सम्पर्क रख पाऊँगा या नहीं।'

'तुम मुझे फिर बहलाने लगे मेरे देवता। नहीं, तुम कुछ भी करो लेकिन उसके करने में मेरा पूरा-पूरा भाग होगा। गलत या सही जो कुछ भी हूँ मैं तुम्हारी हूँ। तुम्हारे साथ जाने की जिद्द नहीं करती। लेकिन घर में तो जगह दे ही सकते हो। मैं वही कह रही हूँ जो तुम कर सकते हो।'

तुम सोच में पड़ गये थे। मेरे इस प्रस्ताव की आशा तुम्हें नहीं थी। तुम उलझन में थे। भला मनाती हूँ कि तुम मुझे उस तरह का धोखा नहीं दे सके जिसको तुम सोच बैठे थे। एक दिन चुप-चाप निकल भागने-

वाले थे। उस समय मेरे लिए तुम क्या छोड़ जाते। वह मधुर स्मृतियां जो जबरन मैंने तुमसे छीन ली हैं तुम उसे मेरी अनधिकार चेष्टा ही कह रहे थे। बताओ वह भी न होती तो मैं किसके सहारे जीती।

तुम हर बार सबकी बात काट देते थे। मैंने यह भी सुना था कि तुम हर बार अपने गौने की बात टाल जाते हो। माँ उस समय लड़कों की बात सुन-सुनकर हैरान थीं। वह अपनी एड़ी-चोटी का जोर लगा कर हताश हो चुकी थीं। घर में बाबू ने उनसे साफ कह दिया था—'जो मुझे कहो बीवी मैं करूँ। लड़का मेरी बात ही नहीं मानता। बताओ मैं क्या करूँ।'

माँ रो रही थीं।

मेरे पास उनके दुःख को टालने का कौन-का रास्ता था। और तुम मुझे साफ बहला रहे थे। काश मैं कुछ और करने योग्य होती। सोचकर चुप रह जाना ही तो अंत नहीं था। मैं जानती थी तुम जो कुछ छोड़ कर जा रहे थे उसे फिर से वाण करने को तुमसे कहना मेरी बेवकूफी ही होती। मैं उतने ही से संतुष्ट रह जाना चाहती थी जिससे बात बनी रहे।

अपना घर लाख नियामत। यही सोचकर तुम्हें मजबूर करने पर तुल बैठी थी। तुम कुछ कहो मैं तुमसे बहुत नहीं माँग रही थी। तुमने जी भर कर बहानेबाजी की थी। पर मैं स्पष्ट जानती थी बिना तुम्हारे घर गये इस गली में मेरा गुजारा नहीं। फिर मैं अपनी नारी सुलभ कोमल भावनाओं को तौलना चाहती थी। देखना चाहती थी, उनका प्रयोग तुम पर कहाँ तक चल सकता है। तुम कहीं-न-कहीं मुझसे मजबूर होते थे। मैंने तुम्हारे अंतस्तल की उस मरुभूमि में जबरन कुछ बीज छिपा ही दिये थे। तुम्हारी सारी चेष्टा अर्थहीन हुई जा रही थी। तुम मजबूर हो उठे थे। इस मजबूरी में तर्क नहीं था। यह नहीं कहूँगी तुम हार गये थे। कहीं-न-कहीं हमें समझौता करना पड़ता है और उस समझौते के लिए तुम तैयार हो गये थे।

कितने भले हो तुम ! मैं तुम्हें अपनी बाहों में बांध रही थी। तुम्हें अपने में समेट लेना चाहती थी।

तुम मेरे थे।

बचपन से मेरे थे।

एकदम अपने। पर अपने अकसर दूर रहते हैं। इसलिए तुम्हें पाने के प्रयत्न में मेरा दुःख चुक गया था, तुम्हें पाने के लिए मैं रीती हो गयी थी।

बात माँ ने ही फोड़ी थी। सभी को ताज्जुब था। यह एकदम से क्या हो गया तुम्हें। यह समन्वय की ज्योति तुम्हारे मन में कैसे जग पड़ी। घृणा करने योग्य से तुम प्यार का यह रिश्ता कैसे जोड़ने जा रहे थे।

लोगों की आँखें फैली रह गयीं। सचमुच एक दिन डोला लेकर तुम आ गये। शहनाई बजी। मंत्रोच्चारण हुआ। लेकिन उस सारे उल्लास के बीच मेरे मन में जो कुछ घट रहा था, वह बिलकुल विपरीत था। मेरा अंत मेरे सामने था। पहले तुम दूर रहते हुए भी पास थे और अब पास लाने की चेष्टा में तुम्हें हर क्षण खोती जा रही थी। तुम्हें खोते-खोते भी हर क्षण मैं सब कुछ बटोर रही थी। स्मृतियों की इतनी बड़ी थाती एकत्रित कर लेना चाहती थी कि वह रीते दिनों काम आये। कृपण की इस प्रवृत्ति पर तुम ताने कस देते थे। ताने कसने की तुम्हारी पुरानी आदत है। मुझे अच्छा लगता था—चाहती थी खूब सुनती जाऊँ। तुम्हारे जीवन की वेगवती धारा को मैंने खूब बाँध लेने की चेष्टा की। पर तुम चालाकी में किसी तरह कम न रहे। यदि कुछ दिन तुम रुक जाते, तो फिर शायद न निकल भागते। याद है न, मेरी पलकों का गह्वर बहुत बड़ा है। काश ! एक बार तुमको मैं समेट पाती, फिर दुनियाँ की असीम ताक़त भी तुम्हें मुक्त नहीं करा सकती थी। पर यह तुम्हें मालूम था। तुम बँधने में नहीं आये। कुछ भी समय तुमने मुझे नहीं दिया।

तुम रस में डूबने के पहले ही छिटक भागे।

देने के पूर्व ही तुमने हाथ खींच लिया।

मन की गागर रीती ही रही। जो स्मृतियों की उथली तलैया में आज भी खाली तैर रही है। अब स्मृति-आकाश की कुछ बूँदें हैं। मैं हूँ। यह घर है।

सब नीरस कड़ुवा-सा।

भोगे हुए को पुनः पुनः भोग रही हूँ।

वह एक रात की गुनहगार तुम्हें केवल इतना ही जीत पायी थी कि तुम सुबह भोर में उठते-उठते थोड़ा-सा बदले थे। न-जाने क्यों कह बैठे थे—बन्नो, मेरी रानी!

सुखी हुई थी यह सुनकर। कितनी आशा से मैं तुम्हारे कंधे पर हाथ रखकर खड़ी हुई। तुम्हारे मुख से निकलनेवाले हर शब्द को आत्मसात करने के लिए शरीर की हर पर्त, आत्मा का हर कण द्वार खोले खड़ा था।

तुम कह रहे थे—आज मैं जाऊँगा। मेरी सारी तैयारी हो चुकी है। तुम्हें कसम, यदि कुछ कहा।

मैं चुप थी। किससे कहूँ क्या बीती मुझ पर।

सब कुछ देकर भी जैसे मैंने कुछ नहीं दिया था। सब कुछ होकर भी जैसे मैं कुछ नहीं थी। पहले उस दिन भी कुछ नहीं रह गयी थी। जब तुमने गोद में भर लिया था। वह बाग था। प्रकृति की गोद थी। चारों ओर अशोक के वृक्ष थे और मौलश्री की महक थी। रात का ठंडापन था। गिरती हुई ओस थी। हम लोग भीग रहे थे।

यहाँ मैं तुम्हारी बगल में थी। सेज पर फूल थे। सिर के नीचे तुम्हारे हाथ का तकिया था। सारी देह तुम्हारे रक्त की गंध से सुवासित थी। मिलन की भूख मिटी नहीं थी। तुम कितने पास थे और मैं तुम्हें कितनी दूर पकड़ने के लिए भाग रही थी। तुमने मुझे कसम दिला दी थी। तुमने मेरा हाथ पकड़ कर अपने सीने पर रख लिया था।

मैं चुप थी।

तुम मेरे मन को नहीं देख सकते थे।

कठोर और निष्ठुर के ऊपर भी अगर कुछ है तो वह तुम थे।

मुझे चुप देखकर तुमने पूछा--'बोलो।'

'कसम खिलाने के बाद!'--मैं कह रही थी।

'कसम दिलायी थी कि तुम रोकोगी नहीं। यह हमारी और तुम्हारी बात है। तुम यह नहीं कहोगी किसी से मेरे जाने की बात तुम्हें मालूम है। मैं यही पूछना चाहता था, बताना चाहता था।'

जी खूब कड़ा किया था मैंने।--'इस सबसे मुझे क्या मतलब। मैं वचन हार चुकी हूँ। दासी हूँ तुम जैसे रखोगे, मैं रहूँगी। फिर बार-बार ही उसे ही दोहराना पड़ेगा।'

तुम्हें गुस्सा करना नहीं चाहती थी। लेकिन गुस्सा कर दिया था मैंने। कौन-सी नारी होगी जो इस तरह अपना घर जलाकर चुप बैठी रहेगी। तुम्हारे लिए वह बाहर का क्या आकर्षण था। मुझे उसका अर्थ नहीं मालूम। तुम जा रहे थे। इसकी भलाई और बुराई नापने की अकल मेरे पास कहाँ थी।

मेरे देवता तुम जहाँ रहो, वहाँ खुश रहो।

मैं तुमसे बहुत कुछ कहना चाहती थी पर सब दिल मसोस कर ही रह गयी। तुम चले गये। इस तरह चले गये जैसे सब सपना था। वह कम्पनी बाग का सपना। यह हमारी तुम्हारी पहली रात का सपना। वह पटनेवाली भाभी का सपना।

यह इतने सारे सपने के बाद तुमने इतना कहा था--'आऊँगा। मैंने अपना विचार बदल दिया है। जब याद करोगी--जब जरूरत होगी, आ जाऊँगा। निश्चिन्त रहना।'

और आज तक यह औरत निश्चिंत बैठी है मेरे देवता!

वह तुम्हारे मन की मरुभूमि में जो मैंने बीज चोरी से बो दिये थे, उन्हीं की आस लगी है। एक दिन वह फल देंगे। तुम लौटोगे।'

तुम क्या जानो। सभी कहते हैं, सभी ताने देते हैं।—'मैंने तुम्हें खो दिया। मैं तुम्हारे योग्य नहीं थी।'

कभी-कभी ऐसा लगता है; सच मैं तुम्हारे योग्य नहीं थी।

क्या व्यर्थ का स्वाँग रचा था मैंने। बड़ी रुलायी आती है। खुद रो लेती हूँ। रोती रहती हूँ। जब तक आँख स्वयं जवाब नहीं देती। वह सावन-भादों बनी झड़ी लगाये रहती हैं। फिर पानी चुक जाता है। बदली घनी रहती है। पानी नहीं बरसता इसके यह अर्थ नहीं कि बात टल जाती है।

समझ में नहीं आता कि वह दो क्षणों का स्वाँग मैंने क्यों किया—इतने सरस क्या इतने निष्ठुर भी हो सकते है।

लगता है कोई जबरन रात को दिन कहलाना चाहता है।

सब कुछ झूठ पड़ जाये—यदि तुम आ जाओ।

तुम्हारी जरूरत है।
तुम्हें याद करती हूँ।

—:०:—

पंडित नर्बदा प्रसाद

भेजो शंकर जी चौवन करोड़ की चौथाई।

जब जी थका लगत है जाने क्यों हम जोर से शंकर को याद करित है। उहै दिन की बात रही हम एसनै भाँग घोट कै उठा रहे कि मुँह से निकसगा—'भेजो शंकर जी—।'

बाबा शंकर औघड़-दानी-केहका का नाहीं देत। सबका सबकुछ दिहेन बस हमें एक लरिका...। मेहरारू मुँह से नाहीं कहती, ओहकरे सूरत देख के जिव जुड़ावत है। कितना समझाइत है लरिका बचवा कौने के किये से होत है ? पिछले जनम में नाहीं लिखा, तौन कहाँ से लायी ! बोलो तो ? हम तो बनाय लिहेन हैं अपना मन। ससुरी का मन समझाइत है, नाहीं मानत। जिनके हैं उनकी कौन दसा है।

जो कुछ होय ! हम एक दिन दिसा मैदान कै बदे खड़ा रहै कि हमें बाहर ऊ लोटियावारे पंडित की आवाज पुनः सुनायी परी।

लोटिया वाला पंडित इधर कितने साल से नहीं आवा रहा। फिर आयेगा। यह कर आवाज सुन के हमरो जी कैसन-कैसन होय लागत है।

'राम झरोखे बैठ के आपन मुजरा लें।
जाकी जैसे चाकरी वाको वैसा दें।'

ललकार के गावत है। सुन कर हमार पैर दर की दरैं ठिठक गा। मतली आवै लाग, झट बुलाय लीन सारे का।

'कहो, लुटियावाले बाबा ?'

'हाँ, महराज।'

'तुम फिर आयगे।'

'है, साहब, का करी। पेट के खातिर तौन सब करै पड़ी। बिन माँगै गुजारा कहाँ। बहुत दूर घूमि आवा पर परयागराज से छुट्टी कहाँ !'

हम ओहसे बात करित है, अपने जिव का ढाढस बँधाइत है। हम काहे ओहकर ई तरह की बात से डरित है। ई लोटियावाला इतनी ललकार के काहे कहत है—'जाकी जैसी चाकरी...।' का हमार चाकिरी खराब है ?

हमका ऊ दिनवा याद आवत है जब हम पहली बार ई लोटियावाले कै बात सुना रहा और हम सोय ना सका रही। बहुत खराब लगत रहे।

हमका—अरे हम कौनो का चोरी तो करित नाहीं । जौन होय आवा है तौने तो करित है । गरीब-दुखिया का किनारे लगाए की बात अगर हम न करी, तो कौने दूसर करी । रही पैसे की लालच ऊ हमें कहाँ है ! पुन हम काहे डरित है ?

एक दिन हम ई लोटियावाले से कह दिहेन रहा—हे महराज ! तुम हमार गली में न आओ तो न बनी ?' फिर हम हँस कै कहिन रहा—'मोर मतलब है । हमार गदेला तुम्हारे बात सुन के सोवत नाहीं । डरि-डरि जात हैं ।'

बड़ी-बड़ी आँख फाड़ कै ऊ देखतै रहिगा । हम आगे कहिन—'देखा, अचिरज न करै । बात ठीक कहित है । तुम एक काम करै कहीं और चला जा, हम रुपिया देब । तुम्हार नुकसान पूरा कर देब ।'

ई हमही जानित है कि ओहको हम कैसे पटावा । ऊ सार कैसे मानिस । बहुत दिन होयगा हम सोचा रहा सार मर-बिलाय ग होई कहीं ।

एक दिन बीच में, हमार मनई कौने गाँव गै रहें—तब सुनि आयें कि ई लुटियावाले बाबा भिखारी न होई । पेशा करत हैं !

हम कबौं सुने न रही ऐसन बात । पता लाग कि ऊ गाँव माँ अच्छी खेती होत है । खूब मजे से लोग रहत हैं । सुन कै आँख खुल गै ।

हमार नौकर कहिस—'हाँ, हजूर हम गैन रहे अपने बिटिया कै बात पक्की करै । तौन सरवै पूछै लागे—जानत है का पूछेन सरकार ! पूछिन—तोहरे घरे कितना लोटा चलत है ।'

बात सुन कै हम तो चक्कर में पड़ि गै । हम तो लाठी चलत सुना रहा । लोटा चलत तो पहली बार सुना । ऊ खलील और रऊफ मियाँ मौजूद रहें । सबै हँसि पड़ै । मैं पूछेव अपने नौकर सरऊ राम औतार

से—'कवे' आखिर कहै का चाहत है। सड़ सड़ बोल ई पहेली अस काहे बुझावत हौ। जल्दी-जल्दी कहि जा न।

रऊफ कहिस—'हम बताई सरकार। सरवा कै दिमाग़ हिलवापूरी खाये-खाये मोटा होईगा है। तबै ई सरकार का मजाक उड़ावत है। कहि कै ऊ हाथ उठाय लिहेस रहन मारै कै लिए।

रामऔतार बोला—'देखा रऊफ मियाँ। बड़ लिहाज करित है, तोहार। तुहौ नौकर, हमहूँ नौकर। सरकार के सामने का बाहर चला निपट लेयी।'

रऊफ मियाँ कड़क परें—'चला-चला।'

ई सारे सब खाय-खाय मोटान हैं। हम बीच बचाव न करित तो कुछ न होत हाथा-पाई जरूर होई जात। थोड़ी देर मा शांति भै और पता लाग सारा मामला। 'तोहरे हिया कितना लोटा चलत है, माने कितने भीख माँगेवाले अहैं। लोटा चलै का पेशा अहे। बंबई कलिकता रामेश्वरम् सब जगह जाति-आवत रहत हैं ई लोटिया बाम्हन। खूब हँसाई भै। पता लाग कि जौन रामऔतार हमार नौकर ई कथा सुनावत रहा, ओहू खियाँ कभौ लोटा चलत रहा। सूखा साफै इनकार करते रहे। हम पूछेव बोल तो राम औतार· आखिर तोर हियाँ लोटवा नहीं चलत रहा तो कैसे पहुँचेव ऊ गाँव मा।'

आज ई लोटिया महराज कै हमहूँ का बदिला लेव वरे बखत निकरि आवा। हम कहेन—'का लोटिया महराज और कितने लोटिया चलत हैं तोहार घरे मा।'

'का कहत है?'—कहतै लौटिया महराज खड़ा होय गैं।

कपरा पकरि कै उनका बैठाय दिहेन और कहि दिहैन—'देखो, महराज, ठठेर ठठेर बदौवल नाहीं होत। बैठा रहा सुचित्ते से। आइत है हम दिशा मैदान से फ़राकत हो के।'

हम तनिक दूर हटा रहें कि सुनाई पड़ा।

'का महराज दुई पैसा मो का होई। काहे का जिव लेते है। देव चाहे न देव।' कहि के उठि पड़ें मंगता और हम चिल्लाते गये कि लोटिया महराज इह जा वह जा सिर पैर रखकर भागें। का बतायी ऊ बखत कौनो आदमी नाहीं रहें। लेकिन ऊ दिन खूब खुल कै दिसा भै जिव तो साफ होई गा पुन फिर भी अंदरै-अंदर न जाने काहे हम लाख मन का समझावत रहे पर दृष्टि बार यही याद आवै—'जाकी जैसी चाकरी...।।'

बहुत सोचित है का हमार चाकरी का खराब है। का खराबी कै बात करित है। खूब जितना होय सकत है जिजमानै का भला करित है। खिदमतदारी करित है। अब ऊ ससुरे अपनी बहिन बटिया कै, रांड-विधवा कै नहीं रख पावत हैं, तो उनका कौन पार लगावै। पूजा-पाती मैं हम कै पैसा लेइत है। औ लेई न, तौ खाई का।

बड़ी देर से हम दिसा मैं बैठा सोचत रहे। ई इतने मनई हमरे साथ लागा रहत हैं। जाड़ा-पाला गर्मी-लू जब देखा चाहे भोर हीं होय चाहे रात, दुपहरिया होय चाहे साँझ सब लोग कहीं टेसन, कहीं त्रिवेणी दौड़त-भागत रहत हैं। दुई पैसा इनका न मिली तो इनकै घर-गृहस्थी कैसन चली। ई सब हमार कुटुम्ब की नाई न होय।

फुन अपने मन अपने का गरियावत है—का नर्बदा धरम-करम कै बात दिसा—मैदान में बैठे करत हौ। औ करी का—देखा न कौन आदमी है। कौन मनई है जौन ई पेशा बचा अहें। ई नये-नये रिक्शा का चल गये हैं। ई सरवन का भी खून लाग गा है। स्टेशन से गंगाजी तक का लागत है किरावा दस आना बारा आना। पर ई लोग लाद लेहिहैं चार आना छः आना माँ। गंहकी समझी बड़ा सस्ता भइल। चोहका दै चलिहैं किले के पिछवां। दुई चार चौरास्ता पहले से नाववाले दौड़े लागत हैं। उहाँ कौनो पंडा रहा, तो रहा, नहीं तो कौनो घाटिया, भद्दर जौने के हाथ जिजमान लग गा आपन उतार लिहेस रकम। सबै तो मिली भगत मारत

हैं। सब का कमीशन बँधा है। स्टेशन कै टिकट बाबू चूक जात हैं कि पुलिस वाले आपन हिस्सा नाहीं लेत हैं!.

उह दिन एक और बात पता लाग। कुछ नये तरह के दलाल होई गै हैं। ई लोग कौनौ के नौकर नाहीं हैं। दूर-दूर से अपना जिजमान पक्का कै लावत हैं। ऐसन पक्का करि राखत हैं कि तनिको कानो कान खबर नाहीं होत। ले जाय के बड़े आराम से टिकाय देत हैं। फुन चलत हैं पंडा खोजै। असली क्या खूब जाँच लेत हैं। कितना गहिर अहे। कितना पैसा उतरि सकी। वैसन कमीशन की बातचीत चली। जहाँ पैसा अधिक मिली वहीं बिकी ऊ असामी। अब ओहका चाहे जिजमान कहीं चाहे अन्न-दाता जेहका पैसा दै के खरीदा गा है ओह से पूरा-पूरा पैसवा तो निकसै चाही। रोजगार में नुकसान कौन चाहत है। सार बियाज न मिले-न-मिले मूल काहे जाय। एहका चाहे तुम हमार वदनियती कहा, चाहे नेक-नियती, पेट चलावै के लिए करै बहुत कुछ पड़त है।

रह गै बड़का भैया के बात, तौन उनकर बीमारी-वुढ़ाई में लरिका साथ छोड़ के चला गा हम तो नाहीं छोड़ सकत है। इतना बड़ा कुटुम्ब कै खरिचा नाहीं है। घर से कहाँ तक निकारि-निकारि खावै। ऐसन से एक दिन कुवाँ चुक जात है। अब छुटन्नू हमार है तो छोटा भाई पर स्वारथ बस काम अलग कर लिहेस है। ऊ पुरनका दद्दा वाले घरे में निकस गा है। ओह के जाये से भी तो जिजमान वढ़ गै हैं। पहिले पट्टी-दार का सामना करै पड़त रहा ओहकर लाख-गाट सँभाले परत रही अब खुद भाइये से जूझै परत है।

हम तो परन कर लिहिन है कैसन भी नाम न नीचा होय बस पैसा वहुत आवत-जात रही। ओहका का फिकिर। हमार बड़का भैया जैसन मजे से छैल-छबीली के बीच माँ अपना काट दिहेन, हमहूँ पीछे थोड़ी रहब। ऊ आपन रंडी-पतुरिया, रखेल राखत रहें हमका किराये का करै पड़ी, बस। फिर जिजमान में का कम नीक माल आये जाते हैं। सब

जगह सबै पंडित तो नाहीं होत। कौनो-कौनो के लिए सतर चूहे खाय विलैया हज्ज को चली, वाली बात रहत है। न जाने कहाँ-कहाँ का पानी पिये रहत हीं।

हम लोटवा माँजत रहे। हाथ धोवै की तैयारी करत रहे कि खबर आये। एक बहुत बड़ा काम आवा है। तुरंतै भागे। कौनो चौधरी साहब फीजी से आये अहैं। हम फीजी ईजी का जानी। कहीं समुन्दर में का दीप अहे। अंगरेज और दूसरा जात रहत ही। इतनै समझ सके। कभौ बहुत-से हिंदुस्तानी लोग हुआँ रहत रहें। ई चौधरी साहब हुआँ मिनिस्टर हैं। हवाई जहाज से फूल लाये हैं आपने बाप का। उनका पुरोहित लंदन से आये हैं। बस पंडा चाही। बड़ी मछली रहे। याद आयी बड़का भैया के बिटौना का। आज ऊ होत तो हमार ई जिजमान भी मान जातें—कसस गिटपिट होत दोनों माँ। पर ऊ बदमास भाग गै। अपनी पतुरिया का छोड़ के। ओह कर दु:ख तो देखै नाहीं जात हमसे।

देखतै आत्मा गनगनाय जात है। झूठै नाहीं। हम पाप नाहीं सोचित खूब चढ़ी है बहुरिया। भगवान जानै कैसन समात होई खटिया पै। बड़ा दरद लागत है देख कै। अरे हमसे कौनो बहुत ज्यादा छोट थोड़ो है। राजू। गोदी खिलायों हैव। तब्र हम बारह-तेरह हद्द-से-हद्द पंद्रह का रहे होई। आज मोरो गदेला ऐसन होत हम सारे का बिलायत पढ़ाइत। न ना मेलेक्ष थोड़ी बनाइत। खूब संसकृति पढ़ाइत ओहका। एकै होत ऊ शहर मा। सोच-सोच जी गदगदाय गा।

चौधरी साहब कै काम करावै गंगा जी जाय का है, चली। देखी कैसन निपटत है। डर काहे का। काम आपन है। आदमी चराइत है। जिजमान खुश होय के जाये चाही। खुशी का एक पैसा भला।

होहिहै वही जो राम रचि राखा

हमार कौन दोख है। हम तो हाथ कलछुल हैं। काम किहे जाइत है। बस।

उह मकान जेहमा छुटकन्नू गये हैं सब का बिसवास अहै कि ओहमाँ पैसा अहै। बहुत पुराना मकान है। कई बार पंडित लोग विचार करि चुका अहैं। पर पैसा की कभौ मैसी हवस नाहीं भै हमार घर माँ। हमार बाप तो ओहका बंदकर राखे रहैं। कभौ कौनों किरायेदार भी न बसाइन। भुतहा कहा जाय लगै रहा ऊ मकान का। इधर शहर बाढ़ा आबादी बाढ़ी। सबै मकान माँ लोग रहे लगें। मनई के रहे बसै से खराब-से-खराब जगह नीक होय जात है। छुटकन्नू के ऊ मकान में जाये के पहिले ऊ, मकान मौ दुई किरायदार रह चुका रहें। दुइनौ का कहना रहे कि ओ माँ खन-खन-खन पैसा चलै की आवाज आवत है। मैं तो बिसवास ही नाहीं करत रहेव ई बातन पर। खूब गरियावत रहेव। एक दिन छुटकन्नू नाहीं मानें। गै भाई उनके साथ। रात का दस बजा, ग्यारह बजा, नीच का बहुत रोकी आँखी झप-झप पड़ै।

मकान में नीचे दहखाना रहा। इतना ठंडा कि गरमी माँ जूड़ी आये जाय। ओहमाँ बैठा हम ऊँघत रही। बारह का घंटा बजा। थोड़ी देर में ऐसन लगा जैसे कमरा एकदम खाली अहै। खूब शांति! एक दम अँधेरा। सोचो बिना कोई आवाज के भी आवाज अपने-आप सुनाई पड़ जाय। थोड़ी देर में जब तक अंदर-अंदर जीव खूब डरि गा रहा। आँखी कहै कि बस अब हम बंद होई जाव तो एक दम से ऐसा लगा कि कोई गगरा लुढ़काय रहा है। खन् खन् खन् रुपया कै आवाज सुनाई पड़त है। जैसे गगरा माँ रुपिया भरा है और गगरा चलि रहा है।

थोड़ी देर में कब नींद लाग गै समझ में न आवा। सुबह जब लोग तहखाना खोलिन तो सब पूछै लागै। डर के मार कह दिया भाई--'हाँ हमऊँ सुना है। बाजत रहा रुपिया।'

पर सच बात जो हम समझि सका रहे ई रहे कि रुपिया बाहर जमीन में नाहीं मोरे मन में बाजत रहा और कान पर सुनायी पड़त रहे। हमार धियान दीवाल की तरफ गा तो लाग दीवाल में बाजत है। जमीन

की तरफ गा तो जमीन की तरफ बाजत है। लेकिन हम कौनो से कुछ कहा नाहीं। का करित कहि के। खामखाह के पचड़ा खड़ा होत। जब बात लोगन के मन की नाहीं होत तो लोग खिल्लड़ी उड़ावै लगत हैं। हमका ऊ सब पसंद नाहीं।

फिर जौन कुछ आज सुना ओह से जी दहल गै। हम छुटकन्नू का ऐसन नीच नाहीं समझत रहे। साला इतना पाप करि डाली। अरे हमसे लोग कहिन बिटवा चाहत है तो उपचार कै डाला। कुछ बुजाया करावा। भला बतावा दुसरे का अहित करके आपन हित होत है! कैसे होई ई सब। हमसे तो न होई। जो न देखिस होय ऊ सोचे। हमरे बड़का भैया के का कम लरिका-बचवा भैं। ग्यारह भैं ग्यारह! सालैं भीतर सब मरि-मरि जात रहें। उनकर बचावै के लिए का नहीं कीना गा। लोग कहते रहें कोई पीछे लाग है। कितना दुःख होत रहा कि पाला-पोसा, आठ दस महीना गोदिया में लिये-लिये घूमा और आस लगावा, बड़ा होई हैं ऐसन होई ई होई और ऊ, चिरई के पूत नईं एक दिन पट से गरिदन डाल दिहेन। रोय के रहि जाव। कसक कै छाती जुड़ाति है ऊ सब सोच कै। अब हम अपने घर बनावैं के लिए दूसर के लरिका के बाल काट लाई। या कोई कै पैलौठी कै लरिका चोराई, पूजा कराई ओहकर खून से मोर मेहरारू राजवसल्ला होय के नहाय। छी, छी, ना बाबा हम तो तांत्रिक पण्डित का हाथ जोड़ के नमस्कार किहेन और कह दिहेन—हे पंडित महराज! तोहका परनाम, तुम जाव। हमसे ई सब न होई। कौनो पट्ठा का बताव जौन सार पांच हाथ कै सीना ले के चलत होय। अपना का लगावत होय। होय दुई दुई हाथ और ऊ सार मोरे सामने अकड़ै तो गँड़ासा से दन्न सानी गटई काट लेयी एक झटिका मां—ई होई हमसे।

हमारा बात पर मोर मेहरारू मुँह फुलाय लिहेस। फुलाय ले। हम तो ऊ ससुरी का अस के गरियावा कि कुछ न पूछे। महतारी का दूध याद आय गा होई।

उपचार और पूजा पाठ चाहे जितना होय। लरिका मिलैं या न मिलें ओहकर कोई बात नहीं । भगवान के पूजा से इन्कार नाहीं करित । चल जौन बहाने खरिचा होय वही सही। पर ऊ ससुरी कै गोद भरैं दूसरैं कै गोद खाली कै के, सूनी कै के। बताव कसक का जी पतियाय । उन न देखेय होय आपन जेठानी का दुःख तौन दूसर बात रही । सब कुछ देख-सुन कै ई करी मोर जी नाहीं माना। पर औरत जात जौन करैं थोड़ ।—आखिर जर, जोरू, जमीन एही तो झगड़े की जड़ होति है। हम तो खुल के कहि लिहिन—एक राजू कै चाची, अब तो जौ मैं से भल पर आगे से हमरे सामने ई रंग-ढंग की बात न आवैं। हम एहका पसन्द नाहीं करित। पहिरे बहुत इडिर-तिडिर किहेन, ठस्सा दिखाइन। पर हम तो एकै बात जानित है मार से भूत भागत है। पर येहकर मौका कबौ नाहीं आवा। जल्दी में समझ आय गै। नाहीं तो हम तो विचार कर लिहिन रहा। अरे औरत का ? आदमी की जूती तो। जूती आपन जगह ठीक। अगर सिर पर चढ़न लागै तब ! ऊ बाबूगीरी आपन नाहीं सीखा। बस। और एक ऊ हमरा छुटकन्नू। हम तो ओही दिन से कहि दिहा—'देखे, हमार घर में उनकर बात न होये। सरवा कै हाथ से पानी न पियै चाही।'

'का भवा ?'

तुम हमसे पूछत हौ। अरे ऊ निगोड़ा पूछौ का नाहीं किहेस। का बाकी राखेस कौनो पंडित से मकान कै कुंडली बनवायेस और पंडित उपचार बताय दिहेन। सरवा न देखिस आगा न पीछा और पिल पड़ा पैसा के खातिर। ऐसन मैला पर का पैसा कौने काम का ! पैसे की माया ऐसन निकृष्ठ कि मति भ्रष्ट होय गै सारे की। अरे जानित है कितना पैसा निकरत। हमका तौन ऊ पंडित मिलबै न भवा नहीं चेचुरा पकड़ि के बताइत सरवा का। सार का सिखा दिहेस। पैसा बलि माँगत है। सारे ई बंजारन की जात का पैसा। कहत हैं कोई जमाना रहा जब ई

दुनियां मां बहुत बहुत अनहोनी होत रहै । ई घूमँवाली जात जेकरे पास न ठौर न ठिकाना, कहूँ गाँव में जात-जात जब काफी पैसा इकट्ठा करि रहैं-तो ऊ पैसा का बंक बनवात रहें । करत ई रहें कि कहीं गांव से गमुवारा लरिका जेकर मूडन भवा रहे ओहका पकरि लै आवैं, चुराय लावें, उठाय लावें और एक माटी की हड़िया का जमीन खोद के रखें। लरिका का वैठावें और लरिका कै बिधि बिधान से पूजा करें। जोत जलावैं, लरिका का मिठाई खिलावैं और जब ऊ पांच बरिस से कम उमरि कै बालक मस्ती से मिठाई खात रहे तो ओकर गरदन काट दें। हमार तो सोच के जिव जुड़ाय लागत है। का दसा होत होयी ऊ बचवा कैं। ऊ है जिव निकरत निकरत घड़ा माँ मिठाईं और दिया। घड़ा का मुँह बन्द कैं देत रहैं और घड़ा का जमीन में गाड़ देत रहैं। लरिका का जिव उन जूठी मां समाय जात रहा और घड़ा में बन्द होय जात रहा। ई बिधि से ऊ अपना टोना-टोटका कैके चल देत रहें। का मजाल कि बिना उन कर इजाजद के कौनो ऊ धन पाय ले। हमार दुई हजार मील की दूरीं पर जहां कहीं ऊ लोग घूमत घूमत पहुँचें और उनकर पैसा की जरूरत होय तो उ मंत्र की ताकत से घड़ा का बुलाय लेत रहैं। घड़ा जमीन के अन्दर-अन्दर चलि कै पहुँच जात रहा। कभौं-कभौं पिपरे की जड़ मां ई हंडा जब पड़ जाय अटक कर रहि जाय और फिर उ बंजारा नहि पावत रहा। हम ई सब बात का सुनिकै चुप होय जाई। आपन का मतलब बहस से। लेकिन जिव ऐसी बातन पर विश्वास कम करत है। पर पुरनियाँ लोग कहत हैं। उ लोग देखिन है। पर सच भी होई। लेकिन ई दोन्हू का का भवा रहा। जौन आपन गमुवारा लरिका का बलि दे चला गै। सार पंडित बताय दिहेस की पूजा माँगत है धन। बस धन कैं लालच माँ लरिका दै डालैं के लिए तैयार। हमका तो पता चला बाद में। अरे पुता के का लगा। बेचारी महतारी जौन नौ महीना पेट में राखिस, पालिस-पोसिस ओहू का मालूम नाहीं भवा। ऐसन चोर रहे हमार भाई। छोटा लरिका। सबसे छोटा। ओहकर फुसलाय

के आपन तहखाना में ले गवा। चोरी-चोरी पूजा के सामान जुटाइस और चोरियै चोरी पंडित सरवा भी ओलियाय गा। गरमी कै दिन पतोहू हमार ओही छुटकन्नू की जोड़ू आपन कमरा मैं सोवैं। थोड़ी देर मां ओकर धियान लरिका कैं ओरी गवा। सोचत है—लरिका भसन्नू नाहीं दिखात। कहाँ गैं उठ के। बाहर आवत है। सब कोठरी-कमरा देखत है। कहीं नहीं। देखत है कि ओहकर मालिक तो कहि गै रहा हम बाहर जात अही फिर ओहकर जूता काहे रखा वा। फुन ऊ दौड़ी-दौड़ी नीचे तहखाना की तरफ गैं। देखत ही तहखाना का दरवाजा बन्द है। फुसुर-फुसुर कुछ आवाज आवत है। जोर से दरिवाजा पीटैं लाग। पास के घर के भी कई आदमी दौड़ आयें। दरवाजा खुला तो हुआं कांड दूसर रहा। लरिका के आगे मिठाई का दोना रखा रहा। पूजा होत रहें। माथे में बड़ा-सा टीका लगा रहा लरिका कैं। महतारी देखतैं धक् से रहिगैं। बिहोस होय के गिर पड़ी। सारे आदमी तहखाना मां ओलियाय गैं। पंडित मार के डर से निकसि भागा। बारह बजे दिन की बात है।

पूछा कोई जाय कैं हरामजादा से—'कबे काहे करत रहे ई सब।' तो सवाल ई गर जवाब दीगर। आखिर है तो पंडै कै जात। कौन मुँह लगें। कौनें बोले। कहत है—'हमार बेटवा हम चाहे जो कुछ करी।'

हम कहित है का ओहकरै बेटवा है। ओहकर महतारी का कुछ नहीं। जौन छाती निचोय-निचोय पियाय-पियाय जिव मा शरीर देत हैं ओहकर कोई हक़ नाहीं। लरिका गदेला हमहूँ चाहित है कोई पैदा कै दे हमार मेहरारू से तौन हम जानी। ऐसे पैदा किये लरिका-बच्चा होय जात तो ई इतने राजे महराजे निपूते न मरि जातें। का कम पैसा उनकै रहा पर नाहीं पूजा-पाठ, बरत-नेम का नाहीं रहत हमरी मेहरारू पर लरिका नाहीं बदा तो कहाँ से होय! मुदा जेके है ऊ ऐसन करत है पूजा दै डालैं के लिए तैयार हो जात है कि ओहकर दिहे से पैसा मिली। ई श्यामलाल पंडा के खानदान और ई करम। हे भगवान घोर कलयुग आयगा है।

फुन गरियाइत है और खुदै सोचित है हमरे कहे का होई। अगर ओहका मंजूर होत तौं बलि के बाद महतारी का घटकना लगत फुन का कैंतेत महतारी । बात का सब लोग चुप-चुप कै दिहेन नहीं अभैन पुलिस दरोगा के कानन माँ तनिको भनक पड़ि जात तो लेने का देना पड़ि जात। अच्छी तरह नाक कटत हमार पचन का ।

सब लोग आय के हमहीं से पूछत हैं। केका-केका का-का जवाब देई। कुछ समझ माँ नहीं आवत। अंधेर है अंधेर है ई दुनियाँ माँ।

—:o:—

राजू

भीड़ की उदासी से ऊब उठा हूँ। सच ऐसी उदासी कभी नहीं झेली। मन अंदर-ही-अंदर पहले ही बीमार लगता था पर वह अब धीरे-धीरे बहुत ही टूट गया है। उसे याद आता रहा अक्सर सरकस के गेट पर एक गाना लाउडस्पीकर पर बजा करता था—'मोरे जोवना का देखो उभार पापी—।'

वह गाना मुझे इस समय क्यों याद आता ? वह समझ पाने में मैं एकदम असमर्थ था। लेकिन मेरे मन में अंदर-ही-अंदर एक तर्क उठ रहा था। टूरिस्ट आफिस से टिकट मैं कई दिन पहले खरीद चुका था। रवि-वार की यह सुबह हमेशा की किसी दूसरी सुबह से भिन्न नहीं लग रही

थी। सब कुछ पहले जैसा--हमेशा की तरह एकरस था। जब बाहर एक रस दिखता हो तब अंदर रंगों का वैचित्र्य बड़ा ही फर्कदार हो जाता है। जैसे दूध फट गया है और पानी में सफेद फुटकियाँ उतरा आयी हैं। नन्हें-नन्हें कण इस तरह बिखर गये हैं कि उनकी ओर देखने से मितली आने लगती है।

लाँच गेटवे आफ इंडिया के बायें ओर की दीवार छोड़कर सामने दिखनेवाले मोटे टीले की ओर बढ़ रही थी जो पानी में तैरते बर्फ के टुकड़े की तरह प्रतीत होता था। पहले सामने की ओर धुँध थी। धीरे-धीरे लांच काफी आगे आ गयी और अब ऐसा लग रहा था जैसा सब कुछ धुँए के बीच हो रहा है। लांच की मशीन से उठने वाले मोबिल आयल की गंध ने सभी के दिमाग़ की हरकत में एक रफ्तार जोड़ दी थी।

लाँच में कुल तीस आदमी थे। यह जानने की जरूरत मैंने महसूस नहीं की। केवल वह मशीन की फट् फट् की आवाज थी और मैं था। मशीन के उस भीषण क्रंदन के साथ मेरे मन के स्वरों का मेल...और अगल-बगल लहरों के हिलकोरे...और बस। लग रहा था जैसे मैं हिरनी-सी कातर दो आँखों को अपनी आँखों से मेट नहीं पा रहा हूँ। उनकी दृष्टि मुझे विह्वल कर रही है। मैं यह समझ नहीं पा रहा था। यह आँखें किसकी हैं? कभी वह मुझे बन्नो की आँखें-सी लगतीं, कभी लिना की। मैं भवफेर में पड़ गया था, क्योंकि उन दोनों की आँखों में झाँकने और उनको पहचानने की, आवाज पहचानने की, जब-जब मैंने चेष्टा की तो पाया कि उन आँखों को पहचानने की बजाय मुझे हमेशा अपनी ही आकृति उसमें दिखने लगती है। शायद आदमी अपने को हर जगह देखना चाहता और देखकर खुश होता है।

मैं तो उन आँखों को देखकर उन्हें पक्की तरह पहचानने की बात ही भूल गया था। मैंने एकसाथ उन आँखों को कभी नहीं देखा। फिर

उनमें फर्क आँकने की बात ही नहीं उठती। उस समय तो मैं यह अंदाज भी नहीं कर पाया था कि कभी इसकी भी आवश्यकता पड़ेगी।

लाँच चल रही थी। खूब शोर था। लोग खा-पी रहे थे। मैं अकेला था। अपने दिल से गुफ्तगू कर रहा था। चुप था, खामोश था। एक लड़की थी स्लेक्स पहने। छोटी आस्तीन का ब्लाउज पीस था। चटक रंग की स्लेक्स थी। बाल छोटे और बेतरतीबी से बहुत-सी पिनों से ऊपर खुँसे थे। वह एक हाथ में सैंडविच लिए दूसरे में कोई अंग्रेजी की किताब लिये पढ़ रही थी।

मुझे ऐसा लग रहा था वे दो आँखें जो धुँध में चमक जाती थीं, वे आँखें शायद बहुत कुछ इसी लड़की की आँखें थीं। क्योंकि मन पर नशा पुरानी स्मृतियों का छाया हुआ था। अतः मेरे लिए फर्क करना कठिन था। मुझे स्लेक्स में लड़कियाँ अच्छी नहीं लगतीं। मन मीमाँसा में उलझा था। फिर वह सीने जिन पर दुपट्टे न हों। वह उमर जिसमें सब कुछ इस तरह अच्छा लगता है कि कुछ गोपना हो, कुछ लज्जा हो——कुछ ढ़का-ढ़का हो। जहाँ सब कुछ एकदम से सामने आ जाता है वह एक क्षण के लिए चाहे कुछ कहा जाय सुना जाय लेकिन उसमें पहेलियों जैसा लुत्फ नहीं आता। वहाँ उस नारी सुलभ कमनीयता के दर्शन नहीं होते, रूप की वह झिलमिलाती शोखियाँ नहीं होतीं जिनसे मन को कुछ नया सोचने का मसाला मिलता है।

वह पुस्तक हाथ में लिये थी। उसने एक कोने से सैंडविच काट लिया था। तिकोने आकार का सैंडविच एक ओर से गोलाकार कटा था और उसमें लिपस्टिक का रंग झलक रहा था—शोख लाल रंग! मैं उस किताब के टाइटिल को देखने के लिए उत्सुक था जिसका मुख्य पृष्ठ दवा था। पाकेट बुक सीरीज़ की कोई किताब थी। उसके साथ के सब लोग हँस रहे थे। बातें कर रहे थे। यह भी कोई टूरिस्ट ग्रुप था। हम सभी ऐलीफेंटा की गुफा देखने जा रहे थे।

लड़की किताब पढ़ते हुए कभी-कभी आँखें उठाकर सामने देख लेती थी तो उसकी चोरी पकड़ जाती थी। मैं समझ नहीं पाता था--क्यों लोग इस तरह देखते हैं ?

इन आँखों को इस तरह देखकर मुझे एक बहुत ही पुरानी बात याद आ गयी। उस वक्त भी यही प्रश्न, शायद इसी रूप में तो नहीं परन्तु बहुत कुछ इससे मिलते-जुलते रूप में, मैंने अपने से किया था। उस समय इतना समझने के लिए भी शायद मुझे ज्ञान नहीं था।

मैं हमेशा ही अपने से एक बात पूछता रहा हूँ--आखिर क्यों मुझे इस तरह के उलटे कामों को करने में रस आता है। क्या सचमुच मैं सारे काम उलटा करता हूँ। इसलिए लोग मुझे कभी-कभी अनोखे ताने भी देते हैं। पर क्यों ? मैं अपनी मजबूरी को किसी तरह छिपा नहीं पाता। हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसी बातें कर बैठता हूँ जो दूसरों के लिए बहुत अटपटी हैं पर मैं उन्हें अटपटी समझ कर नहीं करता। मैं उन्हें ठीक समझता हूँ। लोग उन्हें गलत मानते हैं। उनके विधान के चौखटे में वे सब बातें नहीं समा पातीं। वह जो कुछ कह जाते हैं--पहले बुरा लगता था अब धीरे-धीरे आदत पड़ गयी है सुनने की। आज लगता है वह केवल अपने स्वार्थ से ही आँकते रहे हैं मुझे। यह स्वार्थ हर अच्छे-भले आदमी को प्रत्यक्ष या परोक्ष में पकड़े हुए है। म ही इससे बरी कहाँ हूँ। यहाँ लांच में आ बैठा हूँ। उन स्मृतियों से भागने की चेष्टा में जिन्हें गोपालन साहब ने अपने पत्र से जगा दिया है।--वह बहुत परेशान थी। तुम्हारा सारा सामान हम लोगों के डिब्बे में था और गाड़ी चल पड़ी थी। उसकी आँखें प्लेटफार्म के बाहरी गेट की और किस उत्कंठा से टिकी हर आदमी में--हर इकाई में तुन्हें खोज रहीं थीं। मैंने लिना को कभी इतना उद्विग्न नहीं देखा। गाड़ी चल पड़ने के बाद वह मेरे कमरे में आयी कितना रोयी थी। कैसे बिलख-बिलख कर।

वह सामनेवाली लड़की अभी भी किताब पढ़ रही है। जरा देर पहले उसने सामने की ओर आँखें उठायीं थी। हिरनी-सी वह कातर

निगाहें। जैसे चारों ओर का लहराता समुद्र सिमट कर उसकी नीली आँखों में समा गया है। मैं लांच के इस ओर खड़ा दूर से उन्हें देख रहा हूँ और याद कर रहा हूँ लिना को जो गोपालन साहब के केबिन में रो रही थी। उस समय क्या मेरे प्रति उसके मन में खूब घृणा नहीं भरी होगी। नहीं गोपालन साहब ने लिखा है——वह तुम्हें न जाने क्या समझती है। वह घृणा नहीं करती तुमसे। मैंने खूब टटोल कर देखा है। न-जाने कैसा जादू-टोना किया है तुमने।

मैं प्रेम की विभिन्न स्थितियों से परिचित नहीं हूँ। लिना मुझे भूल जाय, घृणा करे, यही तो मैं चाहता था। मेरी आँखों के आगे उसकी आँखों की आकृति खिच जाती है। वह बड़ी-बड़ी आँखें और उनमें भरे जलकण। रेल के डिब्बे के खिड़की के बाहर प्रतीक्षा में लीन वह खोयी-खोयी आँखें जो दूर-दूर तक किसी को खोज रही हैं।

कभी जिन्दगी उसे बड़ी खूबसूरत लगी होगी। पर आज वह उसे काफिर-सी प्रतीत होती होगी। कभी उसे दिन छोटे लगते थे आज वही पहाड़ लगते होंगे।

कभी-कभी ऐसा क्यों होता है कि एकाएक किसी लड़की को देखकर मन में अजीब तरह के सवाल उठते हैं। मन स्वयं की आस्था पर शंका करने लगता है जैसे बीरान में एकाएक दिख जानेवाले ओयसिस को देख कर राहगीर को खुद की आँखों पर विश्वास नहीं होता। वह बार-बार आँखें मलकर देखता है। लगता है जैसे वह जिन्दगी बनकर आयी है। उसके आँचल की लम्बी गहराई में जिन्दगी की तमाम गरीबियाँ भूलकर सिमट जाने को मन होता है। अन्तर के क्षितिज पर सिर धुनती धारा की लहरें भी शान्त प्रतीत होती हैं। मैं उनमें खोया कसमसाते गुंफनाकु वक्षों की घाटियों में मंडरा रहा हूँ। अपना ही बीता आज फिर नया-नया लग रहा है।

मुझे नारद की वह कुटिलता याद आ रही है। पारिजात की वह कहानी याद आ रही है। सत्यभामा का कृष्ण पर आरोप याद आ रहा

है। राधा याद आ रही हैं। उनका गर्वोन्नत मुखारविन्द याद आ रहा है। जब वह सत्यभामा को नीचा दिखाने के लिए उस मलयजी भोर में सारे-के-सारे पारिजात चुन लेना चाहती थीं एक-एक और सब। सम्पूर्ण अहं से सत्यभामा ने इन्हें रोक दिया था—'यह पारिजात उनके प्रिय के शृंगार हैं—हरि शृंगार।' लाल केसरिया डंठल पर फैली सफेद चन्द्रकला-सी छिटकी धवल पंखुड़ियाँ। फूल में रंग भी है; पराग भी। इतना मधुर मीठा सुवास कि आज भी लगता है कृष्ण उस फूल से एक रात राधा का शृंगार करते हैं तो भोर में सत्यभामा की सेज पर पाए जाते हैं। उस सुवास की ही अनोखी, मनहारी जादूगरी है कि उसमें फँसते ही अपनापन भूल जाता है। अहम् मिट जाता है। इस पारिजात, नारद, कृष्ण सत्यभामा और राधिका की प्रणय-विरह की कथा को लेकर एक नृत्य नाटिका-सी रच गयी है मेरे मन में। पारिजात की भीनी-भीनी खुशबू से मन भर उठा है।

मैं उस बँगले के बाहर खड़ा हूँ जहाँ ढेर से पारिजात के पेड़ हैं। उनकी खुशबू अभी भी बसी है मेरे मन में। बहुत पुरानी बात है। मैं देख रहा हूँ—लगता है यहाँ कोई इन्हें चुनता नहीं। सारे फूल वहीं धूल में पड़े सूख गए हैं। लाल हो गए हैं। उनपर बहुत से ताजे भी हैं जो आज की सुबह के हैं। मैं उनकी महक में डूब गया हूँ। मेरे दोस्त चहारदीवारी के बाहर ही खड़े हैं। ज़माना है वोट का। कनवेंसिग करने के लिए घेर लिया है मित्रों ने। व्यर्थ में ही झूठ की बरजोरी करने में मजा नहीं आता। पर यह नया-नया अनुभव है। पहली बार वोट पड़ रहे हैं। जाने किस चीज का वोट है। कौन-सा सदस्य है मेरा। महल्ले में काम करने में मजा नहीं आता। यह बढ़ती उमर की अवस्था ही ऐसी होती है। अट्ठारह-उन्नीस की अवस्था में एक बार ही में सब कुछ जानने सब कुछ समझने को जी करता है। शरीर कसा हुआ है। देखनेवाला जल्दी से उमर भाँप नहीं पाता। साथी मुझे जबरन जहाँ-तहाँ घसीट ले जाते हैं। रोब पड़ता है मेरे रहने से। मैं शहर के बाहर

दूर बंगलों में जहाँ सब अनजाने हैं, कनवेंसिंग करने आया हूँ। अच्छी दोपहर है। दिन का सूनापन। क्यों झेंपते हैं मेरे दोस्त ? साथ चलते हैं और फाटक पर रुक जाते हैं। बड़ी कठिनाई होती है दिन में। जगा-जगा कर लोगों से बातें करने में। कहीं किसी बंगले में सबसे पहले कुत्ते ही स्वागत करते हैं। लोग कहते हैं मैं अच्छी कनवेंसिंग कर लेता हूँ। खूब बातें कर लेता हूँ।

यह बंगला भी इसी रास्ते में पड़ गया है। इन फूलों को देखकर पैर ठिठक गया। यहाँ कुत्ते नहीं हैं। बागवान नहीं है। बगिया नहीं। सब कुछ साधारण। बहुत साधारण।

मैं बढ़कर पोर्टिको तक जाता हूँ। अन्दर दालान में दो कुर्सी और एक टेबिल पड़ा है। सब कुछ पुराना है पर साफ है। बीच में खिड़की है दोनों ओर दरवाजा है। फिर घूमी हुई बैठक-सी लगती है। सामने एक दर्वाजे पर आई होल बना है। मैं सीढ़ी चढ़कर एक क्षण के लिए बरामदे में ठहर गया हूँ। अपने जूतों की आवाज खुद सुनायी पड़ती है। सब कुछ नीरव है। अजीब अछूतापन-सा आया है।

एक क्षण को लगा जैसे कोई उस छेद से झाँककर चला गया है : फिर मन में यह सब भ्रम-सा ही प्रतीत होता है। झाँकनेवाला बात न करेगा। ऐसा नहीं हो सकता।

किवाड़ बन्द नहीं है पर चपका है। मैं उस पर ठक-ठक की आवाज अंगुलियों से कर रहा हूँ। काफी देर हो गयी। कहीं से कोई प्रति-उत्तर नहीं। मैं फिर उसी तरह आवाज करता हूँ।

'कौन ! अन्दर आइए।'—एक नारी स्वर।

मैं दरवाजे को साधारण रूप से ठेलता हूँ, अन्दर गैलरी है। अगला कमरा बन्द है। उसके अगले कमरे का परदा हिल रहा है। रोशनी आ रही है। मैं अन्दर बढ़ते हुए परदा हटाता हूँ। एक बार ही सामने से जो कुछ दिखता है उससे ऐसा नहीं लगता कि सब कुछ बहुत शाही हो।

हर चीज में औसत दर्जे की साधारणता झलकती है। पर अन्दर से एक भीनी-भीनी खुशबू आ रही है। मैं परदे को एक हाथ से जरा हटाते हुए पूछता हूँ—'मैं आ सकता हूँ ?'

'आइए !'—आवाज फिर उसी तरह आती है।

पैर कुछ ठिठकते हैं, मन कुछ झिझकता है। मैं सोच रहा हूँ कोई उठेगा, सामने आयेगा, मैं नमस्ते करूँगा। अपनी बात कहूँगा। चल पड़ूँगा। पर यहाँ यह कुछ नहीं। जैसे सब कुछ एक रहस्य के आवरण से ढका है। सामने एक अच्छा-सा चादर बिछा पलंग है। एक बड़ा सा स्टैंड जिसपर खूबसूरत-सा लैंप कवर लगा है, प्रकाश वहीं हो रहा है। खिड़कियाँ बन्द हैं जिनपर लाल परदे पड़े हैं। एक युवती—युवती ही कहूँगा—उस समय उसकी अवस्था मेरे लिए वैसी ही थी—उस पलंग पर कुछ चित, कुछ उलटी-सी लेटी है। उसका एक पैर पलंग पर है। दूसरा पलंग से नीचे लटक रहा है। वह इस तरह क्यों लेटी है। उसका चेहरा कैसा है ? वह उठती क्यों नहीं ? एक साथ बहुत-सी बातें मस्तिष्क में आती हैं। पर मैं अन्दर घुसते हुए कहता हूँ—'नमस्ते।'

जिसका बिना उत्तर दिए ही वह कहती है—'बैठिए।'

मैं ढीठ की तरह खड़ा ही रहता हूँ।—कुछ सकुचाया हुआ कुछ सोचता हुआ, मैं कहता हूँ।—'यहाँ हो रही वोटिंग के सिलसिले में आया था। आप जानती हैं !'

'तब !'—वह उसी तरह पड़ी-पड़ी कहती है।

तब हम लोग चाहते हैं आप हमारे कैंडीडेट को वोट दें। हमारी मदद करें।

कौन हैं वह ? मैं तो जानती भी नहीं !

मैं नाम बताकर वैसे ही खड़े-खड़े सब बक जाता हूँ। क्यों वोट दें। क्या खास बात है उनको वोट देने की। जैसे सब कुछ किसी मूर्ति के

सामने कह रहा हूँ। कह कुछ रहा हूँ दिमाग कहीं और सोच रहा है। मेर कहने का भंडार खत्म हो गया। वह न हाँ कहती है न न। मैं कुछ चुप होकर फिर कहता हूँ।—'आपके यहाँ और भी कई वोट होंगे—कुछ मेल मेम्बर!'

वह जैसे एकदम से उठ बैठती है। उसके हाथ में एक किताब है। वह खड़ी हो जाती है।—'अरे आप बैठे नहीं।'

'ठीक हूँ मैं।'

'बैठिए न! कुछ चाय, काफी।'

'नहीं।' मैं खड़े-खड़े कहता हूँ। सोचता हूँ यह तो कुछ हाँ या न नहीं कह रही। मैं कहता हूँ—'चाय-काफी कुछ नहीं। बस हमारी तो प्रार्थना है कि आप हमारे हाथ मजबूत करेंगी।'

'कल भी तो आये थे आप लोग?'

'नहीं। कल मैं नहीं आया था दूसरे लोग आये थे।'

'आप अकेले आये हैं?'

'नहीं, हमारे साथी बाहर खड़े हैं।'—फिर मैं रुककर अपनी बात दोहराता हूँ—'तो आप के और दूसरे वो...मेरा मतलब है......मेल मेम्बर।'

'नहीं जी, छोड़िये, नहीं के बराबर......। तो आप इस तरह सभी जगह जाते ह।'—वह कहते हुए बैठ जाती है।—'बैठिए न जरा।'

'जी, हाँ। हर जगह जाना होता है। सभी को सुनाना पड़ता है बताना पड़ता है अपने कैंडीडेट के बारे में।'

'मैं आपके लिए जल्दी से चाय बना देती हूँ।'

'नहीं। बस इतना ही बहुत है...।'—मैं कहते-कहते खड़ा होना चाहता हूँ तभी बाहर से जोर की आवाज आती है।—'अमा, भैया, चलो ना हो गयी कनवेंसिग। अभी बहुत जगह चलना है।'

वह खड़े होते-होते पूछती है—'यह क्या?'

'हमारे साथी लोग हैं।'

'शायद बुरा लग रहा होगा उनको। जलन हो रही है उन्हें।'

मैं जोर से हँस पड़ता हूँ।

वह फिर कहती है—'आपने चाय नहीं...। कभी फिर आइए न!'

मैं दोनों हाथ उठाकर वात काटते हुए कहता हूँ—'अच्छा, नमस्ते, वोट हमें दीजिएगा। नाम तो याद रहेगा न आपको?'

वह कुछ बोली नहीं। मैं डर के मारे घूमकर रुक नहीं सका। एक बार वड़ी इच्छा हुई कि घूमकर देख लूँ। शायद जिन्दगी में कभी इस तरह किसी के कमरे में आकर नहीं खड़ा हुआ हूँ। मेरे लिए बात पहेली से कम नहीं थी। वैसे ही नीचा सिर किये चला आया। अजीब्-सा मूड हो गया था। हवा के झोंके में उड़कर सामने गिरे हुए वहुत से पारिजात के फूल मेरे पैर से कुचल गये। मन में अबूझी सुपरिचित अभाव-भावना-सी भर गयी थी।

मेरे हाथ में सायकिल थी और मैं गेट वंदकर बाहर निकल रहा थां। साथी चुहल कर रहे थे। मुझे लग रहा था जैसे एक लम्बा-सा लैम्प मेरे कलेजे में जल रहा है। उससे अधिक जलन मैं उन आँखों में महसूस कर रहा था। क्यों?,

क्यों वह युवती इस तरह से पेश आयी। मैं दुनियादारी नहीं जानता। मैं इसका जवाब नहीं ही खोज पाया।

लांच धीरे-धीरे एलीफेंटा के किनारे आ पहुँची थी। थोड़ी दूर पर सामने खड़ी चढ़ाई थी। सभी लोग उतर गये थे। मेरे सामने वाला टूरिस्टों का वह गोल आगे-आगे चला जा रहा था। लाल स्लेक्स की वह लड़की अभी भी हाथ में मुड़ी हुई अंगरेजी किताब पढ़ती हुई चल रही थी।

थोड़ी दूर चलने पर लगता है जैसे मैं पहाड़ की गोद में पहुँच गया हूँ। यहाँ समुद्र का वह हाहाकार नहीं सुन पड़ता। प्रकृति की गोद कैसी सलोनी होती है। मैं चल रहा हूँ। आस-पास बड़ी देर तक झींगुर बोल रहे हैं। जैसे उस स्वर को बाहर नहीं मन में सुन रहा हूँ। वह स्वर है और कुछ नही। जब स्वर टूट जाता है तब आस-पास आगे-पीछे दूर तक चलने वालों की आवाजें सुनायी पड़ने लगती हैं।

अकेला हूँ पर अकेलेपन की शांति नहीं। वह तो उसी दिन साथ छोड़ गयी जब मन ने कहीं टिकना अस्वीकार कर दिया।

चढ़ाव है पर वहाँ चलैंज नहीं है। अलक्ष्य, निरुद्देश्य अकेला भटकने निकला था। सोचता था मैं किसी से बँधा नहीं। पग-पग पर जो पीछे छोड़ता जा रहा हूँ उस भू-भाग से भी अलग रहूँगा। लेकिन मन की वृत्ति से छुटकारा नहीं। वह अपना काम किये चलता है--बिना विराम के, बिना तुष्टि के।

चढ़ाई खत्म हो गयी है। छोटे-से मैदान में आ खड़ा हुआ हूँ। सब खो गये हैं यहाँ आकर। कहीं दरी बिछी है। कहीं बरतनों की खनखनाहट हो रही है। कहीं जोर से मिली-जुली हँसी उठ रही है। मैं एक ओर से दूसरी ओर बढ़ रहा हूँ। इधर-से-उधर भाग रहा हूँ। हवा बड़ी प्यारी है। क्या सौन्दर्य व्यंग्य-भरी मुस्कान से भी कोई वस्तु अधिक दूर हो सकती है? ऐसी ही एक मुस्कान उस स्लैक्स पहने हुए लड़की ने लांच से उतरते हुए दी थी। अनायास ही वह उतर कर खड़ी हो गयी थी और मेरा पैर बचते-बचते भी उथले पानी में जा पड़ा था। सामने आँखें जो उठीं तो वह खड़ी हँस रही थी।

फिर सब जहाँ-तहाँ हो गये। किसी का कहीं पता नहीं है। मैं जल्दी ही उस गुफा में जा खड़ा हुआ हूँ। एक मुफलिस इंसान उस विशाल त्रिमूर्ति के आगे खड़ा था। विश्वास नहीं होता--यह आदमी की कल्पना है। निर्माण, रक्षा और प्रलय--ब्रह्मा, विष्णु और महेश--सृष्टि के

निमित्त की गयी यह कल्पना और उसे इस चट्टान में पर्वत शिला की छाती पर इतने विशाल आकार में काटकर साकार बना देना--हमारे सामने हमारे पूर्वजों की विशालता का ही यशोगान करती है यह। उस मूर्ति के आगे मैं कई क्षण तक चुप खड़ा हो गया हूँ। मन की त्रयी का एक अंश सर्वदा एकाकी होता है। दूसरा कामना करता है, तीसरा इन दोनों पर शासन कर मेटता चलता है। प्रति पल निर्माण के साथ संसार की लीला अनवरत चल रही है। मैं अपनी हथेली से उस चट्टान को छूता हूँ। लगता है, जैसे मन के भीतर कोई ठंडक स्पर्श कर रही है। जीवन एक अलौकिक अखण्ड इकाई है। उसमें ईश्वरी और लौकिक का स्तर लटा नहीं होता। सुख इंद्रियों का भी होता है, मन का भी होता है आत्मा का भी। क्या इनको--ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उस गई से अलग किया जा सकता है ? मैं बड़ी देर तक मन के व्योम में मँडराता रहा। थोड़ी देर बाद पैर आगे बढ़े।

बगल में ही मूर्ति है अर्ध-नारीश्वर की। एक ही मूर्ति है आधा अंग पुरुष और आधा अंग नारी का है। बड़ा स्पष्ट-सा चित्र है--साफ, सुथरा, बड़ा ही खूबसूरत। सामने खड़े होकर देखने में बहुत ही मनोरम लगता है। लोग आगे से खड़े होकर एक नजर डालते हुए चले जाते हैं। जो तनिक समझ की आँखों से देखने लगते हैं, तो सब कुछ उलट जाता है। जरा-सा आँखें गड़ाकर पढ़ने की चेष्टा की और उलझन शुरू हुई। न जाने किस मन में यह नारी-पुरुष के इस योग की कल्पना को मूर्ति में समन्वित करने की बात आयी होगी। जीवन के उलझाव को इस तरह सुलझे ढंग से सामने रखने की चेष्टा पर ही मन भाग रहा था। बिना उलझे जीवन क्या ? जो उलझ न सका वह सुलझने की पीड़ा का मर्म जानने योग्य नहीं। जीवन जब जीवनी बन जाता है, तो पाप के चित्र भी पुण्य की मूर्तियों का रूप ले लेते हैं। दुर्नीति में ही महानतम का जन्म हुआ है। इतिहास का कौन-सा पात्र है जिसे अश्लीलता से अलग रखा जा सकता है। प्रातः स्मरणीय पंच कन्याओं की बात तो दूर, वीणा-

वादिनी सरस्वती जिन्हें कला की अधिष्ठात्री देवी मानकर प्रातः स्मरण किया जाता है वे भी अछूती नहीं। वेदव्यास का जन्म एक ऐसी धीवर-कन्याके गर्भ से हुआ था जिसका शरीर मछली की दुर्गन्ध से युक्त था। सुन्दर और मधुर में अश्लील अपनी आहुति पहले ही दे चुकता है। बिना मिटे हुए नये का निर्माण नहीं होता और इस नये की ही कल्पना ने यह जीवन का आदि रूप प्रस्तुत किया था। पुरुष और प्रकृति का मिलनरूप सृष्टि की आदि सत्ता !

मैं वहीं उलझा खड़ा हूँ। बहुत-से लोग आये और चले गये हैं। किसी के मन को जिज्ञासा ने थोड़ा-सा कुरेद दिया पर वह अपना नग्न रूप जानना नहीं चाहता। वह उसके लिए तैयार नहीं है। बिना समझे ही कुछ खाते कुछ चबाते लोग चले जा रहे हैं। आधुनिकता का दम भरने वाले वह यह जानना नहीं चाहते। मैं देख रहा हूँ लाल स्लैक्स पहने हुए वह लड़की भी बड़ी देर से आयी खड़ी है। त्रिमूर्ति के सामने खड़ी वह देख रही है। मैंने उसका आना भाँप लिया है। वह मेरे पीछे इस अर्ध-नारीश्वर की मूर्त्ति के सामने रुकी थी। फिर जैसे उसके साहस ने साथ नहीं दिया। वह ठिठक कर बढ़ गयी। फिर हर बार वहाँ खड़े-खड़े वह इस ओर देख रही है जैसे वह इस मूर्त्ति को फिर देखना चाहती है। मैं जरा पीछे हटकर बाहर चला जाता हूँ। लेकिन आहट लिये हुए हूँ। वह लड़की अपने हाथ की किताब पीछे किए है। पीछे की ओर पहले हाथ की कलाई को दूसरा हाथ पकड़े हुए है।

मुझे उसका इस तरह खड़े होना अच्छा लग रहा है। मैं मूर्त्ति में बने उस मुकुट, उस नासिका, उन अधरों को देख रहा हूँ। पुरुष भाग में चेतनता है, पौरुष है, नारी भाग में कोमलता है चपलता है। एक ओर सपाट छाती है, जिससे वीरता झलकती है दूसरी ओर कोमल स्तन है। दूसरे अंग का सारा व्यवधान ही अलग है। सृष्टि के लिए विरोध आवश्यक है जड़ के साथ चेतन होने से ही सृष्टि है।

काफी देर हो गयी इस तरह खड़े-खड़े। जिज्ञासा का नेह धीरे-धीरे मैला पड़ रहा है। मैं वही खड़ा सोच रहा हूँ कि यह कौन नहीं जानता कि इडेन के गार्डेन में आदम और हव्वा हमेशा उन्मुक्त भाव से रहते थे। कहीं कोई पाप नहीं था पुण्य नहीं था। द्वंद्व नहीं था। करना पाप नहीं है, जानना पाप है। जब जानना चाहा तभी पाप का उदय हुआ।

लगता है जैसे कहीं असुर और देवता समुद्र मंथन कर रहे हैं। मन के खाली-खाली प्यालों में दो-चार बूँदें टपकी हैं। मैं उन बूँदों को निहारता अपने ही में आँक रहा हूँ। खुश हो रहा हूँ। क्योंकि मेरे साथ वह लाल स्लेक्स और कजरारी आँखोंवाली लड़की है। शाम घिर रही है और जहाँ-तहाँ इंगूरी रंग के फैले बादल जीवन की अनन्ता का वोध करा रहे हैं। इन लाल रेशमी बादलों के वीच न-जाने क्यों मन में एक अदम्य इच्छा जाग उठी है—काश इनमें कहीं एक तारा दिखाई पड़ जाता--खूब चमचमाता इंगूरी बादलों के बीच रुपहला तारा तो मन विभोर हो उठता। पाप धुल जाता।

कैसी मन-भावनी हो उठती यह साँझ।

यह मनहूसता नहीं है कि जब हम कुछ न सुनने के मूड में हों तो कोई अपनी कहानी जवरन सुनाने लगे। कभी-कभी मन का यह व्यवसाय बड़ा ही खराब लगता है। दूसरा अगर कुछ कहने की जुर्रत करता है, तो उसे खड़े-खड़े डाँट देना आसान है। बिनती की जुर्रत करता है तो उसे चुप कराया जा सकता है। लेकिन मन जब अपने-आप को सुनाने पर उतारू हो जाता है तो वह किसी की वात नहीं मानता। कुछ ऐसी ही दशा मन ने बना दी थी। उस दिन की खुशी, वह एलिफेंटा की गुफा की बातें, वह लांच पर समुद्र में घूमना--सब कुछ रहस्यमय वन गया था मेरे लिए।

मन कह रहा था आकाश स्वच्छ है। शीत भी उग्र नहीं। मार्ग—वह वैसा ही वक्र, पथरीला, सँकरा। सामने की चोटी आकाश से बातें

कर रही है। जरा नीचे देखो कि पाताल मुँह बाए खड़ा है। बड़ा ही मनोरम स्थान है। केवल अनुभव किया जा सकता है।

मैं अनुभव कर रहा हूँ। ये दो पहाड़ हैं। बाहर खड़े होकर इनको देखने से अच्छा लगता है। दोनों पहाड़ एक ही किनारे से उठकर दोनों ओर फैल गये हैं। बीच में एक छोटा-सा पानी का सोता है। यह सोता एक गुफा से आ रहा है।

गुफा इन दोनों पहाड़ों की तलहटी में स्थित है, दोनों पहाड़ों की सन्धि पर। आगे बढ़कर इस गुफा के द्वार तक जहाँ सोते का मुहाना है, बढ़ जाता हूँ। गुफा कोई एक तीन फुट से अधिक चौड़ी नहीं है। थोड़ा झुककर अन्दर जाइए। सुनानेवाले ने सब कुछ विस्तार से बता रखा था।

मन ने जो कुछ सुना था सब याद कर रखा था। वैसी ही गुफा थी। गुफा के अन्दर घुसते ही तनिक दूर पर प्रकाश था। पैर पानी में थे। जूते मेरे हाथ में। खाने का डिब्बा और तौलिया पीठ पर। सोते का पानी खूब ठंडा था।

थोड़ा झुक कर मैं गुफा के और अन्दर घुसा। सामने से दूसरी ओर का प्रकाश आ रहा था। धीरे से गुफा खत्म हो गयी थी। भीतर अच्छी छोटी-सी मनोरम घाटी थी। घाटी के बीचोबीच पानी की एक पतली रेखा खिंची थी। उथला पानी खूब साफ था। जरा दूर पर आदमी जितनी ऊँचाई से पानी की एक पतली धारा नीचे गिर रही थी।

गुफा के दूसरे द्वार पर निकल कर मैंने पीठ सीधी की। सब कुछ एक झलक में ही आँखों के सामने खिच गया। दोनों ओर के ऊँचे पहाड़ सीधे खड़े थे। एक ओर गुफा में हल्की-हल्की धूप थी।

मैं तौलिया धूप में डालकर बैग की तकिया लगा लेट गया। ऊपर आसमान साफ था। पहाड़ पर कहीं-कहीं ऊँचे शाल के वृक्ष थे। कभी-

कभी रह-रहकर भुजइल पक्षी का स्वर सुनाई पड़ रहा था—ठाकुर जी ! ठाकुर जी !

थोड़ी देर में कुहू-कुहू की आवाज सुन मन में खिचन बसने लगी। मैंने करवट ले आँखें मूँद लीं। आवाज अभी भी कानों पर पड़ रही थी।

याद नहीं कितनी देर तक पड़ा रहा। लगता था काफी दूर से चल कर आया हूँ। पैर थक गए हैं। थोड़ी देर में, जिसका अपने मन को कोई अन्दाज नहीं, कुछ बच्चों के स्वर सुनायी पड़े, तो थोड़ा सिर ऊँचा कर पैरों की ओर देखा।

आश्चर्य हुआ ! यहाँ पानी तो बहुत थोड़ा है। यहाँ भी लोग आ सकते हैं। पर क्यों ? इस जगह का अन्दाज़ परदेशी क़ो न हो। पर गाँव वालों को जरूर होगा।

एक छोटी-सी लड़की मेरे पास से गुजरते हुए थोड़ा ठिठक कर फिर मेरे मुँह के सामने आकर रुक गयी। मेरी आँखें खुली थीं और वह टुकुर-टुकुर ताक रही थी।

मैं वैसे ही लेटा रहा। सोचता रहा यह गढ़वाली लड़की है। बचपना हमेशा अबोध और सरल होता है। मासूम लड़की वैसे ही खड़ी अचरज से देख रही थी। जी में आया कि इस लड़की को चिढ़ाऊँ। बच्चों को मुँह बिचकाकर चिढ़ाना मुझे बड़ा पसन्द आता है। मजा तो तब आता है जब वह भी प्रत्युत्तर देते हैं—वैसी ही शोख मुद्रा बनाकर मुँह चिढ़ाते हैं। डर रहा था कहीं यह पहाड़ी बालिका रूठ न जाय। अतः उस तरह की शहरी हरकत को मैं दबा गया। अचानक जेब में हाथ गया और न जाने कब खरीदी रेशमी मिठाइयाँ हाथ में आ गयीं।

हाथ सामने फैला था। उनके कागज खोलकर मैंने फेंक दिए थे। एक उठाकर मैंने खुद खा ली थी, दो मीटी टिकिया हथेली पर चमक रही थीं—लाल और पीली।

बिना कुछ कहे ही लड़की राई-राई जमीन आगे बढ़ रही थी। मैं पलक झपाकर इशारे से उससे कहता जा रहा था--'कोई डर नहीं, आगे बढ़ो और ले लो। ये तुम्हारे लिए हैं।'

लड़की हिल रही थी। धीरे-धीरे मिठाई के प्रति उसकी भूख बढ़ती जा रही थी। चंचलता जैसे सहम रही थी। मैंने मौका देने के लिए आँख मूद लीं। एक पल, दो पल फिर एकाएक न-जाने कैसे चील झपट्टे के वेग से वह लपकी और दूसरे ही क्षण मेरे हाथ की मिठाई गायब। वह अपने इस कमाल पर खुश थी। मेरी आँखें खुली थीं और वह एक बार हँसी और दौड़कर भाग गयी।

जहाँ पानी झरने के रूप में सफेद रस्सी की तरह गिर रहा था वहाँ शायद कुण्ड था और बच्चे तथा उनके साथ आयी हुई युवती उसी कुण्ड में नहा रहे थे। थोड़ी देर में युवती ने अपने सारे गीले कपड़े उतार कर धूप में फैला दिये। बच्चों को नहलाकर उसने अलग कर दिया था। बिना कपड़ों के उसे देखकर मैंने ही मुँह फेर लिया।

थोड़ी देर वैसे ही पड़ा रहा। वह युवती वैसे ही नहाती रही। नहाने का यह रिवाज कहीं हो या न हो लेकिन जिस सरलता से वह नहा रही थी उससे यही लगता था कि शायद इनके यहाँ पाप के जानने के प्रति जिज्ञासा अभी जन्मी ही नहीं है। वह धूप में खुले बाल झटकार रही थी। शरीर पर कुछ नहीं था। बच्चे खेल रहे थे। मैं वैसे ही तौलिया बिछाए पड़ा रहा। कब तक कौन जाने।

वह युवती उसी अवस्था में मेरे सामने आ गयी थी। बहुत पास आ गयी थी। मुझसे अब सहा नहीं जा रहा था। मैं उठकर भागना चाहता था लेकिन जैसे वह छोटी-सी घाटी योजन भर की हो गयी थी। मेरे पैर बहुत भारी थे। वह नग्न औरत बेतहाशा मेरा पीछा कर रही थी। मैं सीधे भाग रहा था। मेरे पैर रह रहकर उस सोते के पानी में छपाक-छपाक पड़ जाते थे और मैं भागते-भागते गिर पड़ता था। फिर उठता.

था और भागता था। किस कठिनाई से मैं गुफा के उस द्वार तक पहुँच पाया यह स्मरण नहीं। लेकिन जब मैं भागकर उसके बाहर दूसरी ओर निकलना चाहता था तो मेरा हाथ पहाड़ पर नहीं, गुफा की दीवार पर नहीं, पत्थर की एक शिला पर था जो बहुत चिकनी थी। यह शिला नहीं किसी विशालकाय नारी मूर्ति की जंघा थी जहाँ से मैं बरबस निकलने की चेष्टा में उछल-कूद रहा था और मेरा हाथ फिसल-फिसल जाता था। मैं हताश हो उठा था। बराबर प्रयत्न कर रहा था। तनिक देर मेरी दशा उस तरह के कुत्ते के जोड़े की तरह बनकर रह गयी जो सम्भोग के बाद उलट जाते हैं। मैं चीख रहा था वह पत्थर की नहीं जीवित युवती की देह थी जो अभी पानी में नग्न नहा रही थी।

नहीं, वह उस लड़की का शरीर था जो लांच में बैठकर एलीफेंटा गयी थी। नहीं वह लीना थी। जब तक मैं उसकी कलाई को कसकर पकड़कर अपने को मुक्त कराने की चेष्टा करूँ-करूँ कि उन कलाइयों की चूड़ियाँ मेरे हाथों में दबने लगी थीं और मेरे नीचे दबी-दबी बन्नो छटपटा रही थी। घाटी में उठती हुई बच्चों की रोने की आवाज बराबर आ रही थी। जो कहीं बन्द चिल्ला रहे थे।

मैं मुक्ति पाने की पूरी चेष्टा कर रहा था, हाथ-पैर पटक रहा था, लेकिन छूट नहीं पा रहा था।

मेरे कन्धे को हिलाकर बाबू ने मुझे जगा दिया था। मैं पसीना-पसीना हो उठा था। बाबू इस होटल का नौकर है। वह कह रहा था—'बहुत परेशान थे आप। मैं बहुत देर से जगा रहा हूँ आप को।'

मैं उठकर उसी तरह चुप बैठ गया था। मेरी कमीज पसीने से भींग गयी थी। आँखों के आगे से उस घाटी का दृश्य नहीं उतर रहा था, वह सब क्या था? क्यों था? मेरा मन जबरन मुझे अपनी कहानी सुना रहा था।

देहरादून के पास कहीं सात-आठ मील पर राबर्टस केव है। वहाँ का दृश्य इस तरह क्यों मेरे सपने में आया? मैं वहाँ गया नहीं हूँ।

कभी किसी ने सुनाया था उस घाटी के बारे में। उन लड़कियों के बारे में जिसे वह लैमनड्राप बाँटा करता था। उन युवतियों के बारे में जो नग्न नहाने आती थीं। पर इन बातों को सुने बहुत दिन हो गये थे। आज सब कुछ इस तरह घटित हुआ था जैसे आपबीती हो। मैं कहीं परेशान नहीं होता हूँ--मुझे मेरा मन परेशान करता है। मुझे आज फिर ऐसा लग रहा है कि मैं बीमार हो उठा हूँ, बहुत ही अस्वस्थ। उस पुरानी बीमारी ने मुझे फिर घर दबाया है।

बाबू बार-बार पूछ रहा है--'चाय लाऊँ हुजूर!'

मैं चुप उसी तरह बैठा हूँ।

वह फिर पूछता है—'आप सपना देख रहे थे। कोई बहुत बुरा सपना था क्या?'

मैं फिर नहीं बोल पाता हूँ। ऐसा लगता है जैसे चीखते-चीखते गले में आवाज बैठ गयी है। गला बँध गया है। मैं गूँगा हो गया हूँ। अब बोल नहीं सकूँगा।

थोड़ी देर बाद खुद ही मन सोचता है--'अजीब बेवकूफी है। तुमने सपना देखा है। सपने झूठे होते हैं।'

तब तक बाबू चाय लाकर रख देता है। वह चला जाता है। वह जानता है सेठ को बार-बार छेड़ना अच्छा नहीं।

थोड़ी देर में वह फिर आता है। चाय वैसे ही रखी है। वह बड़े स्नेह से कहता है—'चाय रखी है, साहब! ठंढी हो जायगी।'

मशीन की तरह मेरा हाथ प्याले की तरफ बढ़ता है। चाय का एक गरम घूँट गले के नीचे उतर जाता है। मन का उत्ताप धीरे-धीरे गल जायगा। ठंडा पड़ जायगा, शान्त हो जायगा।

सामने एक अखबार पड़ा है। नीचे की छोटी हेडिंग सामने चमक रही है--कुम्भ में दस लाख आदमी हताहत।

एक झटके से अखबार उठाकर पढ़ता हूँ आँखें सारा मैटर पढ़ जाती हैं। पर मतलब गोल। जैसे समझ में कुछ नहीं आया। मैं फिर पढ़ता हूँ। विश्वास ही नहीं होता। धरती और आकाश के बीच बहुत-सी अनहोनी सम्भव है पर जैसे इस दुर्घटना पर विश्वास ही नहीं जमता। आठ बजे तक घटना होने के कोई अंदेशे कहीं नहीं और एकाएक भीड़ में दब कर इतने आदमी मर गए।

मैं उस भीड़ के उस नदी के बहुत निकट हूँ। इन मौतों को, इनसे होने वाले नुकसान को जैसे मैं आँख मूँदकर स्पष्ट कर रहा हूँ। यह कुछ ऐसा है जो नहीं होना चाहिए था। मेरे सामने वह त्रिवेणी का क्षेत्र है। वह कुटिया है। वह कल्पवास करनेवाले लोग हैं। नागाओं और महंतों के मठ हैं, अखाड़े हैं। सरकार की पुलिस है। इन्तजाम है। जैसे मैं इतनी दूर रहते हुए भी उस भूमि पर खड़ा देख रहा हूँ, आँखें मूँदकर हर ईकाई एक-एक जगह।

चाय पीना जहाँ-का-तहाँ रह जाता है। मैं अखबार को लेकर उसी तरह बैठा घूम रहा हूँ।

बाबू फिर आता है। ठिठक कर खड़ा हो मेरी मुद्रा देख रहा है। इस बार कुछ कह पाने की उसकी हिम्मत पस्त हो गयी है।

वह वैसे ही आधा दरवाजे के भीतर है आधा बाहर। मुझे कसकर रुलाई आने वाली है। पर अपने संस्कार हैं कि मैं रोना चाहते हुए भी नहीं रो पाता। फिर भी आँखें भर आती हैं।

बाबू मन-ही-मन, आँखों-ही-आँखों में पूछता है–'क्या हुआ सरकार!'–

'बाबू!'—मैं उसे पुकारता हूँ—'तुम्हारी गंगा मैया बड़ी पुण्यात्मा हैं न?'

वह सिर हिला कर कहता है।—'हाँ, हुजूर। हमहूँ एक बार अपने बाप का पिंडा को गिया रहे। तब कलिकत्ता में रहे सरकार।'—कहते

हुए वह दोनों हाथ उठाकर सिर झुकाकर प्रणाम की मुद्रा बना कर कहता है—'गंगा मैया। पुण्य की देवी हैं हुजूर।'

'हाँ, वहीं पर दस लाख आदमी मर गये।'

'दस लाख!'—उसका मुँह खुला-का-खुला रह जाता है।

'अखबार में छपा है। कुम्भ की भीड़ में लोग दब के मर गये।'

वह अचरज से देख रहा है। मैं हताश हो देख रहा हूँ। बाबू अपने ही उधर का ही है। होटलों में जूठे बरतन धोकर जिन्दगी जी रहा है।

वह जानना चाहता है। जो कुछ अखबार में लिखा है, मैं उसे पढ़-कर सुना रहा हूँ। बातें करते हुए मेरा गला सूखने लगा है। वह झट उठ कर पानी उड़ेल लाता है—'यह पानी पी लो।'

मैं उसकी सेवा से दब गया हूँ। इतने में ही फिर बाहर से घंटी बजी है। वह मालिक के पास चला गया है। वह हमेशा मेरा ख्याल रखता है।

कई दिनों से इस होटल में टिका हूँ। इस बाबू को मेरे पास भेजते हुए मालिक ने मुझसे कहा था—'जरा सावधान रहिएगा। आदमी तनिक हाथ लपकाऊ है और साथ में बातूनी भी।'

उस समय मैं केवल हँस कर रह गया था। लेकिन देखा मैंने वह खूब घुलकर बातें करता है। जी तोड़ मेहनता करता है। एक दिन बिना पूछे मुझसे नहीं रहा गया। पूछ ही बैठा कि क्या रहस्य है?

मेरे एकाएक पूछने पर वह जैसे चौंक उठा। फिर खाली-खाली निगाहों से देखता रहा। थोड़ी देर बाद बात फूटी—'चोरी कौन करना चाहता है। मैं अपने पेट से ज्यादा कुछ थोड़ी माँगता हूँ। जिन्दगी में उतना तो मिलना ही चाहिए। पर यह तो जानते ही हैं आप कि बद अच्छा बदनाम बुरा। क्या किसी को एक गलती की सजा हमेशा मिलनी चाहिए।'—इतना कह वह फिर इस तरह देख रहा था जैसे कोई अज्ञानी

बालक अपना कसूर न समझ पाने पर उस व्यक्ति की ओर देखता रहता है जो बराबर डाँट लगा रहा हो।

मैंने उसी तरह खड़े-खड़े उसकी पीठ थपथपायी। वह बोला--'मैं खुद ही ग्राहकों के साथ कम बात करता हूँ। लेकिन मालिक ने देखा कि मैं आप के साथ ज्यादा घुल-मिल गया हूँ इसलिए उन्होंने आगाह कर दिया। इसका मैं बुरा नहीं मानता।'

कैसी बात कह दी है इसने। बिना टोके ही वह सब कुछ कह देना चाहता था। वह अपनी बातें अपने ही आप समझा रहा था। फिर कहते कहते खुद ही चुप हो बोला--'बहुत बातें कर लीं। कुछ गलती हो तो माफ करना।' और आँख डबडबा कर वह चला गया।

फिर अगले दो दिन तक केवल हमने अपने काम से ही काम रखा। वह भी मुँह बाँधे आते और हर बात का उत्तर, जी सरकार, हाँ सेठ, अच्छा हुजूर में ही देकर चला जाता था। एक दिन मैंने ही उसका मौन व्रत तोड़ा। बातें फिर उसी अबाध गति से चल पड़ीं।

बाबू उठकर चला गया था। मेरे सामने अखबार था। गंगा नदी के किनारे हुई घटना मन को मथ रही थी। मैं चुप बैठा था। सोच रहा था और क्या काम था मेरे लिए। सोच रहा था--यह जगह पुरानी हो गयी, यह नगर पुराना हो गया।

कहीं और चलना चाहिए जहाँ सब नया-नया हो।

—:o:—

निर्मल

मैं नहीं कह सकता कि यहाँ की घटना तुमने पढ़ी और पढ़ने के बाद तुम्हारे मन पर कैसी बीती ? हाँ इतना जरूर कह सकता हूँ कि मैं धरती के किसी कोने में होता और इस तरह की बातें मेरे कानों में पड़तीं तो एक बार जरूर मैं चलायमान हो जाता । एक बार जरूर मेरे दिल में यह आ जाता कि चल पड़ो । कह नहीं सकता शायद तुम भी चले आओ ।

मैं तुम्हारे स्वभाव से कुछ तो परिचित हूँ । जानता हूँ तुम नहीं आओगे । शायद की शंका यों ही उठ पड़ी थी मेरे मन में और मैं सोच गया था कि यह आदमी का ही स्वभाव है कि वह बदल सकता है । शायद तुममें भी परिवर्तन आया हो । और मैं उस परिवर्तन की कल्पना करने लगता हूँ ।

कुम्भ बारह वर्ष बाद पड़ता है । वास एक बार आता है और सब कुछ जैसे एक युग के लिए चला जाता है । पिछला कुम्भ कब पड़ा था हमें याद नहीं । यह भी याद नहीं कि उस समय कौन-कौन-सी सद्घटना या दुर्घटना घटी थी । इतना ही याद पड़ता है कि उस जमाने में सरकार ने जो कि विदेशी थी और हमारे धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती थी, उसने भी रोक लगा दी थी । वह इसका इंतजाम सँभालने में असमर्थ थी । आदमी भी डरे हुए थे । लेकिन इस वर्ष का कुम्भ स्वतंत्र भारत में पहली बार पड़ रहा था । सभी के लिए नया-नया अनुभव था । खूब जोर-शोर से तैयारियाँ हुई थीं ।

प्रयागराज और दिसम्बर जनवरी का मौसम । खूब बादल जो यह ठानकर खड़े थे कि हम सूर्य को निकलने नहीं देंगे । सात घोड़ों के रथों पर भागता हुआ अभिताभ भी रास्ता भूल गया था । पानी के साथ ओले भी पड़े थे । अच्छी दाँत कटकटाती सर्दी थी । गंगा के मैदान की धरती

की चिकनी मिट्टी। तनिक से पानी से ही फिसलहट और दलदल बन जाती है।

गंगा का खुला पाट है। खूब दूर तक समुद्र की तरह रंग दिखाती हुई त्रिवेणी वर्षा में सारा पाट जलमग्न किये रहती हैं; पर जाड़ा आते-आते यमुना तल घटता है पाट वैसा-का-वैसा रह जाता है। गंगा उथली हो बहती हैं और अपने सम्पूर्ण पाट में निकलती हैं। कब किस छोर पर रहेंगी कोई नहीं जानता। सूखे हुए पाट पर मेला आयोजित था।

सारे पर्व बीत गये। सब कुछ निश्चित नियोजित-सा होता जा रहा है। धीरे-धीरे अमावस्या आ पहुँची। कुम्भ का विराट पर्व! रात से ही स्नान शुरू हो जाता है। सारे भारत से लोग उमड़े पड़ रहे हैं।

'चलो प्रयाग।'—यही नारा है।

बाजार चढ़ रहा है। सड़क, गली, कूँचे में सभी जगह परदेशी आदमी का ही आश्रम दीख रहा है। ठसा-ठस भीड़ है। भीड़ का कोहराम है।

त्रिवेणी क्षेत्र में भी हर चीज़ का दाम चढ़ गया है। साधारण दिनों में किनारे से संगम जाने का जिस नाव का किराया एक या डेढ़ रुपया होता था उसका पाँच-पाँच सौ रुपया हो गया है। लोगों ने पैसे पेशगी देकर नाव किराये पर ले रखी है। खूब इन्तजाम है। रात को भी दिन का अन्देशा होने लगता है। चारों तरफ रोशनी-ही-रोशनी है। बाँध पर खड़े होकर नीचे की ओर देखो। सभी तरफ जगमगाती दीवाली-सी लग रही है। एक नया शहर बस गया है। बीच में एक ओर से आ रही हैं भागीरथी माँ गंगा, दूसरी ओर से आ रही हैं यमुना। दोनों एक-दूसरे के गलबहियाँ डाले आगे बढ़ जाती हैं।

कहीं-कहीं बीच में पानी की तलैया बन गयी है। कहीं जमीन थलथल है।

चौड़े-चौड़े रास्ते बनवाये गए हैं। रास्ते पर कोयले की चूर बिछायी गयी है। दोनों ओर ईंटें लगायीं गयी हैं। तीन महीने पहले से यह जगह मिलेट्री के अधिकार में थी। वह गंगा के वहाव को रोकने के लिए जगह-जगह कगार को काटने से बचाने के लिए काम कर रहे थे।

मैं बीच-बीच में कई बार कई साँझों को यहाँ आकर खड़ा रहता था। प्रकृति से लड़ने की मानव की वह आदिम इच्छा आज इस विज्ञान के युग में और भी बलवती हो उठी है। बड़े-बड़े बुलडोजर्स नदी के किनारे को बना रहे हैं। एक ही घुमाव में मनोरेत आगे-पीछे हो जाती है। दिन भर काम चलता है। मिलेट्री के जवान दिन भर खून-पसीना एक कर एक-एक इंच भूमि तैयार करते हैं और रात को पानी का एक चढ़ाव आता है। सुबह सारा परिश्रम मिट्टी में मिला दिखायी पड़ता है।

पानी के बीच-बीच में बल्लियाँ गाड़ी गयी हैं। जिससे धारा कुछ कमजोर पड़ जाये। कुछ तो ऐसी भूमि बन जाय कि लोग वहाँ खड़े होकर नहा सकें। इतने लाख आदमी किस जगह अँट पायेंगे—कैसे नहायेंगे। बड़े-बड़े इंजीनियर सिर खपा रहे हैं पर उस वेगवती गंगा की धारा को कैसे समझ सकते हैं। खूब तेज धारा है। अभी आप यहाँ पानी का वहाव देख रहे हैं थोड़ी देर में वहीं वालू इकट्ठी होने लगती है और किसी दूसरी जगह करेंट बढ़ जाता है—बहाव आ जाता है। यहीं समझ में आता है कि कहीं-न-कहीं ऐसा कुछ जरूर है जो मनुष्य की ताकत के वाहर है। काश तुम यह सब अपनी आँखों से देखते तब समझ पाते कि यह बुलडोजर्स, यह भीमकाय मशीन तथा मनुष्य की वह तर्क और विज्ञानमय बुद्धि उस तनिक से पानी से लड़ते-लड़ते किस तरह हार जाती है।

मेले का दिन निकट आता जा रहा है। कुछ महीने पहले नक्शा बना कर सरकार ने जमीन नीलाम की थी, उसका रुपया लिया था कि लोग

इस पर अपनी कुटिया बनायेंगे अपनी दूकान खोलेंगे। घाट बिछायेंगे।

वह ज़मीन, पानी में चली गयी। जमीन है ही नहीं। सरकार उन लोगों को हरजाने कहाँ से देगी। यह सब कुछ ऐसी परिस्थिति की ओर इशारा करता है जहाँ कि आदमी की ताकत सीमित रह जाती है। धीरे-धीरे मिलेट्री ने अपने काम के घंटे बढ़ा दिये हैं। समय घटता जा रहा है। इतनी मेहनत के बाद भी काम पूरा होता नहीं दिखायी पड़ता। धीरे से एक दिन काम चौबीसों घंटे होने लगा।

पर कल जो कुछ हुआ वह अनोखा था। इतना अनोखा जिसके सम्बन्ध में तुम सोच भी न सकोगे। वह सब जो कुछ समाचारपत्रवाले नहीं छाप सकते। इतना वीभत्स, इतना दयनीय, इतना करुण। वहाँ खड़े होकर यह सहज ही में समझ सकोगे कि विश्व केवल निर्जीव घटनाओं के समूह का नाम नहीं है। यह जो कुछ घटा है केवल मशीन की तरह होता नहीं चला गया। दूसरों का अनुभव किस तरह हमें चलायमान कर देता है। किस तरह हम उसे बिना सक्रिय हुए नहीं रह सकते, तुम देखते मानव-मन किस तरह अनजाने में भी दुर्घटनाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।

सुबह ही से मैं निकल पड़ा था। घूमने की ललक समायी थी। देखना चाहता था उन सारे परदेसियों को जो इस जाड़े-पाले में सिकुड़ते-काँपते उस माँ गंगा की, उस भागीरथी, त्रिवेणी की धारा में, उस पुण्य संगम में एक डुबकी लगाने की लालसा से बढ़ते चले जा रहे थे। जगह-जगह पुलिस और फौजी जवानों ने मचान बना रखा था। कल शाम को ही मैंने इन कई मचानों पर से खड़े होकर देखा था। जहाँ तक निगाह जाती थी केवल फूस की कुटिया, किरमिच के टेंट की चौहद्दी या झिल-मिलाती प्रकाश की रेखायें ही दिख रही थीं। सारी-की-सारी जगह आदमियों से भरी थी। सोचो, भारत का कोई भी ऐसा ग्राम नहीं बचा होगा जहाँ से एक-न-एक इकाई इस पुण्य लाभ में हिस्सा बटाने न आयी

होगी। तुम दोहराया करते थे राजू इस देश में जहाँ कि इतने आस्तिक हुए हैं, जहाँ की ईश्वर पूजा की परम्परा में देव-मूर्तियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते छत्तीस करोड़ तक पहुँच गयी है, वहाँ इस के घोर विरोधी भी पैदा हुए, जिन्होंने इस धर्म और ईश्वर के विरोध में उन जमानों में बातें कहीं जब का प्राणी उन बातों की कल्पना का भी शायद अभ्यस्त न रहा होगा। चार्वाक ने तो धर्म की जड़ें हिलाकर रख दी थीं। उसका यह कहना कि जिस धर्म में केवल नहाने से पुण्य मिलता है वह धर्म धर्म नहीं रह गया है और उसे धरती पर रहने का कोई अधिकार नहीं है।

सुबह-सुबह झुटपुटे में इस भीड़ को इसकी हर इकाई की आस्था को देखकर तुम्हारी वह बात एकाएक याद आ गयी। लगा तुम्हारे कहने में बला की ताकत थी। वह ताकत मैं आज अनुभव कर रहा हूँ। जरूर ऐसी ही किसी स्नान की भीड़ में खड़े होकर चार्वाक ने यह सब देखा होगा और उसे हमारे धर्म के अंतिम चरण दिखायी पड़े होंगे। हम स्वतंत्र हो गये, पर कहीं से भी तो हम नहीं बदले। पुलिस आज भी लाउडस्पीकर पर भीड़ को चलते रहने का आदेश दे रही है। कह रही है--चलते-फिरते नजर आइये। अपने जेब पाकेट से होशियार रहिए...।

मैं पुलिस द्वारा किये गये इस एनाउन्समेंट को सुनकर स्तब्ध रह गया हूँ। बीच-बीच में कहीं पर लाल पगड़ी और डंडे दिखायी पड़ रहे हैं। यह बराबर भीड़ को भेड़ों की तरह हाँक रहे हैं। आदमी का एक दरिया है जिसका क्रम नहीं टूटता, अनवरत बहता जा रहा है। बाँध पर एक ओर एक गड़ी हुई बल्ली से चिपका मैं खड़ा हूँ। खूब आदमी हैं। एक-से-एक के कंधे और पीठ चिपक गये हैं। अनायास ही यहाँ इस ठसा-ठसी में खड़े होकर जीवन और जगत के सम्बन्ध में विचरण करने में जो लुत्फ आता है शायद वह किसी एकांत में बैठकर मनन करने में न आयेगा। सोचता हूँ कौन हूँ मैं इस भीड़ का, इस विश्व का !

मन जहाँ है अगर उसे शरीर मान लो तो वह एक अत्यन्त सीमित तंग दायरे में खड़ा है--केवल स्वांतः सुखाय अपने में लीन, अपने में

जीवित। ऐसा कसा-कसा प्राणी चिंतन में डूब नहीं सकता। मैं हूँ पर संदेह, क्यों हूँ पर संशय ही लद पड़ता है जो अवश्य ही हमें ढकेल कर नास्तिकता की ओर ले जाता है। गलत मत सोचना। इस तरह की नास्तिकता के भाव दर्शन और मीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। यह तो केवल मन की अवस्थाएँ हैं। मुझे अच्छा लग रहा है और यहाँ खड़ा हूँ—गुमटा सिकुड़ा। अपने शरीर को हर धक्के और चोट से बचाता हुआ। पर इस तरह का बचना इस तरह का स्वांतः सुखाय जीना अधिक देर नहीं चल सकता।

आकाश अभी भी पीले बादलों से घिरा है। ये वर्षा के मेघ नहीं हैं, जाड़े के पत्थर बरसानेवाले बादल हैं। इनसे गिरी बूँदों में अच्छी चोट करने की शक्ति होती है। चारों ओर फैले पीलिया प्रकाश की ओर कोई नाम नहीं दे पा रहा हूँ। कहते हैं कि सब ग्रह आकाश में इकट्ठे हैं। सूर्य क्षीण अवस्था में हैं। धीरे-धीरे सज-बज रहा है। अभी भी धुंध नहीं छटी, कोहरा अभी भी लदा है।

थोड़ी देर और सब कुछ वैसा ही है। शहर की ओर से बराबर आदमी नीचे मैदान में त्रिवेणी की उस तपोभूमि में भरते जा रहे हैं। मन के दृश्य पटल पर अतीत के अनेक चित्र उभर-उभर कर विलीन हो रहे हैं। मैं सभी कुछ से कहा हुआ अपने आप में जीता खड़ा सोच रहा हूँ—यह मेला, यह हर्षवर्धन का दान-यज्ञ—शायद उस जमाने में भी सब कुछ ऐसा ही रहा होगा। इसी तरह उस काल में भी अश्वारोही भीड़ को—मामूली कहे जानेवाले जन-जीवन को आवास के लिए बने रास्तों में हाँकते बढ़ाते चले जाते होंगे। दूर कहीं लाउडस्पीकर पर मंत्रोच्चारण सुनायी पड़ रहा है। कहीं नहाने वाले मठाधीशों का जुलूस बढ़ रहा है।

जहाँ मैं खड़ा हूँ वहाँ केवल भीड़ है। लेकिन भीड़ नीचे खिसक रही है। आगे बढ़ रही है। आस पास के लोग कह रहे हैं, नागा बाबाओं का जुलूस देखने लायक होता है। जुलूस आना चाहता है। आगे-पीछे

के लोग धक्का-धुक्की करते हुए सड़क पर निकल उस भीड़ के दरिया में शामिल हो जाते हैं। मैं अभी भी वहीं खड़ा हूँ। कुछ देर में सब फिर शान्त हो जाता है। इतनी देर में बी० डी० दा उस भीड़ में दिखे। बी० डी० दा को तुम जानते हो, जो अक्सर किसी-न-किसी जलसे में, किसी भाषण में दिख जाया करते थे। वही पत्रिका के रिपोर्टर बाबू जिनकी जेब में खुली पेंसिल और हाथ में फटे-फटे मुड़े-सिकुड़े न्यूज प्रिंट वाले अखबारी कागजों को देख तुम हँसा करते थे। यह अखबारी जीव भी खूब होते हैं। लिखने का यह भी कोई साधन हो सकता है। तुम हँसा करते थे बी० डी० दा पर। कमाल के आदमी हैं! क्या गुपचुप लिख लेते हैं? एक बार तुम्हारी जिज्ञासा मैंने उनसे कह दी थी और हम लोगों को उस भीड़ के बाद जब भाषण समाप्त हो गया तो, ले चले थे अपने अखबार के दफ्तर। जेब से वही मुड़ा-सिकुड़ा कागज़ निकालकर उन्होंने सामने रख लिया था। फिर एक अँगुली से टाइपराइटर बज़ाने लगे थे। दूसरे दिन उस भाषण को अखबार में प्रकाशित देख तुम आश्चर्य से हतप्रभ थे। कमाल के हैं न बी०डी० दा। पूरा नाम तो बी० डी० दा का मैं भी आज तक नहीं जान सका। फिर भी बी डी० दा की पूरी-पूरी स्मृति तुम्हें हो आयी होगी। उस भीड़ में वह दिख गए। मुझे इस तरह किनारे खड़े देखते ही उन्होंने हाथ बढ़ा दिया। किनारे से कटकर मैं धारा में आता हुआ सोच रहा था, किनारे-किनारे चलना था या चुप दर्शक की भाँति खड़े रहना पलायन है। तमाशाई की यह प्रवृत्ति बी० डी० दा को पसन्द नहीं। मेरा हाथ खींचते हुए उन्होंने कहा था—आइए। क्या चुप-चुप यों खड़े हैं।

तनिक देर में मैं उनके साथ धार में बह रहा था। अब समझ में आता है भीड़ का भी एक नियम विधान होता है। इसे प्रचलित माप-दण्डों से नापा-तौला नहीं जा सकता।

और थोड़ी देर बाद हम लोग आगे बढ़े हैं कि भीड़ ठस गयी है। सब जैसे जम कर एक ठोस इकाई बन गया है। खूब उमस है, खूब गर्मी

है। पुलिस जोरों से चीख रही है। ऊपर ही ऊपर उसके डण्डे हवा में घूम रहे हैं, पर कहीं आगे बढ़ने की जगह नहीं है फिर भी तिल-तिल कर आगे बढ़ते हैं।

और आगे जरा-सा बी० डी० दा कहते हैं—अजीव-सा लग रहा है पैर के नीचे।

मुझे भी कहीं कुछ गुलगुला, कहीं कुछ कठोर लग रहा है। मैं झुकन की चेष्टा करता हूँ। जगह कहीं नहीं है। मैं हिल भी नहीं सकता फिर भी चेष्टा कर रहा हूँ। जानना चाहता हूँ कि नीचे क्या है? यहाँ तो पक्की सड़क बनी थी। इस पर दलदल नहीं था। मुझे झुकते देखकर एकाएक बी० डी० दा ने मेरी स्वेटर जोर से पकड़ कर खींच ली—यह क्या बचपना है?

तब तक खूब तेजी से धक्का आया, जोर का रेला। हम ओग उस बहाव में कट गये। बी० डी० दा मुझसे बहुत पीछे हैं। मैं बहुत आगे हूँ। ठहर नहीं सकता। धक्का और रेला सँभालना मेरे बस में नहीं रह गया है। धीरे-धीरे किसी तरह वह भी फिर पास आ गए हैं। पुलिस घुमा रही है। भीड़ दूसरी ओर बाँध के ऊपर चढ़ने लगी। आगे घेरा डाल दिया गया है। लोग कहते हैं—बहुत से आदमी मर गयें।

इतनी देर तक हम लोग आदमियों की लाश पर चल रहे थे। उन शरीरों पर जो हमारे पैरों के नीचे बिलबिला रहे थे, हम बढ़े आ रहे थे।

हम सब एक किनारे खड़े हैं। संहार की यह लीला, लाख कह लो कि आदमी की गलती से घटी थी—पर कहाँ थी वह ताकत। बी० डी० दा अभी भी मेरे ऊपर खीझ रहे हैं। दाँत पीस रहे हैं।—बड़ा बचपना है। कहीं इस तरह के मेले में झुका जाता है। यह क्यों नहीं सोचते कि भीड़ में तुम्हारे पीछे चलते हुए आदमी केवल आदमी नहीं रह गये थे। जरा झुके कि फिर कोई देखनेवाला नहीं।

ये सारे लोग जो हमारे पैर के नीचे थे, मैं खड़ा-खड़ा सोच रहा हूँ। यह जमीन जिस पर मैं अभी चल कर आया हूँ, जहाँ पुलिस ने घेरा दिया है, लाशों से पटी है।

लाउडस्पीकर चिल्ला रहा है।--'सब लोग जहाँ ह वहीं रहिये। रास्ता अभी खुल जायेगा। कुछ लोग भीड़ में दब गये हैं।

और मैं देख रहा हूँ जो लोग दबे हैं वह कुछ नहीं लाखों की संख्या में हैं। एक को दूसरा पहचान नहीं रहा है। आकाश का वह पीलियापन अभी भी उसी तरह है। शोर इस तरह शान्त हो गया जैसे वहाँ कोई आदमी ही नहीं। केवल पुलिस है। उसके डंडे हैं और—'बचो, इधर नहीं उधर जाओ...उधर भागो की आवाज है।'

फौजी जीप गाड़ियाँ आकर खड़ी हो गयी हैं। लाशें लादी जा रही हैं। इस तरह उन्हें उठा उठाकर भरा जा रहा है, जैसे अनाज की बोरियाँ। जिसमें कोई जीवन के चिह्न हैं उन्हें भी कोई देखने वाला नहीं। यदि उठनेवाला और जोर से हाय कर चिल्लाता है तो उसे अलग रख देते हैं।

सफेद बाल, बूढ़ी औरतें, देहात वाली ही ज्यादा दिख रही हैं। पता नहीं कब तक मैं वहीं खड़ा रह गया। बी० डी० दा साथ छोड़कर पहले ही चले गये थे। कह गये थे देखना रेले में न आ जाओ।

मैं जब ऊपर सड़क पर आ खड़ा हुआ तो पता लगा शहर की सारी सवारी बन्द है। झुण्ड के झुण्ड आदमी वापस लौट रहे हैं। गंगा क्षेत्र में आदमी जाने नहीं दिया जा रहा है। थोड़ी दूर भाग आने पर एक कैम्प दिखा। ऊपर वोर्ड लगा है जिला स्वास्थ्य अधिकारी। फाटक पर पुलिस खड़ी है। कोई रुक नहीं पाता। लम्बी-लम्बी वेंचों पर, जमीन में, टेवुल पर पड़े आदमी कराह रहे हैं। जहाँ-तहाँ से शरीर फट गये हैं।

आगे बढ़ने पर डाक घर का बड़ा दफ्तर दिखता है। वहाँ इतने ज्यादा आदमी हैं कि पुलिस वहाँ भी लाइन लगा रही है। सब लोग अपने घर तार भेज रहे हैं।

मैं कई घंटों से ऊपर ही ऊपर घूम रहा हू। कितने ही ऐसे आदमी हैं जिन्हें किसी चीज का आभास नहीं। फिर भी वह घबराये से, बौखलाए से जानना चाहते हैं कि हुआ क्या। सही स्थिति किसी को नहीं मालूम। अटकली बातें हवा में घूम रही हैं।

एक जगह बुढ़िया बैठी रो रही है। उसके तीन लड़के लड़कियाँ भीड़ में पिस गये। पुलिस उन्हें कहाँ ले गयी वह नहीं जानती।

कोई उसे बताये कि वह कहाँ गये।

एक व्यापारी आसाम का मिल गया। बहुत बड़ा पैसे-वाला है। कई सिनेमा हाल हैं, चाय के बगीचे हैं। यहाँ शहर के सबसे अच्छे अंगरेजी होटल में ठहरा है और पैदल चलते-चलते पैर थक गये हैं उसके। अजीब-सी लाचारी है, कितना हताश, कैसा उदास! रास्ता भी नहीं जानता। जिधर ढेर से आदमी चले जा रहे हैं वह उधर ही चल पड़ता है।

थोड़ी देर रास्ता बताते हुए मैं उसके साथ हो गया हूँ। उसने दोनों बाहें ऊपर उठाकर अपनी बगल दिखायी है। जहाँ खून छलछला आया है। खूब मोटी दरार पड़ गयी है।

कह रहा है। कल रात मैंने नाव किराये पर ली थी। सुबह जब नाव तक जाने के लिए आया था कि भीड़ में फँस गया। आगे चलता जा रहा था। कोट पहने हुए था। किसी ने कसकर मेरा कोट नीचे से पकड़ लिया। मैं पीछे घूमकर नहीं देख सकता था। भीड़ का रेला पूरी तरह धक्का दे रहा था। किसी पकड़नेवाले हाथ ने जो नीचे गिर चुका था, भरसक पूरी ताकत से मेरा कोट पकड़ रखा था। इस द्वंद्व में मेरी बाहें कटने लगी थीं। कोई दूसरा चारा नहीं था। ऐसा लगता था कि भीड़

में अब गिरा, अब दबा। ऊपर हाथ उठाने का न तो अवसर था न जगह। किस कठिनाई से वह कोट उतारा है मैं ही जानता हूँ। वह लम्बा-चौड़ा अच्छा खासा इंसान था। दो-चार मामूली आदमी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे। वह कह रहा था—सारे पैसे कागजात सब उस कोट की जेब में थे सब चले गये।

वह आदमी गंगा के किनारे पहुँचते-पहुँचते लौट आया था। बिना नहाये वापस जा रहा था।

मेरी आँखों से वह आदमी नहीं उतर रहा है।

बलदेव को तो जानते ही हो। वह अपने मुहल्ले का आवारा लड़का। जिसके पास केवल शरीर ही शरीर है। खा-पीकर और भी हट्टा-कट्टा निकल आया है। तुम उसका सिर देखते तो हैरान रह जाते। सिर जगह-जगह से फट गया था। लंगोट कस कर उसने बाँध लिया था फिर भी खून जहाँ-तहाँ चू रहा था। उसकी बात सुनोगे तो हैरान रह जाओगे।

मैं चुप गमगीन आँखों से उसके कटे-फटे चेहरे की ओर देख रहा था। होंठों में जगह-जगह उसके दाँत गड़ गये थे। जानते हो यह चोट उसे असहाय अवस्था में नहीं लगी थी। वह दर्द से कराह नहीं रहा था, हँस रहा था। अपने भुजबल से उसने झुक-झुककर चोट खा कर नीचे गिरे हुओं को सहारा दिया था, उन्हें उठाया था। कई आदमी उसके तनिक से सहारे से मौत के मुँह से बाहर आ गये थे। उनको बचाने के सिल-सिले में उसे यह सारी चोटें आयी थीं।

इन सबके बीच सबसे दारुण जो घटना उसने बतायी वह बहुत ही रोमांचकारी थी। वह घटना सुना कर चला गया था लेकिन घटना अभी भी मुझे मथ रही है। जाते हुए मेरे हाथ में एक कार्ड दे गया था। वह कार्ड अभी भी मेरे टेबुल पर पड़ा है।

यह कार्डवाला आदमी उड़िया का बड़ा पैसे वाला है। कई मिलों का मालिक है। कभी उसकी बीवी की इच्छा थी कि वह एक बार संगम

नहाने आयेगी । लेकिन इच्छा पूरी होने के पहले मर गयी । उसकी गोद में एक साल भर का लड़का था। कुछ ही महीने हुए थे उसे मरे । उस लड़के को एक नर्स पाल रही थी । वह मिल मालिक लड़के और नर्स के साथ आया था और इस भीड़ में फँस गया था। नर्स की गोद में लड़का था और अनहोनी जान कर तो वह नहीं चला था बलदेव जिसे हम लोग दाऊ भी कहते हैं वही था भीड़ में कि नर्स अपने पीछे आ रहे धक्कों को सँभाल न सकी । जब वह गिर गयी तब उस मालिक को पता लगा । कितने पैर उसके ऊपर से निकल गये होंगे दाऊ ने उसे गिरते देखा था। अपने गमछे का कमर में फेंटा दे वह गड़ाप से भीड़ में कूद पड़ा था । दाऊ ने बताया था कभी उसने ऐसी बात सोची नहीं थी । भीड़ को बुरी तरह धकिया कर उसने नर्स को उठाने की खूब कोशिश की पर नर्स न उठ पायी। फिर न जाने कैसे उसका हाथ लड़के की कलायी पर पड़ा । जो दाऊ ने खींचा कि लड़का ऊपर आ गया था।

वह कह रहा था--भैया, लड़के को ऊपर हवा में तो उठा लिया और धक्के में आगे बढ़ने लगा। एक हाथ पर लड़का टँगा था । कोई दो-ढाई फीट लम्बी सड़क का हिस्सा है, मेरा हाथ और सिर काफी चोट खा चुका था। लगता था अब गम खा जाऊँगा। मैं अपने को बहुत सँभाल रहा था पर बार-बार चक्कर मुझे घुमा जाता था । हाथ जवाब दे रहा था। भीड़ मुझे धक्का दे रही थी। मैं आगे बढ़ता जा रहा था। लगता था लड़का अब छूटा अब छूटा । भीड़ में आगे बढ़ता हुआ वह मिल मालिक चीख रहा था--'इस लड़के को कोई भीड़ पार करा दे दो हजार रुपये दूँगा । दो हजार रुपये दूँगा ।'

लेकिन मैं यह खाली शब्द सुन रहा था। किनारा काट कर मैं भीड़ से बाहर निकालना चाहता था। पर अब लाचारी थी। एकाएक न जाने कब और किसने बजाय लड़के को पकड़ने के मुझे ही पकड़कर घसीट लिया ।

बाद में उस मिल मालिक ने उस लड़के की माँ के बारे में बताया। बताया कि गिरने वाली लड़की नर्स थी। मैं सोच रहा था नर्स औंधी गिरी थी। वह मर गई थी। उसकी गोद में लड़का था। वह कैसे जीवित रह गया। बचने की कोई सम्भावना नहीं थी।

दाऊ कह रहा था वह कार्ड दे गया है मुझे। पैसे देने की बात कह रहा था। कहता था---मैं गुलाम हूँ, तुमने मेरे घर का चिराग बचा लिया। बलदाऊ ने उसके शब्दों को दोहरा कर जोर से थूका और कार्ड मुझे सौंप कर चला गया।

मैं इस कार्ड को लेकर सोचता रहा। अवश्यम्भावी घटनाओं के सामने अपने को असहाय महसूस करता हुआ वह आसाम के कई सिनेमा का मालिक कैसा दैवीय लग रहा था। उस उड़ीसा के मिल मालिक को मैंने नहीं देखा। फिर भी कल्पना से एक अंतर्मुखी चित्र तो बन ही जाता है। क्या लगाव था दाऊ को उन लोगों से। वह क्या जाने वसुधैव कुटुवम्कम् का दर्शन? वह तो महल्ले का आवारा माना जानेवाला लड़का ही तो था। विरोध का सामना करने, बहाव में न वह जाने की शक्ति उसके मन में संचित हुई। सामने वाला आदमी मनुष्य है और मानव के प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी है यह भी उसने नहीं सोचा होगा। उसके सन्मुख एक असहाय इंसान अपनी परिस्थितियों से बस मर रहा है। उसे बहुत-से लोगों ने इस तरह गिरते देखा होगा लेकिन वह जड़ बने रह गये होंगे। लेकिन दाऊ की अंतःचेतना उस चुनौती को न सह सकी। चतुर्दिक फैले जीवन में जो कुछ हो रहा था वह केवल घटनाओं का समूह नहीं था। वह अपने को मुक्त नहीं रख सका। जान-बूझकर धधकती ज्वाला में कूद पड़ा।

दाऊ के मन में प्राणी-जीवन के प्रति जो अनुराग है वह केवल सतही नहीं था राजू! हम अपने से बाहर निकल कर मनुष्य की आस्था में जब विश्वास रखने की बातें करते हैं, तो लगता है एक बहुत सामान्य सी साधारण बात है। कितनी निर्जीव, कैसी नीरस। परन्तु दाऊ उस आस्था

के तनिक ही निकट में आया था, उसके जीवन का यह कोई सिद्धांत नहीं था। वह तो केवल घटनावश उसकी चपेट में आ गया था। लेकिन दूसरे को वह तनिक-सा सुखी बनाने में सफल हुआ था। खूब चोटें खाकर भी अपने अंत:करण से उल्लसित हो हँसता हुआ मेरे हाथ में वह उस कार्ड को फेंकता चला गया था, जिससे उसे जरा-सी इच्छा करने पर बहुत कुछ मिल सकता था।

मनुष्य की इस भोली नीति पर कौन नहीं हँसेगा। एक ऐसी दशा थी, जिससे वह मिल मालिक जीवन पर हमेशा मरता रहेगा। कुछ भी हो जब भी बात चलेगी तो वह अपने उस महल्ले वाले छोकड़े को हमेशा भगवान कह कर ही संबोधित करेगा। उसके बच्चे की प्राण-रक्षा के लिए वह आदमी ईश्वर का निमित्त कारण बन कर आया होगा। और हमेशा मिल-मालिक इस विचार के ही आगे नतमस्तक हो जायगा।

दाऊ चला गया था। मैं फिर भी घूम रहा था। एक आर्तनाद चारों ओर फैला था। हर जगह रुदन था, हर चेहरे पर घबराहट थी।

धीरे-धीरे दिन ढलने लगा। जमीन सब खाली हो गयी थी। रास्ता सुनसान लग रहा था। कल की रात सोहागरात के पहले की रात थी। कल कैसा उल्लास छाया था सब जगह। हर कोई आने वाले की चिंता में बड़ी आशा लगाये थे। इस भयानक अवश्यम्भावी की किसी ने कल्पना तक नहीं की थी।

रात हो गयी। जहाँ-तहाँ अलाव जल रहे थे। जैसे मौत का घटाटोप अभी भी छाया था। मैं उस वीराने में जहाँ खूब प्रकाश था लेकिन आदमियों के नाम पर फौजी सिपाही थे जिनके हाथ में संजीवनी नहीं लाठियाँ थीं। लाशें नहीं थीं केवल कपड़ों के ढेर थे। जूतों के इतने ढेर पुलिस के सिपाहियों ने एकत्रित कर लिय थे कि अचंभा होता था उसे देखकर। कीचड़ सने, फटे, नये सभी तरह के जूते एकत्र थे।

मैं उन कपड़ों और जूतों के ढेर के सामने बहुत देर तक खड़ा रहा। सोचता रहा, घर से चले हुए इन जूतों के किसी भी मालिक को यह एह-

सास नहीं रहा होगा कि वह इन जूतों को पुलिस के अधिकार में छोड़ने के लिए पहिन जा रहा है।

सब कुछ उस कुरुक्षेत्र की तरह लग रहा था, जहाँ युद्ध खत्म हो जाने के बाद रात का स्याह परदा सारी वीभत्सता को ढक लेने के लिए अनधिकार प्रयत्न करता है और सफल नहीं हो पाता। रात के दस बज गये थे। मैं धीरे-धीरे लौट रहा था। जानता था लोग परेशान होंगे।

आज सुबह अखबार देखा है और आँखों के आगे जो कुछ कल बीता है सामने आ खड़ा हुआ है। लगता है, मेरे पैरों में अभी भी मेरे बूट हैं और उनके नीचे कुछ गुलगुलाहट, कुछ कड़ापन लग रहा है। मेरे पैर लाशों के ऊपर चले हैं।

वह जिंदा लाशें जो मरने के पहले कसमसा रही होंगी। वह भोले-भाले लोग जिनको जलूस देखने के लिए, नहाने वाले महंतों का दल देखने के लिए पुण्यात्मा महंतों और नंगे रहने वाले नागा बाबाओं को देखने के लिए बैठा दिया गया था। बूढ़ी औरतों, बच्चों का वह हजूम जो बाघ की ढाल पर बैठा तमाशा देखने के लोभ में प्रतीक्षा कर रहा था अचानक बैठा का बैठा रह गया। पीछे से जाने वाली भीड़ यह न जान सकी कि आगे कुछ दूर पर लोग बैठ गये हैं। बीच में कहीं पानी की गटैया सी है, कीचड़-सा है।

रेले का जोर, आवाज का प्रवाह कौन रोक सकता था। जो खड़े थे वह खुद गिर रहे थे। भीड़ का हजूम आगे बढ़ रहा था, आगे और आगे। कहीं हाथी बिगड़ गया था कहीं भीड़ बहक गयी थी, कहीं लोग गिर रहे थे। कुछ लोग खड़े थे। कुछ उन पर चल रहे थे। चलने वालों में मैं भी एक था। साथ में बी० डी० दा भी एक थे। एक-एक कर ऐसे बहुत-से आदमी थे। बहुत-सी इकाइयाँ थीं। समष्टि का एक समूह था जिनके पैरों के नीचे आदमी फड़फड़ा रहे थे। हम यह जान भी नहीं सके थे कि वह गुलगुला और कड़ापन क्या था। किसी की खोपड़ी

थी, किसी की हड्डी थी, किसी का सीना था, या पीठ थी। बस हम सब चल रहे थे। एक दूसरे से सटे हुए।

मेरे पैर में जूता था और जूते के नीचे जो कुछ हो रहा था। लगता है, अभी भी वैसे ही है एकदम वैसे ही। आकाश में कहीं सारे ग्रह एक ही रेखा में मिल रहे हैं। सूर्य क्षीण पड़ रहा है। आकाश में बादल है। पीली धुंध है। कोहरा है, सर्दी है।

मैं चुप अखबार लिये बैठा तुम्हें सोच रहा हूँ। याद कर रहा हूँ। कहीं तुमने भी अखबार पढ़ा होगा, दस लाख आदमी भीड़ में कुचल कर मर गये। तुम्हें कैसा लगा होगा। मन की इस मशीन में अगर मैं तुम्हारा अनुभव जानने में समर्थ हूँ तो सोच रहा हूँ—तुम्हें कैसा लगा होगा। तुम मुट्ठियाँ कसकर एक क्षण के लिए खामोश बैठ गये होगे। लेकिन तुम वह सब उस निकटता से नहीं जान सकोगे, जो मैंने जाना है। वह केवल अपनी अनुभूति है जिसमें हिस्सा बटाना ,सहज ही नहीं असम्भव भी है।

—०—

राजू

गाड़ी चल रही है—जगमग प्लेटफार्म छोड़कर। बाहर की ठण्डी हवा डिब्बे में आ मेरे माथे को छू रही है। गार्ड की सीटी बज कर चुप हो गयी है। लेकिन उसकी गूँज अभी भी मुझे कानों में सुनायी पड़ रही

है। प्लेटफार्म से छूटती ट्रेन एक सेकण्ड के लिए सरकती है। बिजली से हाँकी जानेवाली इस गाड़ी के सरकने में कुछ दूसरा ही मजा आता है। वह आग पानी से चलनेवाली गाड़ी से भिन्न है। उसकी तरह यह हंस गति से तैरती हुई नहीं बढ़ती। काश इस गति से सब कुछ छूट जाता तो बड़ा ही सुखद होता। लेकिन मन की गाड़ी सब कुछ इस तरह झाड़-कर नहीं चल पड़ती। समेटने-वटोरने और सवाँर कर रखने, भूलने में समय लग जाता है। लगता है एक अगम्य में डूब कर पार आया हूँ।

घड़ा-घड़ लोकल प्लेटफार्म एक के बाद एक निकलते जा रहे हैं। रह-रहकर खटाखट एक के बाद एक पटरी बदलती हुई गाड़ी जा रही है। पता नहीं आदमी को छोड़ने में, खोन में कुछ अधिक रस आता है। कुछ अजब-अजब पाने की लालसा में वह बहुत-कुछ खोता चलता है।

कभी-कभी एक अनोखी तटस्थता से मन गुजरता है, तब यह अगम्य अणु प्रतीत होने लगता है। पीड़ा मर जाती है। सब कुछ जैसे कटा-कटा सा अलग-अलग दिखायी पड़ता है। और विराग की यह प्रकृति सारे वन्धनों को काट देती है। तब मन खुलकर कुलाँचे भरने लगता है। याद की नन्हीं-नन्हीं दूब स्मृति के ऊसर पटल पर फूटने लगती है। धीरे-धीरे उसका फैलाव बढ़ जाता है। फैलती हुई दूब सारे मानस को ढँक लेती है। वह क्षण होते हैं जब मन गहरे पैठता है। पोर-पोर अन्दर उतरता है। न जाने क्यों भोगे हुए को बार-बार भोगना ही रुचिकर लगता है।

गाड़ी अभी भी चली जा रही है--धीरे से एक हल्की मुस्कान मेरे चेहरे पर छा जाती है। मैं उसको दवाने की बात सोचता हूँ। पर यह मुस्कान उस स्मृति के कारण ही आ छायी है। चलती हुई गाड़ी की आवाज में एक संगीत लहरी सुनायी पड़ रही है। मन में एक उनींदी लहर मन रही है। ऊपर की वर्थ पर लेटा हुआ मैं अपने को सुलाने का भरसक प्रयास कर रहा हूँ।

आश्चर्य होता है मन कैसी-कैसी असम्भव कल्पनाओं में; कैसी अमानुषिक परिस्थितियों में, कैसी दयनीय विकृतियों में जीता रहता है। यह आदमी का ही मन है कि सारी वीभत्सता के बावजूद भी जीने के लिए छटपटाता रहता है। बहुधा हम नहीं जानते कि हम क्या चाहते हैं, फिर भी अनजाने को पाने के लिए तड़पते रहते हैं। कुछ ऐसी ही तड़पन मैंने उस होटल के नौकर बाबू की आँखों में देखी थी। उस दिन अचानक रात को नींद खुल गयी। चारों ओर वातावरण के अन्धकार से घिरा मैं न जाने कितनी देर तक पड़ा रहा। याद नहीं आता। ऐसे खालीपन में मन क्या सोचा करता है, या उस समय क्या सोच रहा था। अचिन्तनीयचिन्तन की यह दशा कितनी देर तक मन को भ्रमित करती रहती है, इसका लेखा-जोखा कहीं नहीं रहता। उस क्षण लगता है जैसे सब कुछ स्थिर है। वक्त का बहाव थम गया है। चेतन के बीच स्थिरता की यह दशा कितनी देर तक रही, मन कितनी देर तक यों ही भटकता रहा, नींद कितनी देर तक ठगी रही—कुछ पता नहीं। पर एक बारगी उस अन्धकार के बीच, उस शान्ति के बीच एकाएक फक्क से प्रकाश उठा। एकाएक खर्र की आवाज हुई और आँख चौंधिया गयी।

कमरे का किवाड़ा खुला है। आज जाड़ा अधिक है। रजाई ओढ़ने के बाद भी लगता है, जैसे अंदर-अंदर पानी चू रहा है। दरवाजे के बाहर गेलरी है और उस गेलरी में जमीन पर रजाई में लिपटा बाबू सो रहा है। प्रकाश होने से मैं उसका चेहरा देख पा रहा हूँ। चारों ओर की रजाई वह कस कर दबाये ह। मुँह में बीड़ी दबी है और वह दियासलाई से उसे जला रहा है। यह सब एकबारगी अच्छा नहीं लगा। फिर वह धीरे-धीरे कश लेता है। साँस खींचने की आवाज के साथ ही जलती हुई बीड़ी के प्रकाश में उसकी आँख चमचमा उठती है। साँस खींचने में बल पड़ता है जिससे वह आँखें चुँधी कर लेता है। मैं पड़ा पड़ा यह सब देख रहा हूँ।

यह सामने जो आदमी बैंठा बीड़ी पी रहा है—किस प्यार से कस खींचता है। उसकी आँख भी कश खींचने के साथ ही छोटी और छोटी हो जाती हैं। फिर वह आँखें एक दम बन्द हो जाती हैं। जैसे वह उसके स्वर्गिक आनन्द में लीन हो उठता है। कुछ देर धुआँ घोंटता है और फिर धीरे-धीरे आँख, नाक, मुँह सब फैल जाते हैं। मैं रात में रजाई ओढ़कर सोते-सोते बीड़ी पीते हुए बाबू की याद करने लग गया हूँ। वह जिंदगी की मार से छटपटाया हुआ आदमी। हर घड़ी जैसे वह मार उसके पीछे कोड़ा लेकर पिली पड़ी रहती है।

बाबू की दशा देखकर, उस गो हत्या की हुई ब्राह्मणियों की बात एका-एक याद आ जाती है। जिन्हें गली में भीख माँगते हुए देखकर एक भयानक डर लगता था कभी। लोग कहते हैं कि वह ढोंग करनेवाली भिखमंगी थी और मैं उनके कहने पर सोचा करता था—पर क्यों ? क्यों ऐसा करते हैं लोग। शायद मैं उस समय ढोंग के अर्थ ही समझ पाने में असमर्थ था। फिर भी मुझे वह दृश्य याद आ रहा है। वह घटना जंवान पर, मेरे मन पर छा गयी है। एक बोझ है जिसे मैं उतार फेंकना चाहता हूँ वह जो हत्या का बोझ जो भिखारी ब्राह्मण युगल सब पर लादते चलते थे। वो भीख माँगने के साथ-साथ बयान करने जाते थे कि किस तरह एक भूल में उन्होंने यह पाप कर डाला है।

ब्राह्मण बड़ा ही कारुणिक प्रतीत होता था। जैसे पाप स्वयं मनुष्य शरीर धर कर खड़ा हो गया हो। कितना असहाय, कैसा त्रिभुज। क्या कपड़े, क्या चेहरा, जैसे शरीर के रोम-रोम से दयनीयता टपक पड़ना चाहती हो। उसके बायें कंधे पर एक युवती का दाहिना हाथ है। उस हाथ को छोड़कर सिर से पैर तक सारा भाग लम्बी चद्दर में टँका है। चद्दर का एक पल्लू जो घूमकर कंधे से सामने की ओर लटक आया है उसके एक कोने गाय की पूँछ बँधी सामने झूल रही है। कुछ गुच्छे बाल हैं। बायें हाथ से वह चद्दर का पल्लू पकड़े है। वह कोना पकड़े है। और

बरावर उसे हिला रही है, जिसमें गाय की पूँछ है। पहले ब्राह्मण पुरुषोचित स्वर में अर्त्तनाद करता हुआ चिल्लाता है। पीछे साथ देती हुई उसकी भार्या अपनी पतली परन्तु बहुत ही सुरीली आवाज में गले को जितना तीखा बना सकती है रिरियाती है--कि स्वर सुनने वालों के कलेजे को दहला सकें, नीचे और नीचे उतरते चले जायँ। वह चीख चीखकर कह रही है--भाई—बाबू एक बराम्हणी की गौ हत्या को छुड़ाओ। एक भूल का प्रायश्चित्त करने के लिए मदद करो।

मैं चौतरे पर खड़ा हुआ उन लोगों को चीखता हुआ देख रहा हूँ। अगल-बगल के हर आदमी यह आवाज सुनते ही खिड़कियाँ बंद कर लेते हैं। पीछे से कई कठोर हाथ मुझे अंदर घसीट ले जाते हैं। लेकिन मैं उस दृश्य को नहीं भूल पाता। शायद उससे कुछ कम दयनीय अवस्था नहीं है बाबू की। पहली बार उस बाबू को देखकर मुझे लगा था जैसे वह बाबू और कोई नहीं गो हत्या वाला ब्राह्मण ही सामने आ खड़ा हुआ है। क्या यह बतायेगा कौन-सी गौ हत्या की है इसने? क्यों की है?

उस जाड़े की रात, उसे इस तरह रजाई में लिपटा और इस तरह बीड़ी के कश खींचता देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मैंने इस तरह सोते-सोते किसी को बीड़ी पीते नहीं देखा था। पर बीड़ी पीने का यह क्रम इस तरह रात को भी चला करता है—मुझे यह पहली बार जान कर ताज्जुब हुआ था।

गाड़ी वैसी ही डगमग करती चली जा रही थी। मन बहक रहा था। बाहर बादल गहरे हो उठे हैं। याद आता है बाबू को जब पुकार कर मैंने अपने कमरे में उस रात बैठा लिया था, तो कैसे सवेरा हो गया यह पता ही न चला। इतना रसिक होगा बाबू, यह नहीं जानता था, खोद-खोद कर उसके घर की, गाँव की, न जाने कहाँ-कहाँ की, बात पूछ डाली थी और घूमते-घूमते वह खुद ही जीवन के एक अनदेखे मोड़ पर आकर खड़ा हो गया था।

वह कह रहा था--यह जो मुझे देख रहे हैं। कभी-कभी मुझे भी अपने ऊपर हँसी आने लगती है। गाँव में थोड़ी-सी जमीन थी। उस साल अच्छी खेती हुई थी। दिल में आया टेंट गरम है। कहीं घूम आयें। सुना करता था शहर में पतुरिया अच्छी होती हैं। लोग शहर जाकर मुजरा जरूर सुनते हैं। मेरी भी इच्छा हुई मुजरा सुनने की। यह नहीं जानता था मुजरा क्या होता है। कभी बचपन में सुना था कि अपने जमींदार के घर मुजरा हुआ था। सभी लोग गये थे वहाँ। पर मुझे क्यों नहीं ले गये। मैं मुजरा क्यों नहीं देख सका। वह याद नहीं। पहले कई बार शहर आ चुका था लेकिन इस बार का आना कुछ दूसरे ही तरह का लग रहा था। जवानी की टुनक थी। पैसे की गरमी। कुछ शहर का डर था और साथ ही झिझक भी।

मैंने टोका—'क्यों कोई साथी नहीं था साथ में।'

'साथी'--वह हँसकर बोला--'साथी का साथ एक-आध बार हो सकता है। हमेशा उन्हीं के मोहताज होना मुझे पसन्द नहीं। बिना साथ के ही चल पड़ा। बाजार पहुँचने में दिक्कत नहीं हुई। अचानक ही एक कोठे पर जा पहुँचा। लगा गलत जगह आ पहुँचा हूँ। यहाँ मुजरे का कोई सराज़ाम कहीं नहीं था। झिझक तो लगी, लेकिन एक बार बढ़े हुए पैर लौटाना कठिन होता है। सामने ही एक लड़की खड़ी थी। वह पास आ गयी। दो-एक लोग जो वहाँ थे धीरे से खिसक गये।

मैं फैली फैली आँखों से उसे देख रहा था। बाबू के चेहरे पर गर्मी आ गयी थी। वह बड़े उखड़े-पुखड़े तरीके से अपनी आपबीती बता रहा था। वह बता रहा था--मैं कभी किसी पतुरिया को इतना अच्छा नहीं समझता था। लोगों ने हमेशा बुराई की थी। हमेशा यही कहा था--बड़ी बदजात औरतें होती हैं यह। लेकिन यह लड़की मुझे सबसे अलग दिख रही थी। मैं उसकी हर बात पर चौंक उठता था। कहीं ठगा तो नहीं जाऊँगा, कहीं बेवकूफ तो नहीं बनूँगा? यह जो इतनी निकटता से, ऐसे आग्रह से बात कर रही है, लूट तो नहीं लेगी मुझे?

अपने हाथों में मेरे हाथ लेकर यह इस तरह बात करने की उत्सुक क्यों है ?

बाबू की बातों से मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था। मैं उस आदमी के मुँह से यह सब क्या सुन रहा हूँ ? यह क्या कह रहा है ? लेकिन वह था कि उसी तरह बिना झिझक कहता जा रहा था कि किस तरह वह जितना लड़की से डर रहा है उतना ही वह लड़की उसे अपनी ओर खींच रही है, अपने में समेट रही है, मीठी-मीठी बातें कर रही है।

बाबू कहता जा रहा था--'वह बीच-बीच में मुझसे तरह तरह के सवाल कर रही थी। पूछ रही थी--'क्या मैं गाँव ही में रहता हूँ ? पहली बार आया हूँ शहर? फिर कब जाऊँगा ? क्या यहाँ आना अच्छा नहीं लगता ?' और मैं चाहता था--जल्दी निकल भागूँ, कहाँ आ फँसा ? पर वह मुझ उलझाती जा रही थी। दिल करता था सब कुछ ऐसा ही रहे। ऐसे ही हमेशा-हमेशा बैठा रह जाऊँ मैं।

मेरे हाथ में गुदे गुदने को देखकर वह कहने लगी--जब मैं बहुत छोटी थी तो मेरे घर भी गुदनहारिन आया करती थीं, मेरे भी गुदने गुदे हैं। उन गुदनहारिनों की बातें सोच कर आज हँसी आती है। कैसे वे लोग गाने गाती हुई गुदने गोदती थीं। याद है तुम्हें ? मजेदार थे उनके गाने ! छोटी-बड़ी सभी उम्र की लड़कियाँ जिनके शरीर में गुदने नहीं होते थे सभी गुदवाने बैठ जाती थीं। भिलावा के बीये के रस में सुई डुबो कर वे किस मन्द गति से दर्द देती थीं, गाने गाती थीं।

सूइयाँ चल सूइयाँ चल
चल गंगा की धार...
कछुआ......

दो लाइनों को दोहरा कर बाबू एक दम चुप हो गया। फिर बहुत गम्भीर होकर बोला--यह गुदने क्यों गुदवाये जाते हैं ? वह गुदने गोदने

वाली इतने गन्दे गाने गाती हैं कि लाज से सिर ही गड़ जाय। वह सूई गड़ने का दर्द भूल जाय, शायद यही मंशा रहती होगी। तभी इस तरह के गाने के साथ उनकी सूई शरीर में रंग भरती जाती थी; और वह लड़की कह रही थी—'मेरे शरीर में भी ये मोर बने थे कभी।'

वह जो छोटी-छोटी स्याही की बिन्दियाँ थी शरीर के बढ़ने के साथ कहीं खड़ी और कहीं पड़ी रेखाओं में बदल गयी थीं। मैं उस स्त्री की नग्न छाती देख रहा था। उसने जबरन कपड़े खोल दिए थे। उसके स्तनों पर बने मोर की शक्ल विकृत हो गयी थी। सरकार, अनोखी बात थी, मेरी आँखें उस पर गड़ गयी थीं। कैसे वह सब बर्दाश्त कर सकता था!

सोचो बाबू, कब होता है ऐसा? शायद कुछ और देखकर कोई और भी याद आ जाती है। मूझे, उस समय और कुछ नहीं केवल पाप दिख रहा था। मन में जो भूत था वह अपना नशा उतार डालना चाहता था। मुझे उस बाजारू औरत का बीच-बीच में टोंकना अच्छा नहीं लग रहा था। मन में रोशनी इतनी नहीं थी कि मैं ठीक से कुछ देख समझ पाता। लेकिन वह औरत बड़ी बातूनी थी, किसी तरह चुप रहना जैसे जानती ही नहीं थीं। पर उसकी बातें से मुझे कोई लगाव नहीं था। मेरा मन ठीक उसी तरह से अपनी धुन में था जैसे कोई राहगीर मन-मगन अपने रास्ते में चलता जाता है और उसे उस लाउडस्पीकर का ध्यान नहीं होता, जो शहरों में सड़कों के किनारे-किनारे चीखा करते हैं।

बात समाप्त हो गयी थी, रास्ता पूर गया था।

एकाएक उस लड़की ने कहा—'तब फिर आओगे न कभी तुम? न जाने क्यों ऐसा लगता है जैसे तुम बहुत दूर के नहीं हो। कभी रामपुरवा में भी रहे हो क्या तुम?

मैं जूते में पैर डालते-डालते रुक गया। मन ने दोहराया—राम-पुरवा! वह कहती जा रही थी—'वही बाबा जी की कुइयाँ के पास!'

मेरा दलाल पास में आ गया था। वह धीरे से बोला, चलो सेठ, बड़ा भोला माल है, थोड़ा दिमाग.. (और उसने सिर की तरफ अँगुली उठाकर चक्कर लगाया फिर हँसा) वह लड़की जोर से कह रही थी—'मेरे भाई का नाम रामखेलावन है..तुम वहाँ जाना तो कह देना मैं यहाँ हूँ। मुझे लेने आनेवाला है न वह!'

और अभी भी उसका बाँया हाथ दाहिने हाथ की कलाई कस कर दबाये था। मैंने उठ कर बत्ती जलायी तो देखा बाबू रो रहा था। उसके दाहिने हाथ पर गुदा था—राम खेलावन !

'फिर!'—काफी देर बाद मैंने पूछा,—तो वह बोला—'मैं कई दिनों तक उलझा घूमता रहा। मेरी विधवा बहिन थी जिसे बाप ने बेच दिया था। लड़कियों के बेचने की बात हमारे यहाँ साधारण है। उन्हें क्या मालूम नहीं था कि इस तरह बेंची गयी लड़कियाँ कोठा सजाती हैं और उनके भाई ही अनजाने में बहिन के यहाँ पहुँच जाते हैं।'

मैं सोच रहा था—'कितनी साधारण-सी बात है! हर पाप नये पाप को जन्म देता है।'

'तुम फिर नहीं गये वहाँ?'—मैंने काफी देर बाद हिम्मत करके पूछा।

जो कुछ कर आया था उसके बाद उस जगह कैसे जाता? हिम्मत ही नहीं पड़ती थी। कई दिनों तक भटकने के बाद जब एक बार मन नहीं माना तो वहाँ जा पहुँचा? लेकिन आज रंग ही दूसरा था वहाँ का। वह रंगीली जिसका असली नाम लच्छी था वहाँ नहीं थी, कहीं पता नहीं लगा। मेरी जेब खाली थी, दलाल भी मुझे खाली मैं समझ रहा था। गाँव नहीं जा सका बाबू! यह पाप का प्रायश्चित कर रहा हूँ, आप लोगों का जूठा धोता हूँ। कभी ब्राह्मण था आज शूद्र से भी बदतर हूँ। केवल बाबू हूँ! मुझे मारिये! मुझ पर थूकिये, मैं नीच हूँ! मैं कायर हूँ—' वह कहते कहते जोर से रो उठा था।

बाबू के मुँह पर गो-हत्या वाले युगल ब्राह्मण के चेहरे के सारे चिन्ह स्पष्ट झलक रहे थे। केवल सांत्वना के कुछ शब्द थे जिन्हें मैं बक सकता था--बक रहा था।

इस चलती हुई गाड़ी के बीच में बैठा-बैठा अचानक उस बाबू की बात सोच रहा था और लग रहा था जैसे मेरे मन में एक की जगह दो 'मैं' उत्पन्न हो गये हैं। दोनों एक ही बात को लेकर खूब लड़ रहे हैं। एक बाबू को बुरा साबित कर रहा है, दूसरा भला बता रहा है। धीरे-धीरे उनमें से एक मन की अँगुली मेरी ओर उठ गयी है। वह मन मुझसे पूछ रहा है—तुम बाबू को पापी कहते हो? पर भली सूरत वाले आदमी! कोरे पोथे के ज्ञान पर अपने अहम को न मार सके तुम! तुमने क्या किया? कुछ अपनी तो सोचो।

झट मैंने उस मन का गला दबा चुप करा दिया—'यह पागलपन है! मैं जो कुछ कर रहा हूँ ठीक कर रहा हूँ। मेरे पास और करने को है क्या है? यह सारे रुपये मेरे अपने हैं, उन्हें फूक रहा हूँ, लुटा रहा हूँ। बस!

'जब चुक जायेंगे तब?'–दूसरा मन पूछता है।

'तब की तब देखूँगा।'

बिना पैसे के एक दिन नहीं चलेगा। फिर चुपके से घर लौट चलोगे और वही सब स्वीकार कर लोगे, जो तुम्हारे बाप दादों ने किया। और क्या करने योग्य हो तुम? क्या काबिलियत है तुममें? अभी पैसा, वह पैसा जिसे तुमने चुप चाप चोरी से इकट्ठा किया है वह...!

'वह मेरा है!'

'नहीं।'—मेरा मन मुझी पर हँसा।—'जानता हूँ! झूठ बोलकर, बाप को ठगा है तुमने। वहाँ जहाँ चार-पांच सौ रोज आते हों, पन्द्रह-बीस हजार बना लेना बहादुरी नहीं है मिस्टर!'

'मैं घर नहीं लौटूँगा! किसी कीमत पर भी नहीं।' मैं अपने से जूझने लगा।

और बावू! वह भी किसी कीमत पर घर नहीं लौटा है। प्लेट धोता है, नौकरी करता है, प्रायश्चित करता है।

'मैं पढ़ा-लिखा हूँ।'

'कुछ ऊँचा काम कर लोगे, पर काम सब एक से होते हैं। आत्मा सभी के लिए बेचैनी में पड़ती है।

'चुप रहो!' मैंने अपने आप को डाँट दिया।

जबलपुर आ गया था। नर्बदा के तट पर एकांत और शांति में कुछ दिन जीवन बिताने की बात सोची थी। गाड़ी छूट गयी शहर छूट गया। बस से जा रहा हूँ। उस जगह जहाँ प्रकृति बहुत निकट होती है।

एक दूसरी तरह का अनुभव लेने! बिलकुल दूसरा सब कुछ दूसरा!

--:o:--

एक बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह मन में खड़ा हो गया है। इन विशाल संगमरमरी चट्टानों के बीच एक अकेली अदम्य आत्मा लगता है जैसे मेरे होने से ही यह है। मैं दृष्टा इनका अस्तित्व सार्थक करता हूँ। इन्हें देख कर मन आकांक्षाहीन हो उठा है, यह विराट अणु-सा दिख रहा है। विशाल से विशालतर होता हुआ मेरा 'मैं' जैसे इन सब पर छाया है। नील-नील आकाश! स्फटिक का वह पर्वत, बीच में बहती नर्बदा! ऐसे में मन को लघु होना नहीं भाता। एक अहम् है जो मुझे गलाये दे रहा है। जैसे मैं जहाँ खड़ा हूँ वहाँ नहीं हूँ। क्षितिज के इस ओर से उस ओर तक खुले चौक में मँडरा रहा हूँ। लगता है जीवन का सर्वोत्तम, सुखद क्षण यही है जब कहीं ले जाने की इच्छा फूट पड़ी हो। पर ऐसा हो कहाँ पाता है। जब बाहर सब कुछ समेटने लगता हूँ तो अंतर में विस्फ

जाता है। अंदर-ही-अंदर जब कुछ सोचता हूँ, तो मन दूर भागता है। अपनी पहुँच से परे आकलन करने लगता है। अनंत में डूबने की इच्छा अणु से प्यार करती है।

कभी लगता है जैसे यह सब है, क्योंकि मैं हूँ। दूसरे ही क्षण बात उलटी प्रतीत होती है, लगता है कि यह सब है इस लिए ही मैं हूँ। एक अजीब-सी भूलभुलैया में पड़ा हूँ। सोचने लगा हूँ उन सब बातों के बारे में जिनके न होने से कहीं कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसे सब कुछ एक अनोखे क्रमहीन चक्कर में चल रहा है। यह पहला अवसर था जब एक बारगी इस वन-पर्वत की शोभा से अकस्मात् मेरा सारा अस्तित्व झनझना उठा था। अणु-अणु कण-कण जैसे काँप उठा था। उस सम्पूर्णता के सामने एक ऐसी सम्र्णता थी, इतनी सम्पूर्णता कि सब कुछ सम्पूर्ण बाँट देने के बाद भी सम्पूर्ण ही रह जाता है। सब भरा-भरा अनन्त-अगम्य !

इस अनन्तता में डूबता-खोता न जाने कितनी देर तक वैसे ही खड़ा रह गया। लगता था इससे कहीं आगे हैं वह त्रिवेणी की भूमि के धवल कण, चिलचिाती धूप भी जहाँ पहुँचते-पहुँचते एक बार मंद पड़ जाती है और मैं उस धूप को, बालू पर, बालू की लहरों के किनारे बिखरे, देखा करता था।

यहाँ खड़े हो लग रहा है जैसे मैं यमुना-गंगा के संगम पर हूँ। दो भारी-भारी हाथ मुझे घेरे हैं। मेरे बाबा के हाथ हैं ये ! मैं उनकी गोद में बैठा गंगा के किनारे हो रहे पिण्ड-दान की क्रिया देख रहा हूँ। लाल मौली, लाल कपड़े, लाल रोली, हरित कुशा, कण्डे की अधकच्ची आग, काला तिल, पान, फूल, सुपाड़ी, जव के आँटे के छोटे-छोटे पिंड, ब्राह्मण का मंत्रोच्चारण, नाऊ का वह बिना धारवाला उस्तुरा, उससे उठती खर-खर की आवाज, मुड़ रहा आधा बालों से भरा आधा सपाट सिर। कुछ साँवली-सी मिट्टी पर गिरे काले-काले बाल, ऊपर फूस की मड़ैया, बगल में ऊँचे बाँस पर बनी पताका, बड़ी-बड़ी सन्दूकों में रखे मोटे बही-

खाते, किनारे एक कोने में बँधी बछिया और उसकी बार-बार चीत्कार करती हुई उसकी रँभान, जैसे सब कुछ सारा सराजाम मेरे आगे सज गया है। दो मोटे हाथों के बीच गोंद में फँसा खड़ा हूँ। शरीर में हरकत नहीं है, पर मन तिलमिला रहा है। जो हो रहा है उसे इतने पहले से देखा है कि जैसे मेरी सारी दुनिया यहीं सिमट कर रह गयी है।

अब वह सब देखकर नहीं समझ में आता कि क्या उसके आगे भी कुछ सोचने की सामर्थ रही है कभी मेरे मन में ? जैसे अभी भी मेरे कानों में उस पोपले मुँहवाले कर्मकाण्डी ब्राह्मण की बार-बार अपने में ही टूट रही आवाज टकरा रही है, अस्पष्ट शब्द सुनते-सुनते मेरे कान पक गये हैं, सारी नसों में बहते रक्त की हर बूँद जैसे वह सब कुछ दोहरा रही है।

मैं बाबा की गोद में बैठा-बैठा देख रहा हूँ। दो छोठी-छोटी मारकीन के कपड़े की थैलियाँ जिन्हें खोलकर जजमान ने फैला रखा है। उकंडू बैठा घुटने के बीच दोनों हाथों को जोड़कर वह कह रहा है—'यह मेरे बाप के फूल हैं।'

बाबा हमेशा के लहजे में कहते हैं—कहते चले जाते हैं। पर मैं सोच रहा हूँ—फूल बहुत देखा है, वह फूल जो माली की टोकरी में भरे होते हैं। वह टोकरी जिन्हें लेकर माली कमर तक पानी में घूमता-घूमता गंगा के बीच चिल्लाता फिरता है—'चढ़ाओ गंगा मैया को, फूल फूल हाजिर है सरकार !'

उसकी टोकरी में लाल गुलाब है, पीला गेंदा है, सफेद अगस्त है, हरी तुलसी है और उसी रंग का मिलता-जुलता बेल का पत्ता है। पर इस झोली में स्याह मिट्टी है, कुछ कंकड़-सा दिखता है। उफ, कैसा फूल है ?

धीरे-धीरे उन फूलों की महिमा समझ में आती है। यह मनुष्य शरीर के फूल है जो चिता में पक कर फूले हैं। यह इस जिजमान के बाप की हड्डियाँ हैं जो कभी लाखों मन अन्न पचा गयी होंगी। इनके

सहारे कभी एक इंसान धरती पर चलता रहा होगा। बाप की काया को ठिकाने लगाने के लिए हजार-हजार मील चल कर यह जजमान आया है। मेरे लिए यह खिलवाड़ ही है, मुझे मजा आता है। कभी-कभी किसी को बाबा डाँट कर कह देते हैं—'जब नहीं है सामर्थ तो खुली बहती हैं गंगा, कोई रोक है? जाकर प्रवाहित क्यों नहीं कर देते।'

वह आदमी कातर बना बैठा रहता है। वैसे ही हाथ उसके जुड़े हैं। मैं बूट पहने हूँ, बाबा तखत पर बैठे हैं। वह आदमी गीली मिट्टी में नंगे पैर दो घंटे से बैठा है बाबा उसके साथ कम पैसोंवाला पंडित कर देते हैं।

बाबू के ज़माने में व्यवस्था और बदल गयी है, अब हर चीज उस सहूलियत और आसानी से नहीं हो पाती। जब पैसे लेने होते हैं तो भी मैं सायकिल लेकर शाम के समय यहाँ आता हूँ। आज भी पंडितजी, वह पोपले मुँहवाले नहीं, दूसरे जो अंगरेजी ढंग का कोट पहनते हैं, जो धोती के नीचे चमरौधे की जगह पर फ्लेक्स का बूट पहिनते हैं, जिसमें ढेर-सी कीचड़ लगी होती है, बड़े इत्मीनान से कहते हैं—'बोली अपना नाम लो, कहो कर्म हीन, श्रद्धाहीन, धनहीन, ज्ञानहीन! और मैं अपने कान बन्द कर लेना चाहता हूँ। यह समझदार आदमी अँजुली में पानी लिये है, उसकी अँगुलियों में कुशा की अंगूठियाँ पड़ी है। ब्राह्मण देवता ऊँचे तखत पर बैठे उसके हाथ में तिल फेंक रहे हैं और वह कहता जा रहा है—'दान कर रहा है, उस माँ के लिए जो कहीं पिशाच योनि में पड़ी तड़प रही है।'

मैं अपना ध्यान उस ओर से बरबस फेर लेता हूँ। लेकिन किसी भी तरह उन सारी चीज़ों से, जो हो रही हैं उनको जान कर अनजान तो नहीं बना जा सकता!

वैसे ही सात-सात आठ-आठ लोग कतार से पुटली खोले बैठे हैं। किसी के माँ के, किसी के भाई, किसी के बाप के फूल हैं उनमें। पहले

काम केवल सुबह होता था। शाम का आया मुसाफिर सुबह तक ठहरा रहता था। पर अब दुनियां में आबादी ज्यादा बढ़ गयी, आदमी अधिक मरने लगे हैं, समय छोटा हो गया है। हर कोई हर काम जल्दी-जल्दी निपटा कर भागना चाहता है। चार बजे गाड़ी से उतरता है तो दस बजे रात तक सब काम चट-चप निपटा कर सुबह की गाड़ी से भाग जाना चाहता है।

मैं बाहर खड़ा हूँ, मड़ैया के अन्दर जाकर नहीं खड़ा होता। मुझे देखते ही एक आदमी मेरे बाबू के कानों में जाकर कह देता है, फिर बाहर झाककर मेरी ओर देखते हुए कहता है—'आयें सरकार बैठें! लेकिन यह सभी जानते हैं कि मैं बाबा के मरने के बाद शायद दो-तीन बार ही उस जगह जाकर बैठा हूँ जहाँ बाबू बैठते हैं। कितनी बुरी तरह गाली दी है बाबू ने! पर शायद अब वह जगह मेरी नहीं रह गयी। मुझे वहाँ बैठा लेने में वह सफल नहीं हो सकते, इसलिए उन्होंने कहना छोड़ दिया है।

कभी-कभी मैं थोड़ी देर वहीं फूस की टट्टी के बाहर खड़ा रहता हूँ, सायकिल की एड़ लगाये अन्दर चल रहे प्रलाप को सुनता रहता हूँ। मोटी आवाज में कोई कह रहा है--'तो तोर महतारी आयें का?'

'हाँ महाराज!'

'तो सो सवा सौ की भी सामर्थ नाहीं आये?'

भुनभुना कर वह आदमी न जाने क्या जवाब देता है।

'अरे कलजुग माँ प्रत्यक्ष की देवता है गंगा! फिर ई त्रिवेणी, ई जमुना, गंगा त्रिवेणी का संगम, खुला धार है, कोई रोक थोड़ी है, जाव न! जरूरत का आये!'--यह मेरे बाबू की आवाज है। जो एक-ब-एक बन्द हो जाती है।

पीछे से खड़ा कोई कह रहा है--'कुछ निपटाय देव जैसे-तैसे एहकर काम !'

'निपटाय देयीं ! देखते तौ हव ! अरे ऊ महतारी जौन नौ महीना पेटे में पालिस, पाल-पोस कै बड़ा किहेस; जेकरे बल से ई खड़ा अहैं, ओहके लिए उनकर सामर्थ नाहीं अहैं। कै दिन भा गुजरे ?'

'बारह दिन।'

'बारह दिन ! का चाहत है ?'

'महाराज, सुफल होय अम्मा कै काया !'

तौन हम का कुछ औरे कहित है ? हमौं तो वही चाहित है बोल न झटपट कह जा। कुछ कपड़ा बासन लाये अहे ?'

'कुछ नाहीं महराज !'

कुछौ नाहीं, फुन का चले आया ? देखा उहाँ घर पर कुछौ काम भवा है ?'

'नाहीं, महाराज !'

'तब तो सेजिया दान, सबै बाकी है। ऊ सब काम महाबायंहन का करै के पड़ी और एक ठे नाहीं, चौरासी दान करै का पड़त है। का है घर में खेती-ओती होत है ?'

'हाँ, महाराज।'

'कितने बिगहा का ?'

'यही चार-पाँच बिगहा का।'

'तौ तुमर पास कुछौ सामर्थ नाहीं अहे ?'

'नाहीं, महाराज।'

एक तीसरा आदमी जो हमारे यहाँ का नौकर है बोल पड़ता है--'ऐसन करा, जौ कुछ देवे का होय ऊ हियाँ देदा और बाकी लिखाय जा,

फसिल कै समय हमार आदमी अइहैं उनका हुआँ दै दिहेया । घरै पर, बोला है मंजूर. .:?'

मैं आगे सुन नहीं पाता । सायकिल लिए दूर हट गंगा के किनारे जा खड़ा हो जाता हूँ । सोचता हूँ कभी यह सुना था कि काम अब ठेके पर होने लगा है। पहले हर शाम को चार-पाँच खटिया घर आती थीं, न जाने कितना बरतन-रजाई, तोसक आता था बाबा के साथ । बाबा कुछ रखते थे कुछ बाँट देते थे । कभी-कभी जिनके पास कुछ नहीं होता था वह सामान की जगह नगद पैसा दे देते थे। पर अब सारा कुछ एक मुश्त रकम पर कर दिया जाता है।

सोलह पिण्डे की जगह बार-बार सोलह पैसे नहीं रखाये जाते। तीन सौ साठ पिण्डों की पूजा के लिए तीन सौ साठ दमड़ी नहीं चलती । सौ पचास में सारा काम हो जाता है। सवा रुपए में एक गोदान हो जाता है ।

यह सब बुरा लगता है मुझे । पर धीरे-धीरे यह आदत-सी पड़ गयी है। सब कुछ जानता हूँ, सुनता हूँ, फिर भी आ खड़ा होता हूँ । जानता हूँ घर पहुँचने के बाद इन पैसों में से कुछ नहीं मिलेगा। मुझे इसलिए पैंसों की मार यहाँ घसीट लाती है। जरा देर खड़ा रहकर मैं भाग उठता हूँ।

सायकिल की गद्दी को पीठ से टिकाये गंगा की लहरों पर बँधे घाट देख रहा हूँ । जमीन में बाँस गाड़-गाड़ कर चौकियाँ और तख्त पानी पर ही बाँध दिये गए हैं। गंगा जिधर-जिधर भागती फ़िरती हैं, संगम में बँधे ये घाट भी वैसे ही डोलते फिरते हैं। यात्री गण इन पर अपने कपड़े रखकर डुबकियाँ लगा पाप धोते है । घाटिये चन्दन, टीका, कंघा, सीसा रखकर सुफल बोलाते हैं—माई जी हाथ जोड़ो !—'स्नान ध्यान पूजा-पाठ सर्व विधे परि पूर्णम् !'

हाथ जोड़ने वाली औरतें श्रद्धा से शीश नवा चल पड़ती हैं। सांझ का यह समय ? घाट सूना है, फिर भी लगता है, जैसे जोर के साक्षी भरे स्वरों में हर घाट पर बार:बार यही शब्द भिन्न-भिन्न कंठों से उच्चरित हो रहा है। बिना धर्मात्मा के इस तरह हामी भरे जैसे वह स्नान पूरा नहीं होगा। हर स्नान यात्री को विदा करते हुए वह इन शब्दों को दोहराता है। वह ध्वनि उसके न रहने पर भी उस वातावरण में गूंज रही है।

मैं खड़ा-खड़ा देख रहा हूँ--देख रहा हूँ, उन मल्लाहों को उनके उन लड़कों का जो कँपकपा देनेवाले इस ठंडे पानी में एक मैली-सी बनियाइन या नंगी देह कमर तक डूबे हुए छाती पर हाथ बाँधे हिल रहे हैं। अनोखी तरह से यह इन घाटों के आसपास हिलते रहते हैं।

हर साँझ को घंटों आप उनका इस तरह हिलना देख सकते हैं। क्या मजा आता होगा इन्हें ? यह क्यों रह-रह कर एक पैर से खड़े हो जाते हैं। दूसरा पैर कोई चीज पकड़े ऊपर आता है, यह पैसा है। पुजापे के वे पैसे जो स्नानयात्री इस पवित्र-पावन गंगा में छोड़ जाते हैं, वे इसकी तलहटी में पड़े रहते हैं। यह मल्लाह पैर से हल्के-हल्के बालू सहला कर पैसे टटोलते हैं। जैसे ही तनिक-सा अवकाश मिलता है कि यह पैर की अँगुलियों से पकड़ कर ऊपर उठा लेते हैं।

अजीव है वह देवता !

उसके देने की माया भी अजीव है। वह जब देता है तो देने के लिए अनोखे तरीके अपना लेता है। मेरे बाबू कुटिया में, मड़ैया में बैठकर पैसे पुजा लेते हैं। देनेवाले भी अजब होते हैं ! कहाँ कौन मरता है, कहाँ कौन पाता है ? पर यह कर्म ! यों ही न जाने किस विश्वास के सहारे ये पैर चलाते हैं और पैसे बीन लेते हैं गंगा की गोद से !

एक बार यों ही जिज्ञासा जागी तो मैंने एक को पकड़ लिया। वह बोला--'भैया, हमारी तो पीढ़ियाँ इस नदी के किनारे बीत गयीं। जब

भी पैसा नहीं मिलता, तो इस माँ के पेट को आ खँगाल लेता हूँ। बारह-चौदह आने पैसे दो एक घंटे में निकल जाते हैं।'

कहने वाला इस तरह कह हँसता हुआ चला गया जैसे वह अन्नपूर्णा का अकथ भंडार हो। दूसरा आदमी जो पास में खड़ा हमारी बातें सुन रहा था कहने लगा--'अजी आप लड़के हैं! मायी का प्रताप क्या जानें! लेनेवाला चाहिए, माई से जो मांगो वह मिलता है। यह तो दो-चार पैसे ही पाकर खुश है।

पीछे घूमकर लौटता हूँ तो देहातियों के एक गोल के बीच एक ब्राह्मण खड़ा है और छोटी-सी बछिया की पूँछ पकड़ कर एक युवती और उसका पति खड़ा है। दोनों के हाथों में कुशा है, चुल्लू से पानी टपक रहा है, पुजापा करनेवाला कहता है–'जो मैं कहता हूँ, वैसे कहते जाओ, बोलो!'

उसकी बात को वह भोले-भाले देहाती जिनकी खोपड़ियाँ सफाचट हैं, जो सिर पर गठरी लादे खड़े हैं, दोहराते जा रहे हैं।

'हे पिता जी तुम्हारे बैतरणी पार होने के लिए जो कुछ श्रद्धा थी हम यह गोदान करते हैं!'

'चलो छुट्टी हुई पैर छुओ!'--वह आदमी झिटकारता हुआ कहता है।

वह दोनों युगल उस बछिया के पैर छू रहे हैं।

ब्राह्मण फिर जोर से पुकारता है—'चलो बचनू की माई कौन है? आगे आओ!'

उसके हाथ में एक परचा है, जिससे वह नाम पढ़-पढ़कर पुकारता है। देहातियों के उसे गोल में सभी झिझक रहे हैं, जैसे जानते ही न हों कि इसमें कोई इस नाम की भी औरत होगी। सभी एक दूसरे का मुँह देख रहे हैं।

वह आदमी फिर चिल्ला कर कहता है--'अरे आओ सामने ! अवते काहे नाहीं ? कौन है ? चला, चला सामने आवा !'

सिर पर पोटली, गठरी दबाये झिझकती हुई एक अधेड़ उमर की औरत इस तरह सामने आती है जैसे वह खुद नहीं जानती कि वह बचनू की माँ है।

पुजापा कराने वाला फिर जोर से डाँट कर घुड़कता है--'जल्दी चली आवा न इधर ! तोरे नाव है न बचनू की अम्मा ?'

वह औरत जहाँ-की-तहाँ चुप खड़ी है।

वह फिर जोर से इस तरह घुड़कता है, जैसे कोई साहब का पेशकार हो--'केहकर हाड़ा रहा ?'

वह और सहम जाती है।

पास ही खड़ी एक दूसरी औरत और दूर खड़ा एक दुसरा आदमी कहता है--'इसके आदमी का।'

'फिर बोलती काहें नहीं ? चला यह पैर धोवा !'

हाथ में पानी देता हुआ कहता है--'थोड़ा-थोड़ा पानी डारा, बछिया के चारो पैर पर ! हों, ऐसेन।'

वह उसी तरह कर रही है।

पूँछ पकड़ाते हुए कहता है—'ले जल ले अँजुरी में...मासा नाम मासोत्तमे मासे श्रीकृष्ण पक्षे द्वितीया याम (जोर से) आपन नाम ले और कह कौशिक गोत्रे श्री कृष्णापर्ण मस्तु। बोल—कह ना ..कहती का हैं नहीं !'

औरत झिझकती है—फिर भी बुदबुदाती है–'हे पतिदेव, तुम्हारे बैतरणी पाने के लिये, स्वर्ग में जाने के लिए, यह गौदान करती हूँ।'

पास ही खड़ा मैं यह देख रहा हूँ कई बार इच्छा होती है कि इन भोले देहातियों से कुछ कहूँ, इस पुजापे वाले से कहूँ, लेकिन कुछ कह नहीं

पाता। उनसे कहना चाहता हूँ कि आदमियत से बोल तो सकते हो? बात ठीक से बोलो। इनका ही दिया खाते हो और इस तरह इन्हें हीं झिड़कते हो! लेकिन मैं तो इतना भी नहीं कह सकता। लण्ठ आदमी के आगे कुछ कहना अपनी ही जड़ खोदना है। भैंस के आगे बीन बजानेवाले गायक की तरह कोई इन्हें समझा सकेगा, तो शायद समय ही!

मैं लौट कर अपने बाबू के निशान के नीचे आ खड़ा होता हूँ। जानता हूँ तब तक बाबू ने पैसे निकाल रखे होंगे।

इस निशान से मेरा इतना ही सम्बन्ध है, केवल इन कुछ कागज के नोटों का! वे पैसे मैं बराबर ले आया करता था। वह यह जानते थे लड़का खर्चीला है, लेकिन देने के सिवा कोई चारा भी तो नहीं था उनके पास!

मुझे अच्छी तरह याद है जब पहली बार मैं पैसे लाया था तो शायद झूठ बोल कर ही लाया था। उन पैसों को मैंने ले जाकर राम चरित्तर के आगे रख दिया।—'तुम रखो इन पैसों को, ज़रूरत पर तुमसे ले जाया करूँगा।'

लेकिन वह आदमी भी क्या खूब था? पैसों को परे हटाकर उसने कहा था—'नहीं राजा भैया! मैं पैसे कहाँ रखूँगा? तरकीब बता देता हूँ, फिर जित्ते पैसे चाहो वहाँ जोड़ते रहना।'

सोचता हूँ बिरले ही होते हैं ऐसे आदमी, जो सामने आये पैसों को इस तरह हटा देते हैं।

रामचरित्तर महाराज को बहुत पहले से जानता हूँ। सुना था वह कभी बरमा में थे। रंगून के डाकखाने में काम करते थे। फिर न जाने क्या हुआ रंगून वालों ने सारे हिन्दुस्तानियों को निकाल दिया। वहाँ से

वह प्रयाग आये और अब मरने के दिन गिना करते थे। उस समय मैं काफी छोटा था, जब मैंने उन्हें देखा था।

उन्हीं के पास बैठकर मैंने उन अनजाने देशों के बारे में सुना जहाँ वह रह आये थे। वह बाँस के जंगल, वह हाथियों का कमाल ! रंगून की बातें, वहाँ के रहनेवालों की कहानियों को सुना सुनाकर वह हमेशा मेरे मन में घूमने की उत्कंठा जगा देते थे। कहा करते थे—'राजा बाबू, मेरा बस चले तो मैं हर जवान आदमी को धक्के देकर उसे घर से निकाल दूँ और कहूँ बाहर जा ! अपनी रोटी अपने आप कमा ! घर से बाहर निकलने पर ही आटे-दाल का भाव पता लगता है।'

जब जी ऊबता था; जब भी घर की बातें अच्छी नहीं लगती थीं, मन रूठ जाता था, तो मैं उनकी कोठरी में पहुँच जाता और वह उन जगहों की कहानियाँ सुनाते जहाँ कभी हम लोगों का राज्य था। वह उन मन्दिरों की बातें करते थे जो विदेश होते हुए भी एक तरह से पूरा भारत हैं। जहाँ के रहने वाले सभी नाम से मुसलमान हैं पर रामायण रात भर खेली जाती है, उनके यहाँ। उनके रहने के तरीके भिन्न हैं। वह बोर-बदूर के मन्दिरों की, मलाया की सड़कों की, उनके खाने-पहिनने और पारियों के नाच की मजेदार घटनायें सुनाते थे।

मैं पूछता—'तब दादा तुम चले क्यों आये ?'

वह गम्भीर हो उठते, बात टाल जाते। जैसे उन्हें इस बात का काफ़ी सदमा था। वह दूसरी बात छेड़ देते। मैं कहता—'दादा बड़ा होकर मैं भी खूब घूमूँगा, कभी घर नहीं आऊँगा।'

वह हँसते और रीती आँखों से मुझे देखते। जैसे मेरी बात उन्हें बहुत खोखली लगी हो।

धीरे-धीरे मैं उनसे बहुत-सी बातें पूछता। वह बताते हुए भी कहते—'लेकिन राजा बाबू सपने देखना अच्छा नहीं ! बहुत-सी बातें होती हैं, जो जिन्दगी में पूरी नहीं होतीं।'

मुझे उनकी वह बातें आज भी उसी तरह याद हैं। उन्हें क्या मालूम था वह अनजाने में ही उत्कंठा के नन्हे-नन्हे बीज मेरे मन में बोते जा रहे हैं। अब मुंदी पलकों से मैं सामने के स्फटिक पर्वत की श्रेणियों को देख रहा हूँ। नीचे बहती नदी को देख रहा हूँ। सारा अतीत जैसे सिमिट कर बिम्ब में बिन्दु होकर बिखर गया है। स्मृति की एक तीखी गन्ध है, जो मन को उत्पीड़ित कर गयी है। मन-ही-मन में अपने गुरु को नमन करता हुँ।

मेरे पैसों के साथ ले वे डाकघर में ले गये। वहाँ उन्होंने सारे पैसे जमा करा दिए हैं। लौटती बार उन्होंने कहा—'यहाँ पैसे सुरक्षित रहेंगे। जब चाहो निकाल सकोगे।'

कभी-कभी वह समझाते हैं—'तू घरवाला होगा, गृहस्थी बसायेगा...।'

उनके कुछ आगे कहने के पूर्व ही मैं उन्हें चुप करा देता हूँ—'यह तुम कह रहे हो दादा! तुम जानते हो मैं बहुत बदल गया हूँ।'

'अभी बहुत कुछ बाकी है बेटे।'

और मैं उनकी बातें सुनता हूँ, खूब सुनता हूँ। उनकी बातें केवल अतिरंजित करनेवाली नहीं हैं। उनमें रस है, जो मेरे मन के बोल को लय और ताल देता है। उनके सहारे मैं कल्पना करता रहता था उस दुनिया की जहाँ केवल मैं होऊँगा—स्वयं भोग्य, स्वयं योग्य।

आज यहीं खड़े होकर उनकी बड़ी याद आ रही है। मेरे यहाँ आने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गयी थी। उस दिन मेरे हाथ में राहुल की पुस्तक थी—'घुमक्कड़ शास्त्री।' बहुत पहले निकली होगी पर मेरे हाथ अब लगी थी। उसको लेकर मैं उनकी कोठरी में गया, तो वह बुखार से तप रहे थे।

दो-तीन दिन के बाद आज अचानक उनकी कोठरी में जा पहुँचा था। दो ही दिन के बुखार में जैसे वह टूट चुके थे। मेरे डाक्टर लाने की बात

को भी उन्होंने काट दिया था। वह कह ही रहे थे--'तुम मेरे पास बैठो कुछ देर।'

घुमक्कड़ शास्त्रीवाली किताब उन्हीं के पास छोड़ मैं, उनकी कही अधसुनी कर, चल पड़ा था डाक्टर के लिए। लेकिन लौट कर जब आया, तो वह किताब उनकी छाती पर खुली उलटी पड़ी थी और वह चल बसे थे।

लगता है जैसे अभी-अभी मैं डाक्टर को लेकर लौटा हूँ। फटी हुई आँखें दरवाजे की ओर टिकी हैं। न जाने वह क्या कहना चाहते थे? मेरी समझ में नहीं आता—कुछ घटनाएँ इस तरह अप्रत्याशित रूप से क्यों आ पकड़ती हैं जीवन को? क्यों ऐसा होता है कि हम लाख छटपटाते रह जाते हैं और सब कुछ रहते हुए भी हम वह नहीं कर पाते जिसके लिए दिल में सालों से मशाल जलती रही है। पढ़े-लिखे आदमी अधिकांश बेवकूफ़ होते हैं और मैं भी उनमें से एक था। दादा मुझे रोककर कुछ कहना चाहते थे। शायद उन्हें अपने जाने का आभास मिल गया था और मैं बावला था कि बिना उनकी सुने ऊपर-ही-ऊपर चल पड़ा था, डाक्टर लाने के लिए।

न जाने वह क्या कहना चाहते थे।

वे हिन्दी पढ़े थे और उन्होंने घुमक्कड़ शास्त्री के कुछ पन्ने उलट कर देखा जरूर होगा? वह क्या सोच रहे होंगे कि किताब उनके सीने पर आ गयी और अकेला हंस चोला छोड़कर चल पड़ा।

बहुत देर तक एक चट्टान पर बैठा-बैठा अपने-आप से लड़ता रहा। फिर वापस लौट पड़ा इस होटल के लिए जहाँ बैग रखा था।

हर मंथन को आत्मसात करने के बाद मन निर्मल हो जाता है। नहीं याद पड़ता यह पंक्ति किसने सुनायी थी।

वहि अंगना वहि देहरी,
वहि ससुरो को गाँव।
दुल्हन दुल्हन टेरते,
बुढ़िया पड़ गो नाँव।—

पर अचानक यह पंक्ति मन में उछल आयी और लगा कितना सच है। वह कौन-सी रेखा थी जहाँ एक दिन की दूल्हन दूसरे दिन बुढ़िया वन जाती है। वह कौन-सा दिन था जो महीना वन गया। वह कौन-सा महीना था जो एक दिन साल हो गया। विभाजन की वह रेखा जीवन में महीने में, साल में, किस अंतर पर खींची जा सकती है। होटल में व्यवस्थित होकर जैसे ही खड़ा हुआ, तो लगा मन थोड़ा शिथिल है। इस शिथिलता के आवेश में ही, 'वहि अंगना, वहि देहरी।' याद आयी थी और लगा कि मेरे ऊपर वय का प्रभाव पड़ रहा है।

कमरे के सामने दोनों ओर की खिड़कियाँ खुली थीं और सामने क्षितिज पर टेसू की लाली बिखरी थी। तपते अंगारे की एक झाँई हर चीज को छूती, दमकाती फैली हुयी थी। बाहर-भीतर का कुहासा इससे कट रहा था कि लगा सामने गैलरी से जो अभी-अभी गया है, जैसे जाना-पहचाना है।

कौन है वह ?

मन ने दोहराया, सुप्रभा! वह और यहाँ! तब तक आकाश झुंड-के-झुंड झिलमिलाते कचपचैया तारों से भर गया था। मैं अभी भी उसी तरह उलझा बैठा था।—बैठा रहा।

टूट कर अलग हो जाने का सुख और पीड़ा साथ-साथ चल रही था।

नदी और वह भी पुनीत गंगा, गर्मी की साँझ, चौड़ा विशाल पाट, आर-पार दूर तक फली बालुका राशि! बीच में कहीं झूंसी के

किनारे टकराते मुख्य प्रवाह से कटकर एक भटकती हुई धारा आ फँसती है। पिंडलियों तक उथला पानी—थका-हारा, निश्चित, उदास।

कभी इसके किनारे भी घाट रहा होगा ? एक ठूठ-सी बल्ली अभी पानी के किनारे गड़ी है। बल्ली से अधिक शांत है उसकी पानी में पड़ती परछाईं। एक चिड़िया—शायद खंजन है नम-गीली धरती पर पड़े पुजापे के चावल बीन कर चोंच में ले बार-बार उस बल्ली पर जा बैठता है। मैं पानी में पड़ती बल्ली और चिड़िया की परछाईं को खड़ा गुमसुम निहार रहा हूँ, खोया-खोया-सा ! मन के कूल से टकराता हुआ; क्योंकि मरना काफी कठिन है और जीना, उसकी विरासत के क्या पूछने ? शायद उसकी विरासत में अगर कुछ मुश्किल है तो वह है हठ निभाना। उन सारी मुश्किलों का पहाड़ है पले हुए हठ को तोड़ गुजर जाना। धरती का यह आँचल और उस पर उदास रेती का प्रसार, बीच में ठहरा पानी, पानी में पड़ते ठूँठ और खंजन प्रतिबिंब। हर चीज अकेली और इस एकाकीपन की घनी स्मृति ! तुम्हारी याद क्यों आयी सुभी। लगता है जैसे अभी चलती-चलती तुम कह जाओगी—'तुमी की जानो, तुमी बोका!' जैसे यह सुनने को मेरा मन मचल उठा। जी में आया लपक कर एक बार झाँकूँ तो बढ़ूँ तो। पर अनजाने की परवशता ने पैर जकड़ रखे थे, वैसा ही बैठा रहा। यह तो होटल है, आनी जानी दुनिया है।

तुम क्यों और कहाँ गुम हो गयीं ? यह जानने की लालसा अभी भी मन के किसी कोने में जीवित है। लगाव कुछ गहरा महसूस हो रहा है, जैसा पहले महसूस नहीं किया था—क्योंकि हर व्यक्ति के आगे सपने हैं और पीछे कहानियाँ। और सपने तथा कहानी दोनों के पाये झूठ में ही गड़ते हैं। वह झूठ जो जिंदा रहने की ललक भरता है। कभी इस तरह के झूठ से मैं घृणा करता था, पर आज अचानक यह झूठ अच्छा लगता है। सोचता हूँ 'काश तुम झूठे ही यहाँ दिख जातीं और एक बार मैं तुम्हारे मुँह से सुन लेता—'तुमी की जानो, तुमी बोका।'

नहीं जानता था कि कभी-कभी मनचाही भी हो जाती है। तुम आगे-आगे निकल गयी हो और मैं पीछे से मापता रह गया हूँ ऐसा यहाँ कई बार हुआ हैं। लेकिन हर बार मैं उसे झूठ समझकर टाल गया था। पर उस समय जब तुमको उस युवक के साथ देखा तो अत्यन्त ही आनन्दित हुआ। तुम किनारे लग गयीं—यह सोच कर जी को कितना भला लगा था और दौड़कर मैं तुम्हें बधाई देना चाहता था। पर यह क्या, तुम उस आदमी के आगे भी मेरी बाहें पकड़ कर झूल गयी थीं कि मैं अवाक् रह गया था। खेलने की तुम्हारी यह प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ जायगी सोच कर मन को दुःख हुआ। चाँदनी के उजले आकाश में उड़ाने भरतीं, अनुराग भरी आँखें लिये तुम इस तरह ललक आओगी—मुझे अंदाज नहीं था। और तुम कहे जा रही थीं—'केमन आचो, वोलो तो! की...आमी भालो लागी ना...। सुनो, सुनो एक टी काथा बोलते चाई!'

और फिर हम तुम एक कोने में अलग हो गये थे। मैं तुम्हारे साथ वाले आदमी की आँखें ही देखता रह गया था। समझ ही नहीं सका था तुम्हारा यह स्वाँग! जान ही नहीं पाया था कि जो कुछ तुम कहे जा रही थीं वह किसको बेवकूफ बनाने के लिए था—मुझे या उसे?

उस रात मैं तुम्हारा आसरा देख रहा था। सोच रहा था तुम आओगी तब तुमसे पूछूँगा—'यह क्या स्वाँग है? कहाँ अलोप हो गयीं थी और यहाँ कैसे आ गयीं? लेकिन तुम नहीं आयीं। सुबह उठा और उठते ही बैरे ने बताया—कलवाली बीवी ने आत्महत्या कर ली। नर्वदा के किनारे लाश मिली है। आप नहीं जानते मालिक इस भेड़ाघाट और धुआँ-धार के आस-पास हर साल इस तरह की दो-एक घटना हो जाती है। बड़ा अनोखा-सा किस्सा है मालिक। नर्वदा के कगार ही इतने ऊँचे हैं कि कभी-कभी तो उस ऊँचाई पर खड़े होते ही अचानक कूद पड़ने की इच्छा होती है।

मैंने पूछा, 'लाश कहाँ है?'

'अभी तो वहीं होगी । पुलिस के पहुँचे बिना कैसे लायी जा सकती है !'

पैर में हवाई चप्पल डालता हुआ भागा । टैक्सी लेकर जा पहुँचा। पुलिस पहुँच चुकी थी और लाश निकाली ही जा रही थी।

मैंने दूर से खड़े होकर देखा—जल इतना निर्मल कि नीचे की सारी चीजें स्पष्ट दिख जायें । झलक रही थीं औंधे मुँह गिरी सुप्रभा ! आस-पास का थोड़ा-सा पानी लाल हो गया था ।

मैंने भीड़ में खड़े व्यक्ति को पहचान लिया—सुप्रभा इसी के साथ आयी थी, कल यही था। पहचान कर उसके कंधे पर हाथ रखा, तो पाया उसकी आँखें छलछला गयी हैं । लगता था मेरे कुछ कहने के पूर्व ही वह रो पड़ेगा । इसलिए उसकी तरफ देखने, उससे कुछ कहने, कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हो रही थी । इसमें मैं ही कमजोर था, मेरे ही मन का किला ढहा जा रहा था।

दिन भर लाश ठिकाने लगाने में समय लग गया । बीच-बीच में कुछ बातें होने पर पता चला वह आदमी कौन है ? क्या है ?

उसकी आँखें सूख गयी थीं। जैसे व्यथा का एक अगम्य कूप बन गया था वह—कैसा उत्पीड़ित ! उस समय उससे कुछ पूछ नहीं पाया।

दूसरे दिन सवेरे-ही-सवेरे उसके कमरे के बाहर जाकर खड़ा हो गया। लगा वह रात को सोया नहीं। सारे कमरे में सब कुछ फैला पड़ा था। जैसे यह सामान नहीं सुप्रभा ही जहाँ-तहाँ बिखरी है ।

जानेवाली चल बसी थी और सभी कुछ इस तरह बिखेर गयी जैसे अभी लौटकर आयेगी तो समेटेगी । मेरी आँखें, कंघे, शीशे, लिपिस्टिक, पाउडर, नन्हीं-नन्हीं चीजों पर घूमती हुई उस तस्वीर पर जा टिक गयीं। अच्छे खूबसूरत निकल के फ्रेम में सुप्रभा का पोर्ट्रेट था ।

मैं उस आदमी से बिना कहे ही अंदर चला गया और जा कर उस शृंगारदान के पास खड़ा हो गया। वह आदमी अभी भी मुझे खाली-ख़ाली आँखों से घूर रहा था।

'तो आज आप चले जायेंगे!' मैंने टोका।

वह बुत क़ी तरह बैठा रहा, देखता रहा।

मुझे उसका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। मैंने वह तस्वीर उठा ली और उसे देखने लगा। फिर उसकी ओर वढ़ाकर मैंने धीरे से पूछा—'शादी हो चुकी थी तुम्हारी?' और स्नेह से उसके कंधें पर मैंने हाथ रख दिया।

वह एकाएक फूटकर रो पड़ा। मैंने इसकी आशा नहीं की थी।

बाद में जो कुछ सुना, उससे लगा, जिंदगी ने उसके साथ बहुत ही भयानक नाटक खेला है, जिसमें क्लाइमेक्स का इंतजार नहीं रह गया है।

सुप्रभा, एक खूबसूरत लड़की!

हसीन!

अच्छी-सी! बहुत अच्छी।

हसीन लड़की को अपने ऊपर गर्व करने के लिए किसी और बात की जरूरत नहीं पड़ती। उनकी जिंदगी का सीधा फार्मूला है किसी ऐसे आदमी की नजरशाये हो जाना या खोज लेना, जिसकी दौलत के आगे हुस्न घुटने टेक दे और बस कहानी ख़त्म! लेकिन सुप्रभा की कहानी यहीं से शुरू होती थी।

जब से वेश्यालय बंद होने के लिए कानून पास हुए कि लड़कियाँ राह चलतों को घेरने के लिए जगह-जगह लुके-छिपे अड्डे बनाने लगीं। सुप्रभा उनमें एक होगी यह मुझे उस आदमी की जबानी ही मालूम हुआ, जिसका नाम अमित था।

अमित एक व्यवसायी पैसेवाले का बेटा था और उसके रास्ते में सुप्रभा पड़ गयी थी जबरन। वह उसके रास्ते में पड़ जाय——यह सुभी की इच्छा नहीं थी।

सुभी मेरे रास्ते में भी आ पड़ी थी; लेकिन उस समय यह नहीं झलकता था कि वह किस किनारे बह रही है। मेरी उसकी भेंट अचानक हुई हो, सो बात नहीं। होटल में आना-जाना शायद उसने शुरू ही किया था उस समय, लेकिन मेरे सम्पर्क की प्रतिष्ठा यौन शुचिता से ऊपर थी। समस्त आत्मीयता और प्रेम के ऊपर भी अगर किसी निरामिष सम्बन्ध की कल्पना करने में कोई सफलता प्राप्त कर सकता है, तो शायद वैसा ही कुछ सम्बन्ध मैंने उसे देने की चेष्टा की थी। नारी की शुचिता को मलिन करने के लिए इस देश में किसी भीष्म साहस की आवश्यकता नहीं पड़ती। भली-से-भली चरित्र निष्ठावाली को बात-की-बात में पाप के उस कोहवर में बिना प्रयास के खींचा जा सकता है। रसभरी मुक्त आँखें यदि मन की नन्हीं-सी पर्त उधेड़ सकने में सफल हो जायें तो विश्वास लादने की भी जरूरत नहीं पड़ती। फिर एक सुन्दर शरीर को सड़कों पर कोई भोग के लिए घसीटता फिरे यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। इसलिए खोद-खोद कर पूछता रहा अमित से! एक तीखी छटपटाहट जाग पड़ी थी मन में, सुभी के संबंध में सब कुछ जानने की, सब कुछ सुनने की।

अमित कह रहा था:

'मैंने उसकी घिनौनी जिन्दगी से कोई वास्ता नहीं रखा। कभी यह सोचने की चेष्टा ही नहीं की कि वह क्या है, कौन है? पहली बार मेरी मुलाकात उससे बम्बई के एक होटल में हुई थी। वहाँ मैं योंही जा पड़ा था और उस समय शायद यह वातावरण का प्रभाव रहा हो या ऐसी ही कुछ और बात कि मैं अपने मन की भूख को समझ नहीं सका था। बस जी में आता था जैसे अभी किसी से भेंट हो जायेगी और वह मेरी बन बैठेगी जबरन, ऐसी ही अकुलाहट मन में छायी थी। नहीं जानता था

कि मन की यह रूमानी कल्पना क्यों मन को छू गयी थी। उसी तरह के खोये-खोये से भाव लिए मैं खड़ा था और सामने दीख गयी थी सुप्रभा ! जैसे किसी ने मन को झकझोर कर चेता दिया था। वह मुख, सारे गोपन को व्यक्त करती सँभालते-सँभालते भी फिसल-फिसल जाती साड़ी, नीचे लटकता पल्लू, एकबार उठकर हमेशा-हमेशा के लिए झुक जानेवाली नजर. .बस !

भला बताओ कौन बावरा इनसे मुक्ति पा सकता था। मैं नहीं जानता कि आप को वह कहाँ मिली और आप किस तरह उससे अलग हो गये ? क्या सम्बन्ध रहा उसका और आप का ? पाप में कोई जड़-मूल नहीं होता। उसकी बेल बिना किसी सहारे के फैलती चलती है। लेकिन मैंने तो सुभी में कभी पाप नहीं देखा था, मैं क्या जानता था कि वह उसका एक भयानक नाटक है ? वह जब पहली बार मुझे दिखी थी, तो उसकी टेबल पर एक वयस्क उम्र का पके बालोंवाला नाकाबिल-सा आदमी था। उस बड़े शहर के रहन-सहन से मेरा कोई पहले का परिचय नहीं था, मैं क्या जानता कि वह सुभी क्या थी ? लेकिन उस साँझ के उन चन्द मिनिटों के बाद वह हमेशा मुझसे कटती ही रही, पर क्यों ?

मैं तो यही समझता था, शायद मैं उसके योग्य नहीं हूँ और बराबर यही चेष्टा करता रहा कि उसे पा सकूँ, पूरी तरह अपनी बना लूँ। मैं नहीं जानता था कि वह प्रेम के नाम क्यों लानत भेजती है ? वह उन सारी आधार-शिलाओं को जिस पर एक अच्छी भरी जिन्दगी टिकी रहती है क्यों झूठा और खोखला कहती है ? शायद किसी ने उसे धोखा दिया होगा। किसी से ठगे जाने पर आहत हुई होगी वह। लेकिन इसकी क्या दवा थी कि वह घर रहे और घंटिया घनघनाती रह जायँ, वह मेरे टेलीफोन का उत्तर न दे। जब भी एकाएक मैं उसके फ्लैट पर जा पहुँचता, तो वह स्मृतियों के न जाने किस मुट्ठी में सिमटी जलती रहती। मुझे दुतकार देती थी। लेकिन यह सब केवल एक दिखावा था

जिसे लाँघ जाना, जीत लेना ही मेरे लिए श्रेयस्कर था। मैं जानता हूँ संसार में पूर्ण सत्य, पूर्ण सुन्दर, पूर्ण नैतिक या पूर्ण सद्गुण जैसा कुछ नहीं है। लेकिन शायद इन सब के ऊपर भी कुछ है जो हमारे सारे प्रश्नों से भी परे है। उसके सम्बन्ध में हमें प्रश्न उठाने ही नहीं चाहिए क्योंकि उनका उत्तर ही नहीं हो सकता। इनका सुलझाव हमें जबरन दुःख, निराशा और विनाश की भयानक चिता के ही किनारे ले जाता है। लेकिन लाख चेष्टा के बाद भी उस विनाश से नहीं बच सका।

मैं बीच-बीच में अमित को टोक कर सांत्वना दे रहा था। समझा रहा था। लेकिन खुद यह बात मेरी समझ से परे हो गयी थी—आखिर क्यों सुभी इस तरह से जान पर खेल गयी। उस साँझ जब वह मेरे सामने पड़ गयी थी, उसके इस तरह के व्यवहार का रहस्य सूत्र मैं नहीं जोड़ पाता था।

अमित आगे कह रहा था :

'एक दिन काठ की हाँड़ी फूट ही गयी। एक दिन यह पता लग गया कि यह जो ढेर सारे पैसे मेरे साथ खेलने के लिए लुटा रही है वह एक घिनौने व्यवसाय से जकड़ी है। तब समझ आया कि वह क्यों मेरे साथ बाहर कम निकलती थी। हर समय अधिकाधिक हम लोग फ्लैट् में ही जिन्दगी गुजार रहे थे।

'यह जानकर बुरा तो मुझे भी लगा था कि मैं यह क्या कर बैठा? लेकिन फ़िर समझ ने साथ दिया और धीरे-धीरे उसके विगत जीवन से परिचय पाने लगा।'

सुभी ने कहा था—'औरत और खासकर खूबसूरत औरत के पास भूख, बेरोजगारी और गरीबी से बचने के लिए इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता कहाँ है? मैंने समय से पहले अपने रास्ते को बदल लिया। अपनी मुस्कान और चितवन दूसरों के मुनाफे में बेचने के बजाय स्वयं

के फायदे के लिए जहाँ-तहाँ गिरवी रखती गयी। और उसके एवज में जो कुछ मिला है बहुत है। इसलिए मैं तुमसे कहती हूँ, तुम्हें जो कुछ लेना था तुम पा चुके हो उसके आगे तुम्हें क्या दे सकती हूँ ?'

वह रो रही थी। कहती जा रही थी—'तुम्हारी चौड़ी छाती, सुर्ख होंठ और कजरारी आँखों की चिनगारियाँ किसी भी नव-यौवना को पागल बना देने के लिए काफी हैं। लेकिन मुझे तो इन सबका कुछ दूसरी ही तरह से वास्ता पड़ा है। मेरे पास जवानी लुटानेवाले युवक नहीं आते, तुम कैसे आ गए मुझे ताज्जुब हुआ था। मेरा वास्ता तो उन खोखले लोगों से ही पड़ा है जो होटलों के बाहर सदाचार और भव्य चरित्र की गगनचुम्बी इमारत को सिर पर ढोते फिरते हैं। लेकिन मेरे पास आ कितने नंगे होते हैं उनके व्यवहार। मेरे सामने हो जब वह अपनी अधेड़ उम्रवाली थुलथुल पत्नी के साथ खड़े होते हैं तो समाज को दिखाने के लिए कैसी हिकारत लाते हैं अपनी आँखों में? उनकी हिपोक्रेसी की नकाब देखकर क्या मैं नहीं कुढ़ती ? लेकिन इससे क्या, मेरी निगाह तो हर समय उनके भारी पर्स पर जमी रहती है। मेरा और दुनिया का सम्बन्ध क्या है ? क्या दुनिया ने मेरे साथ मजाक नहीं किया। क्या मुझे अपनी जिन्दगी बिताने का हक नहीं था ? मैं क्यों जबरन उस शिकंजे में कस दी गयी; है जवाब कहीं ?

और मैं जवाब दे रहा था। उसे अपनी बाहों में अधिकाधिक कसते हुए मैंने जितना भी सम्भव था उसे देने की कोशिश की। जितना दे सकता था दिया उसको, पर सब छलना ही रहा। क्योंकि वहाँ से भाग कर हम लोग जहाँ भी गए, हर जगह उस रूप-जीवा का कोई-न-कोई भक्त मिल ही जाता था। यह उम्र और पुजारियों का यह जमघट ! लगता था वह चित्रलेखा है और मगध का हर युवक उसके रास्ते में पलक-पाँवड़े बिछाये खड़ा है।

कोई भी ऐसी जगह नहीं मिली जहाँ हफ्ते, दो हफ्ते में एक-व-एक प्रशंसक न दिख गया हो। लेकिन उस प्रशंसक की बात प्रशंसा तक ही सीमित नहीं रहती थी। हर अँगुली पकड़नेवाला हाथ बढ़ाकर पहुँचा पकड़ने की चेष्टा करता है; लेकिन जिसने पहले ही से पहुँचा पकड़ने का अधिकार पा लिया हो उसे मैं अपना घर-बार छोड़ कर भी कब तक रोक पाता? एक दिन हर चीज़ पुरानी पड़ जाती है। वर्षों साथ रहने के बाद भी शादी के बन्धन हम पर नहीं पड़ पाये थे। और एक दिन अचानक सुप्रभा कह ही गयी थी—'आमी सुख चाई, आराम चाई आर तुमि दिते पारबे ना।'

वह इतनी निर्दयी हो सकती है। मैं जान नहीं सका। क्यों मुझसे इस तरह वह घृणा करती है? कोई तो कारण होगा और वह कारण मुझे पता लगा ही। वह इसलिए परेशान थी कि वह कहाँ तक अपने रूप-प्रेमियों से बचती फिरती! उनके आ जाने पर मेरी दशा बुरी हो जाती थी। हम लोग उस शहर को छोड़ कहीं दूसरी जगह डेरा बसाने चल पड़ते थे और कुछ दिन बाद कोई दूसरा आ खड़ा होता था और वह उन्हें यह समझाने में असमर्थ रह जाती थी कि वह अपनी जिन्दगी बदल रही है। वह आदत डाल रही है, वेश्यावृत्ति के बाद इज्जत से जीने की। लेकिन एक बार पला हुआ हठ बड़ी कठिनाई से टूट पाता है। उसकी हर साँझ नये आदमी, नयी रुचि के साथ जीने की लालसा को शायद मैं हर रोज नया-नया होकर पूरा नहीं कर सकता था? शायद उसकी खौलन को बुझाने के लिए मैं काफी नहीं था!

तुमसे भेंट होने के पहले वह अच्छी तरह से मुझसे उलझ चुकी थी। कह चुकी थी—'तुमी जाव, आमा के छेड़े दाव, आमी तोमार माने होते पारवो ना। न..न.. जाओ, तुमी जाओ! छेड़े दाव आमा के!'

गर्म होकर टूट जानेवाला उस पर यह बुखार छाता था। वह वहशत में बड़बड़ाती थी, लड़ती थी और मुझसे छुटकारा पाने के जितने

प्रयत्न हो सकते थे कर बैठती थी। और शायद वैसे ही उस दिन भी वह प्रयत्न में थी जब एकाएक तुम हमारी टेबुल के सामने आ गए थे।

जब वह तुम्हें लेकर एक कोने की ओर गयी तो मैं उठकर चला गया था। उस जगह उसकी जिन्दगी को पाप लगाने के लिए तुम आ गए थे। हर जगह कोई-न-कोई उसकी ओर अँगुली से इशारा करता हुआ खड़ा रहता था।

मैंने अमित को बहुत समझाया। अपने और सुभी के सम्बन्धों की लाख सफायी दी, पर वह नहीं माना। सुभी मुझे छोड़कर क्यों चली गयी? मैंने क्या कह दिया था...मैं किसी भी तरह अमित को विश्वास नहीं दिला पाया!

एक और पाप मेरे माथे पर टँक गया था। अमित को बिदाकर मैं उस कगार पर जा कर खड़ा हो गया जहाँ सुभी ने अपने प्राण होम कर दिये थे। वहाँ खड़ा मैं स्वच्छ पानी में झाँक रहा था। भलाई पर से मेरा विश्वास उठ गया था। मुझे अमित का दुःख खाये डाल रहा था। ऐसा क्यों होता है? अमित का दुर्लभ आश्रय सुभी को न भाया। भायी तो यह नर्बदा की गोद! जहाँ वह नगण्य हो खो गयी थी।

सब कुछ छोड़ बिदा होते हुए जब वह उस कगार तक पहुँची होगी, उस समय उसके मन में क्या बीत रही होगी? उसके अंतर में दुःख होता तो वह किसी भी तरह अपने को उत्सर्ग करने में फलीभूत न हो पाती। सब कुछ छोड़कर चल देने के लिए मतलब का न रह जाना आवश्यक है। जरूरी है कि संन्यासी की तरह कोई अवहेलना से भी लौटकर न देखे, सब कुछ अनदेखा कर चला जाय। उस बाँध को लाँघने के लिए अपरिमित साहस की जरूरत होती है--एक गंभीरतर वैराग्य के संतोष की। और उसे लगा इन सब के मूल में निहित सारी लाँछना अमित ने उसकी ओर थोप दी है। यानी क्या कहा था उसने एक कोने में ले जाकर मुझसे?

क्या सफाई दूँ ? जानता था कुछ भी कहूँगा वह सही नहीं माना जायगा। इसलिए चुप उसकी बात सह ली और अंदर-ही-अंदर टूटता रहा, बिखरता, जुड़ता, बनता रहा। लेकिन उस बनने में कोई अर्थ नहीं था, जुड़ने में कोई रस नहीं था।

अमित चला गया था सब कुछ समेट कर, पर मैं उसके चेहरे की भाषा को भूल नहीं पाया था। जैसे अपनी ही गलती से उसने मार खाई थी और खुद ही सब कुछ भोग रहा था।

इसी व्यथा से उत्पीड़ित मैं अपने कमरे में दिन भर पड़ा रहा। मुझे तार मिला। तार पर नाम मेरा था, पता मेरा था, इलाहाबाद से आया है।

मेरा पता घर कैसे पहुँच गया ?

इस प्रश्न को मैं सुलझा नहीं पाया। लेकिन तार में जो कुछ लिखा था वह और भी भयानक था।

वन्नो को साँप ने काट लिया।

मन शरीर को छोड़ वेग से उड़ पड़ा, यहाँ-वहाँ, जहाँ-तहाँ। जैसे अपने पर ही, अपने अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं हो रहा था। यह क्या मखौल है ?

घर का रास्ता सामने था। गाड़ी का समय सामने था।

चुनने गिनने की कोई बात नहीं थी।

मैं भाग रहा था। गाड़ी पकड़ने के लिए, घर आने के लिए। एक अकुलाहट थी, व्यथा थी, जो मेरे मन को चाक-चाक कर रही थी, बींध रही थी, काट रही थी।

—:०:—

निर्मल

मन की बाट हमेशा दो पाटों पर ही क्यों झूलती है ? क्यों ऐसा लगता है कि तर्क एक ओर जहाँ समाधान करता है वहीं छलता भी है ? सोच में पड़ जाता हूँ और नहीं समझ पाता कि आत्मतुष्टि ठीक है या असंतोष की भावना। यह सारे प्रश्न मेरे लिए आज बलवान हो उठे हैं। तुम वापस क्या आये राजू, ऐसा लगता है जैसे मैं उन बहुत-सी बातों की सफाई नहीं दे पाता जो मेरा मन मुझसे पूछता है। एक ओर जहाँ मेरी आस्था हार नहीं मानती और सोचने लगता हूँ कि मनुष्य की क्षमता अपरिमेय है दूसरे ही क्षण शंका हावी हो उठती है क्यों है जिंदगी ऐसी ? जीवन का यह क्रम कभी नहीं बदला। तुम्हारे मुँह से जिन बातों को सुनने का अधिकार मुझे था वही बातें मुझे छल गयीं। तुमने मेरी आस्था को यों पराजित कर दिया जैसे वह है ही नहीं। विशाल से विशालतर बनने की तुम्हारी कल्पना आज कितनी झूठी हो गयी जब तुम यों आकर खड़े हो गये—कितने बौने-से कितने छोटे ! गया हुआ आदमी यों लौट आया ! और लौटा भी, तो अगम्य दुःख में गोता लगाने ! कैसा दुःखी हुआ था मैं तुम्हें देखकर और तुम मुझसे कुछ सुनना चाहते थे। क्या कहता मैं तुमसे..?

हम दोनों यों ही थे। मैंने उस समय भी तुम्हें देखा था जब तुम्हारे बाबू तुम्हें छाती से लगा खुशी में रो रहे थे। जरा सोचो, तुम्हारे वापस आने में कौन हारा कौन जीता ? बन्नो ! आह, उसके बारे में तुम मुझसे पूछते हो, तुम्हारी यह विह्वलता (क़मजोरी ही इसे कहूँगा) नहीं स्वीकार होती।

याद है मैंने तुमसे कहा था—ऐसा क्यों होता है राजू कि एक ओर द्रौपदी के लिए सब युद्धरत हो महाभारत करते हैं, दूसरी ओर सब के लिए सीता को परित्यक्ता बनाकर राम छोड़ देते हैं ? ऐसी मिसाल हर जगह बिना चेष्टा के मिल जायगी।

एक के फेर में सारे घर और समाज को छोड़कर पहाड़ों में जा रमने वाला साधु एक दिन वहाँ से लौट कर ज्ञानी बन जाता है, कहता है उसे 'एक' मिल गया है। उसका साक्षात्कार हो गया है और वह मठ बनाता है। पुनः बहुत में समाने की कोशिश करता है। बुद्ध और ईशू ने यही किया न! तुम चुप थे और मैं पूछ रहा था--'कौन सही था बुद्ध या तथागत? वह जो यशोधरा के साथ अपने छोटे से पुत्र को सोता छोड़कर चल पड़ा था, या वह जो ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान बाँटने आया था?'

मेरी सारी जिज्ञासाएँ एक क्षण के लिए जरूर तुम्हें भी बकवास लगी होंगी। लेकिन तनिक गम्भीर होकर बात को तौलने पर तुम उस सत्य से नहीं भाग सकते जो हर घड़ी तुम्हें गला रहा है। भटकते के सुख से मेरा कोई सरोकार नहीं, मैं नहीं जानता कि तुमने क्या अनुभव पाया? लेकिन जो प्रत्यक्ष है उसे बीते हुए से कैसे तौला जा सकता है? जो बीत गयी सो बीत गयी, जो है उसके सत्य से भागना संभव नहीं। आज और अभी जो है वह हमारे-तुम्हारे सभी के लिए दुःख है। बन्नो के इस तरह चले जाने का दुःख! वह असह दुःख जिसे पार कर जाना बहुत ही कठिन है।

यह कठिनाइयों का दरिया या पहाड़ मन का आभास नहीं तो और क्या है? बन्नो के चले जाने की बात झूठी हो सकती है तो यह बात भी झूठी हो सकती है कि तुम कभी घर छोड़कर गये थे। तुमको देखने के बाद भी जिन लोगों ने बन्नो को नहीं देखा, उनके लिए बन्नो केवल एक कहानी के पात्र से ज्यादा भी क्या कुछ है? मन की ऐसी शंका तर्क के कट्टु फलक पर भी झुठलायी जा सकती है। उन लोगों के लिए क्या कहा जायेगा जिनके लिए तर्क या शब्द कोई अर्थं ही नहीं रखते। अर्थ ग्रहण करने की अवस्था एक ही व्यक्ति में एक समय में कई तरह से आ जाय, यह भी सम्भव है। उस समय जब बन्नो के फूल तुमने देखे थे,

तुम्हारा मन कहाँ था ? तुम्हें सशरीर उपस्थित देख, मेरे मन ने अर्थ ग्रहण करना छोड़ दिया था। मैं कुछ देर के लिए कहाँ था यह मन समझा नहीं पाता, जैसे सब कुछ ठहरा-ठहरा-सा था। कितनी देर तक मैं उस खोखले पन में जी रहा था, जिसके अनुभव बता सकना मेरे बस का नहीं रह गया। वह मन: स्थिति ही अजीब होती है जब एक ही साथ सारा कुछ पास होते हुए भी दूर होता है और दूर होते हुए भी पास होता है। एक क्षण में यह दोनों अवस्था का जीना क्या माने रखता है ? मैं अपनी उस स्थिति से तुम्हें परिचय नहीं करा पाता, जिसमें अपरिमित ताकत का अनुभव सीमित में ही प्राप्त होता है। क्या विराट का दर्शन अणु में कुछ ऐसा ही अर्थ नहीं रखता, जब हम होते हुए भी नहीं की संज्ञा में होते हैं।

नहीं जानता कि तुम्हारा मन किस तरह की बातें सोचता है और क्या अर्थ रखता है इस तरह का सोचना ! लेकिन क्या यह मनुष्य की ताकत है कि वह उन अवस्थाओं से भाग सके। वह कुछ देर के लिए अपने मन को झुठला सकता है, वह उन सारी बातों को चेतना के धरातल पर नकार सकता है, मेट सकता है, पर जो क्रंदन, जो रुदन किसी चीज के लिए बराबर अचेतन में चला करता है, जिसका अनुभव अनजाने में ही बींधता-खसोटता है, उसे नहीं मेटा जा सकता, राजू ! इस बात को तरह-तरह से समझाया था मैंने। वह बींधने वाला सत्य एक होता है, और उसके रूप में कभी माँ होती है, कभी बाबू होते हैं, कभी बन्नो होती है ! समय समय पर उसका चोला बदल सकता है, पर सत्य नहीं।

इन सारी बातों को कितना ही फैलाते जाओ बात शब्दों में बढ़ती ही जाएगी, अर्थ में नहीं ! और अर्थ ग्रहण करने के कुछ ही अवसर आते हैं जब व्यक्ति को अपने साथ सभी चीजों के होने की बात समझ में आती है। समझ में आता है वह परिवर्तन, वह क्षणिक रूप जिसके पीछे अपनी ही एक अजेय सत्ता का शास्वत रूप दिखायी पड़ता है, जो सब कुछ न भोगते

हुए भी भोगता है, न खेलते हुए भी खेलता है। कितना झूठ! अगम्य झूठ! अनर्थक झूठ! एक झूठ का दरिया है जिसमें हम सब बहते जा रहे हैं, बस बहते जा रहे हैं। हाथ-पैर फेंकने के, निकल भागने के सारे अनर्गल प्रयास क्या अर्थ रखते हैं इस बहने में?

एकदम सही है यह बात कि बन्नो को साँप ने काट लिया। उसे कोई भी हो, हम तुम तो झुठलाने वाले नहीं है! यह भी सही है कि बन्नो मर गयी और तुम भाग गये। तुम कहते हो कि बन्नो से तुम्हारी कोई शास्वत दुश्मनी थी, भाग्य की दुश्मनी! और अपनी हार भाग्य के सिर थोपने वाले राजू! हम यह क्यों नहीं सोचते कि यह सब हम लोगों ने खुद ही बोया था।

और तुम तर्क कर रहे थे—ठीक है, यह हमारा किया हुआ है दुःख हम भोगें? लेकिन उसके लिए बन्नो को क्या मर जाने में दुःख नहीं हुआ होगा। वह मर गयी, वह एक पति का प्यार, एक बच्चे का मुँह देखने को क्या न तड़पी होगी? क्या उसके मन में अधिकाधिक जीने की लालसा मरने से पहले मिट गयी थी?

मैंने तुम्हें समझाया था कि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर ही नहीं होता, मैं तो उससे बड़ी बात भी तुम्हें सुना गया था।——उस डाक्टर के कलेजे से पूछो जिसके अस्पताल में छोटे-छोटे शिशु जो बीमारी के बंडल की तरह ही पैदा होते हैं और मर जाते हैं——किसलिए? क्या वह केवल दुःख भोगने ही नहीं आते। क्या पाप होता है उनका? क्या हक है उस शक्ति का जो इस रूप में खेलती है। मन को समझाने के लिए हम बड़े-बड़े पुराण क्यों न बना डालें; लेकिन वास्तविक सत्य नग्न रूप में कभी नहीं आता। मेरी इस बात पर तुम भी चुप हो गये थे। क्योंकि बात की खाल निकालने के बाद हमारे लिए कोई चारा नहीं शेष था। आँखें मूँदकर एक अंधे कुएँ में ही तो घूमते हैं इस जीवन में हम सब इसलिए बाँटने और लुटाने से क्यों चूका जाय। जो हो गया उसके लिए

रोना उतना ही बेकार है, जितना कि आने वाले के लिए शंकित हो कर हाय-पर-हाथ धर कर बैठ जाना ।

बस यहीं पर हमारी तुम्हारी बात टूट गयी । क्योंकि इससे आगे सोच पाने की शक्ति क्षीण हो गयी थी और तुम बिना कुछ कहे उठ-कर चले गये थे ।

शायद बुरा लगा था तुम्हें ! मेरे पास कोई चारा नहीं था । पर हम यों हार मान लें इसलिए मैं तुम्हारे साथ दुःख बँटाने रोज आ जाता था—आता रहा ।

--:०:--

बन्नो

सोचती हूँ ! क्यों सोचती हूँ वह सब ? अपने ही आप प्रश्न करती हूँ, फिर अपने ही आप मन को समझा लेती हूँ । यह भरमाना नहीं, तो और क्या है ? राधा को मनाने के लिए कृष्ण ने ऊधव को भेजा था । ऊधव का रूप रंग कृष्ण से कितना सम रस था । लेकिन ऊधव की बात गोपियाँ नहीं समझ सकी थीं । मेरे जैसों के दुःख से राधा पूर्व परिचित नहीं थी तभी तो वह भोली प्रिया ठग ली गयी थी । मुझे भी तुमने ठग ही लिया है । शायद सीता को अपने उनके वियोग का दुःख मालूम था । वह किसी भी दशा में राम को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई । काश, मैं इतनी पगली न हुई होती ? काश, तुम्हें पहले से इतना न जानती होती । तब जरूर ही तुम्हें इस तरह तो न खो देती । क्या मेरी कमी तुम्हें नहीं खलती होगी ? इस बात को सोचकर जी धक् से रह जाता है । मेरी कमी से तुम्हें दुःख होगा, यही तो मैं नहीं चाहती । नहीं चाहती कि तुम्हें दुःख हो ।

सच मानो तुम जो कुछ सोचते हो मुझे सब पता लगा जाता है। मैं जो सोचती हूँ क्या वह तुम्हें नहीं पता लगता होगा ? यह जानने का कोई तरीका मेरे पास नहीं !

आजकल पटनेवाली भाभी आयी हैं, कहीं और जाते-जाते यहाँ उतर पड़ी हैं। एक बारगी वह दालान में आकर खड़ी हो गयीं। मैं उधर से चौके के लिए निकल रही थी, उन्हें देखते ही पैर ठिठक गये, जैसे किसी ने जलती अंगीठी कलेजे में रख दी हो। मैं सिर उठाकर उनकी तरफ कैसे और कितनी देर देख पायी--यह अंदाज नहीं है। लाख चाहा कि जी थम जाय, पर अपने को रोकते-न-रोकते उन्होंने बाहें फैला दी थीं। उन्होंने मुझे ममता भरी गोद में समेट लिया, साहस का सारा बाँध टूट गया।

रोने से जी हल्का हो जाता है--यह सुना था। क्या उनका आना जरूरी था ? अपने शायद इन्हीं दिनों के लिए तो होते हैं। दु:ख क्या बाँटने से ही पूरता है ? पर तुम्हारी कसम का प्रतिबंध था ? उन्होंने भी निर्मल भाई की तरह सब तरफ से कुदेरना शुरू कर दिया था। कितने झूठे बहाने बनाने पड़े थे। वह सारी बातें गौने के समय तुम्हारे जाने के बाद भी पूछ चुकी थीं, पर उस समय पूछने में वह गहराई नहीं थी। उस समय पटने जाते हुए भी वह मुझे गले लगाकर रोयी थीं, 'बन्नो, तू विश्वास रख, मेरा राजू तुझसे दूर नहीं जा सकता। कहीं ऐसा न हो कि तू अपने को घुला डाले और जब राजू लौटे तो उसे चमन वीरान मिले।' ऐसे नयी तरह से बोली थीं भाभी कि एक बारगी हँसी आ गयी थी। पर अब तुम्हारी हमेशा की हँसोड़ भाभी भी गमगीन दिखीं, तब अपने ऊपर शक होने लगा। शीशा देखना छोड़ रखा था, किसके लिए शीशा देखती ? पर भाभी की बात याद कर झट शीशे के सामने खड़ी हो गयी, जी भर आया। भाभी कहती थीं, 'चिंता में तू गल न जाना!'

और मैं कहीं से भी पाव रत्ती घटी नहीं। मैंने भाभी से पूछा था--'कैसी, दिखती हूँ?'

एक क्षण के लिए वह मेरी बात सुन बौखला गयी थी। मैं क्या कह रही हूँ वह एक बारगी समझ नहीं पायीं। ठीक भी था अपने आदमी को इस तरह खो देने वाली औरत से ऐसे सवाल की उम्मीद कैसे की जा सकती है? मैं हँसी नहीं करना चाहती थी। हँसी का मूड ही नहीं बनता था, भाभी गमगीन थीं। बात को मैंने नया रुख देना चाहा था, कहने को मैं कह गयी थी। मैंने खूब गौर से देखा था कि भाभी को मेरी बात अच्छी नहीं लगी थी।

रात में बड़ी देर तक हम दोनों जागती रहीं। भाभी के हर सवाल का जवाब मैं केवल 'हाँ, हूँ' में देकर बात काट रही थी, मेरे मुँह पर तुम्हारी कसम के चाँप चढ़ी थी। कई बार ऐसा लगता था कि कसम की यह दीवार अब खिसकी, अब गिरी! कैसे बताऊँ! मन के अंदर जो ज्वालामुखी धधक रहा था उसे झूठ बोल-बोलकर समेट रही थी। चाहती थी तुम्हारी परीक्षा में असफल न हों जाऊँ, वरना तबियत तो कई बार ऐसी हुई कि भाभी एक बार जोर से मुझे अपनी बाहों में लपेट लें और उनके आगे मैं अपने मन के अंगारे उगल दूँ; वह सारा कुछ कह डालूँ। शायद मेरा साहस यह सब कर नहीं पाया।

धीरे-धीरे भाभी सो गयीं, मैं फिर आकर उस शीशे के पास खड़ी हो गयी। मेरा माथा सूना था, मैं काँप उठी। तत्क्षण उठाकर सिंदूर मैंने अपने माथे में लगा लिया। फिर मैं बड़ी देर तक अपने शरीर को, अपने मुँह को देखती रही। मन में कैसी कलबलाहट-सी हो रही थी। न-जाने कितनी देर तक वैसे ही बैठी रही, तुम्हें अपने पास अनुभव करती रही। फिर कब उठी? कब खुरदरी खाट पर पड़ गयी? कब सबेरा हो गया? क्या सोचती रही यह याद नहीं रह सका। बस, इतना

ही लग रहा था कि इस शीशे ने जैसे मन की कोई अनोखी पर्त उघार दी है। याद के ऊपर जो पपड़ी समय ने डाल दी है वह एक बारगी चटक गयी है, याद ताजी हो गयी है। खुरदरी खाट में शरीर को खूब मीच कर पड़ी हूँ। बान के कड़े रेशे शरीर में जहाँ-तहाँ चुभ रहे हैं। उनसे क्षणिक राहत मिलती है ! राहत जो अपने में अपूर्ण है। अपूर्ण जो पूर्ण का अंश नही। शायद उसका उलटा है। एक तिलमिलाहट है। नहीं जानती यह तिलमिलाहट कहाँ जन्म लेती है। शरीर में, मन में, आत्मा में या तीनों जगहों में एक साथ।

रात बीत गयी, दिन हुआ। भाभी चली गयीं। वह क्यों आयी थीं? इस बार का उनका आना खल गया है। बार बार न जाने क्यों अपने ही आप शीशे के आगे जाकर खड़ी हो जाती हूँ, बड़ी देर तक खड़ी रहती हूँ। अपना ही शरीर अपने को इस तरह अच्छा लग सकता है यह मैं नही जानती थी। एक फटन है, एक दर्द है, जो अंदर-ही-अंदर नोच रहा है। मैं ही नहीं शरीर का हर रोम-रोम जैसे तुम्हारे नाम की मालायें जपता हुआ अर्तनाद कर उठाता है।

क्या नही आओगे ?

क्या धोखा ही होगा ?

तुमसे किसी तरह के धोखे की आशा मैं नही करती।

जितना ही निराश होती हूँ उतनी ही आशा बँधती जाती है। तुम कल नही आये, आज जरूर आओगे ! शायद तब मैं सुफल हो जाऊँगी। यह सोचते हुए शीशे के सामने खड़ी खड़ी अपनी माँसल बाहों को अचानक ऊपर उठाकर चूम लेती हूँ। इस चूमने में वह आवाज नहीं पैदा होती जो ..।

और एक बारगी शर्म से गर्दन झुक जाती है।

लगता है तुम कही पास ही खड़े हो।

फिर आँखें फाड़कर मैं चारों ओर देखती रह जाती हूँ।

विश्वास है, निराश नही करोगे। शायद इसीलिए सब कुछ हार कर भी जी रही हूँ।

—:०:—

राजू

निर्मल भाई खूब कह लेते हो तुम ! सोचते होगे तुम्हारी बातों का बुरा मान गया। बुरी बातें हर किसी को बुरी लगेंगी, मुझे भी लगी हैं, खास कर कल की बातें। जिन बातों को मैंने कभी सोचा नहीं, तुम उनका उत्तर माँगते थे। तुम्हारी तरह सोचने की आदत मेरी नहीं।

पर कुछ अनोखे अनुभव अवश्य हुए हैं। मैं तुम्हारी तरह हर वात कह नहीं पाता, इसे मेरी कमजोरी ही कह सकते हो। तुमसे अलग होने के बाद मन बड़ा खट्टा रहा। तुम सीधे तरह से लताड़ लेते, बुरा-भला कह डालते तब शायद इतना दुःख न होता। पर तुमने बहुत अंदर तक चोट करने की कोशिश की है। मैं इसका कारण जानता हूँ, पर इसे मैं अपनी पराजय नहीं मानूँगा।

किसी को बुरा-भला कह डालने से आदमी की महानता खत्म हो जाती है, यही मैं तुमसे चाहता था। काश, कोई तो बुरा कहने वाला मिलता ? हर आदमी अपनी बुराई और कमजोरी से परिचित है— लेकिन रोना तो इस बात का है कि मुँह पर सभी मसीहा बनते हैं। तुमने भी वही किया, इसलिए लाख चेष्टा करने के बाद भी मैं तुम्हें दूसरे से अलग नहीं समझ पाया। बचपन में मेरी हीनता मुझे पीछे धके-

लती रही और अब! अब तो मैं हारा हुआ आदमी हूँ ही। इसलिए हम लोग चाहे कितने बड़े और निकट मित्र क्यों न हो, सगे भाई की तरह क्यों न रहे हों, क्या तुम्हें नहीं लगता कि हम लोगों में एक बड़ा फर्क है?

इस फर्क को तुम समझ सकोगे या नहीं, मैं नहीं जानता। लेकिन कभी-कभी लगा है जैसे वह फर्क मेरे मन में बहुत स्पष्ट होकर आ गया है। तुम्हारी बातें सोचते हुए एक घटना याद आ गयी।

एक जगह कुछ बच्चे तालाब में छिछली खेल रहे थे। एक लड़का एक पतला-सा पत्थर का टुकड़ा तालाब की सतह पर फेंकता था। पत्थर कई बार सतह पर उछलता हुआ डुब से पानी में डूब जाता था। मेरे दिल में आया और मैंने भी एक ढेला पानी की सतह पर फेंकने के लिए हाथ से उठाया था पर हाथ जहाँ-का-तहाँ रुक गया। ढेला जमीन पर डाल मैं लौट आया। मेरी यह क्रिया शायद बेवकूफों जैसी रही होगी; क्योंकि आस पास खड़े लड़के मेरे पीछे खिलखिलाकर हँस पड़े थे।

इस बाहरी प्रक्रिया ने मेरे अन्तर में क्या प्रभाव डाला, इसका कोई भी चिन्ह खोजने पर मुझे अपने अंदर नहीं मिल सका। हाँ, मुझे खराब जरूर लगा था। यह खराबी कहाँ से आयी थी? उसका जन्म कहाँ हुआ था? क्या लड़कों की हँसी ने मुझे उत्पीड़ित किया था। पर वे तो मेरे ढेला छोड़ देने के बाद हँसे थे। फिर! उसके पूर्व ही मन बदल गया था, अन्तर से बाहर का समन्वय टूट गया था। शायद यह समन्वय कभी रहा ही नहीं, उसका एक बारगी ही आभास मिल गया था। या कुछ इसी तरह की बातें थीं जिसे कोई घटना या अवस्था कह सकते हो। इसी तरह हम जो मेरे अन्तर में है, वह तुम जो बाहर हो उससे मेल नहीं खाता। न होने के बाद तुम्हारा जीवन क्या मेरे लिए कोई अर्थ रखता है? कभी-कभी ऐसी बहुत-सी पागलपने की बात सोचने लगता हूँ, पर मैं यह जानता हूँ यह बात कोरा पागलपन नहीं है। मैं मन के अन्दर जब खूब डूब जाता हूँ, तो मुझे तुम्हारी और अपनी दूरी का पूरा-पूरा आभास

मिलने लगता है। मैं अपने अन्दर मन की दुनियाँ में फैले रहे बिखराव के अन्दर एक 'कोहिरेन्स' (सामंजस्य) अनुभव करता हूँ।

मेरे अन्दर घट रहे भावों की स्पष्ट झलक मुझे अपने चेहरे पर दिखलायी पड़ती है। मैं आज बन्नो के कमरे में खड़ा हूँ। इसे उसका ही कमरा कहूँगा, यही कहना अच्छा लगता है! कभी अपना था, तब था। इतने दिनों बाद इस कमरे में आया हूँ। श्रृंगारदान के बड़े शीशे के आगे खड़ा हूँ। उसमें मेरा चेहरा दिख रहा है। पूरी तरह से आँखें गड़ाकर अपने चेहरे को देख रहा हूँ। वह झलक जो पहली बार एकाएक चेहरे पर दिखायी पड़ी थी जैसे मिट गयी और थोड़ी देर उसी तरह देखने के बाद लगा कि सचमुच यह दिल की ही झलक थी, जो चेहरे पर दिख रही थी। पैनी निगाहों ने मन को अलग करके देखना शुरू किया। लगा कि चेहरे की अपनी कोई खासियत नहीं है। दूसरों के चेहरे देखने से जो रस मिलता है वह अपने चेहरे में पैनी निगाहों से नहीं दिखायी पड़ता। शायद यह रस चेहरे में नहीं होता। मन ऊपर से गढ़ लेता है। जैसे पत्थर के किसी टुकड़े को हम जब-तब खूबसूरत या बदसूरत कह लेते हैं, वही हालत अपने चेहरे की भी लग रही है।

मैं अपने चेहरे की नीली आँखों को घूर रहा हूँ। शीशे में मेरी ही आँखें पत्थर की तरह लगती हैं। मैं काफी देर तक उनकी हरकत देखता रहता हूँ, बड़ी चेष्टा के बाद वह एक जगह ठहर पाती हैं। तब लगता है आँखों के अन्दर गोल-गोल घेरे हैं। मैं खूब आँखें गड़ाकर देखता हूँ। काले बिन्दु में बहुत से घेरों के जाल दिखलायी पड़ रहे हैं। एक घेरा दूसरे से सटा हुआ है। जैसे एक झील की सतह पर किसी ने पत्थर फेंक दिया है और गोल लहरें बढ़ती हुई किनारे तक फैलती जा रही हैं। पर मेरी आँखों में लहरें किनारे से उठकर मध्य में समाती जा रही हैं। इस तरह लहरों के उठने से एक प्रकाश-सा फैलता प्रतीत होता है। दो बहुत गहरे, न खत्म होने वाले सूराख हैं और प्रकाश की ढेर-सी किरणें!

यह प्रकाश मुझे बहुत अच्छा लगता है। मैं उसके रंग को छाँट नहीं पाता, यह बहुत से मिले-जुले रंगों का प्रकाश है। मैं अपने ही आँखों की झील की लहरों में हिलोरे खाता हुआ खड़ा हूँ।

मेरी निगाह शीशे पर उभड़ आयी आकृति पर घूमती है। ऐसा क्यों नहीं है कि विना शीशे के हम अपने को देखने में समर्थ हो जाते ? हमें अपने को ही देखने के लिए एक आधार की जरूरत क्यों पड़ती है ? मेरी आँखें, बाल, माथे, नाक और गाल सभी पर से घूम रही है। मुझे अपने चेहरे में आँखों को छोड़कर कहीं भी कुछ ऐसा नही लगता जिसे मैं अपना कह सकूँ, क्योंकि मैं इस चेहरे को भी शीशे में दूसरों के चेहरे की तरह देख रहा हूँ। जब मैं छोटा था, तो मैंने सुना था कि तुम अपनी सूरत बहुत देर तक शीशे में देखोगे तो तुम्हें उसमें तुम्हारी सूरत की जगह बन्दर दिखाई पड़ेगा। यह बात न जाने क्यों एकाएक मन में उठ आयी और लगा जैसे बन्दर से भी कोई गया-गुजरा वीभत्स जानवरपन इस चेहरे में छिपा बैठा है और मौका पाते ही उमड़ आता है। मैं अपने से भय खाता हुआ भी खड़ा देख रहा हूँ। कई बार इच्छा होती है कि आँखें बन्द कर लूँ, लेकिन आँखें वैसी-की-वैसी ही खुली रहती हैं। शृंगारदान की मेज पर हथेलियाँ रख मैं अपने शरीर का भार उस पर डाल देता हूँ। मेरा चेहरा शीशे की ओर तब तक झुकता जाता है जब तक कि मेरा मुँह शीशे से चिपक नहीं जाता। ठंडक चमड़े की जलन से एक हो जाती है। ठंडी कोमल सतह चेहरे में चिपकते ही चेहरे की गर्मी शीशे पर महसूस होने लगती है। लगता है जिस चेहरे को मैं मुर्दा समझ रहा था उसमें हरकत और थिरकन है। मेरी नाक के भीतर के बाल बाहर लटके हुए दिखायी पड़ते हैं। जैसे पतली-पतली पैनी सूइयाँ गड़ी हों। इन बालों की भयानकता से मन एक बारगी घबड़ाने लगता है और मैं चौंक कर अपना चेहरा हटा लेता हूँ।

मेरी हथेलियाँ गाल और मुँह को जोर-जोर से रगड़ने लगतीं हैं। गालों की हड्डियों और माथे पर गदेलियों की मलन द्वारा मैं अपने चेहरे

छुट्टी पाना चाहता हूँ। जैसे मैं अपने सिर को लादे-लादे बहुत थक गया हूँ। अपनी चुटकियों के बीच अपने गाल के चमड़े को जोर से खींचता हूँ तो सारा चेहरा और विकृत लगता है। आधे चेहरे में कुचकुचाहट होती है। आधे चेहरे का मांस चिपक जाता है और हड्डियाँ उभर आती हैं। चेहरे में कहीं ठहराव नहीं है। मैं चुटकियों से भर कर जहाँ-तहाँ चेहरे का माँस उभारता खड़ा हूँ। यह दर्द अपने आपको सुख दे रहा है। फ़िर हाथ एकाएक रुक जाता है। बन्नो के कमरे में खड़े होकर मैं यह टीस, यह वेदना अनुभव करना चाहता था। क्या शीशे में अपने को देखकर हर आदमी के मन में इसी तरह के विचित्र भाव नहीं जागते होंगे? लगता है अपने चेहरे को समझना बहुत ही कठिन है। सबको ऐसा ही लगता है या नहीं, यह मैं नहीं जानता; पर मुझे अपने चेहरे को देखकर प्रतीत होता है, जैसे मानवता-विहीन नंगी प्रकृति को मैं देख रहा हूँ। बिना परिधान के भयानक, वीभत्स, क्रूर जीवन अपनी निचली श्रेणी पर शायद इससे अधिक और कुछ नहीं होगा? अँगुलियाँ जैसे गाल में मांस की चुटकियाँ नहीं भर रहीं, वरन खून के पतले-पतले भाग हैं, मुलायम मुलायम रेशे, जिनमें कहीं जीवन भी है, अँगुलियाँ उन्हें भच-भच नोच रही हैं।

मेरे चारों ओर यह ढेर-से सामानों से भरा कमरा है, सामने यह शीशा है। एक क्षण के लिए जैसे सब कुछ मेरी चेतना को छू गया है, मैं गनगना उठा हूँ। चीजों की एक बाढ़ है जिसके बोझ से दब गया हूँ। उसी का एक हिस्सा बन गया हूँ। इस क्षण, इस वर्तमान में मैं जी रहा हूँ। मेरे सामने वर्तमान के सिवा और कुछ नहीं है। यह कमरा, यह पलंग, यह आलमारी सभी की जड़ें वर्तमान में निहित हैं, वर्तमान अपने शाश्वत रूप को प्रगट कर रहा है। वह जो उदभासित होने को सार्थक बनाने में लगा है, वह जो जिन्दगी का एक भाग है, वह जिसे जिन्दगी से अलग नहीं किया जा सकता। जो बीत गया है, वह मेरी

पहुँच से बाहर हो चुका है, उसे केवल विचारों से स्पर्श किया जा सकता है !

एक क्षण के लिए जैसे मैं उन विचारों में डूब गया हूँ। एक अकुलाहट है, जिससे मैं मुक्ति पाना चाहता हूँ। मुझे मेरा शरीर जैसे जकड़ बैठा है, हाथ पैर मन-मन भर के लग रहे हैं। रग-रग में एक ऐसी चुनचुनाहट भर गयी है, जैसे जबरन किसी ने मुझे भरे तालाब में डुबा दिया है। पानी के तल में डूबा हुआ पूरी कोशिश के बावजूद भी हाथ-पैर हिला पाने में असमर्थ रह जाता हूँ। आस-पास के सामानों से ज्यादा मुझे अपना शरीर भारी लग रहा है। बर्फ की शिला की तरह जमा-जमा, ठहरा सा ! लगता है जैसे मेरे अन्दर बन्नो अभी-अभी दूसरी बार मरी है।

थोड़ी देर पहले वह मेरे भीतर जीवित थी —जीवन की असीम कुलबुलाती छटपटाहट और गर्मी के साथ जीवित थी। मैं अपने भीतर उसका जीवन अनुभव कर रहा था। अनुभव कर रहा था जैसे मैं सरकस के एरिना से अभी-अभी निकला हूँ। अनुभव कर रहा था जैसे 'एलिफेंटा केव' को जाती हुई लांच पर चिपके स्लेक्स वाली लकड़ी खड़ी है। अनुभव कर रहा था धुआँधार के आस-पास वह सुप्रभा घूम रही है। कह रही है, 'तुमी की जानो तुमी बोगा !' इन सबको एक साथ, अगल-बगल विभिन्न रंगों में बारी-बारी से फिर मिले-जुले धब्बों में देखता हुआ मैं ऊब उठा था, कलेजे पर एक भार अनुभव कर रहा था। याद का एक बड़ा पत्थर जिससे साँस फँस रही है, जैसे बचपन में कभी चटाई या दरी लपेट कर सो गया था और कोई लड़का ऊपर चढ़ आया था। तीखी घुटन में साँस लेना दूभर हो गया था और सिवा चीखने के कोई चारा नहीं था, एक चीख जो अन्दर-ही-अन्दर घुट रही है। इस शीशे के सामने खड़े होकर कितनी बार बन्नो ने मेरे आने की आशा न की होगी ! क्या मरने के पूर्व उसने अपने आँचल से आशा के दिए को

बुझा दिया था ? क्यों ऐसा लगता था जैसे बहुत कुछ है जिस पर समय का, बीतें समय का पर्दा पड़ा है। एक सत्य है जो कहीं छिपा है। बन्नो इस तरह क्यों मर जायगी। साँप ? साँप काटने की याद आते ही मन में एक प्रश्न चिन्ह खड़ा हो जाता है।

अब कुछ भी बाकी नहीं बचा। वह मेरे मन के खाली विचार थे जो मुझे कुभ रहे थे, पर उनमें ताजगी कहाँ है ? मुझे यह नहीं कहना चाहिए था, यह कह डालना गलती थी कि भूतकाल कहीं नहीं होता। और लगा जैसे बन्नो एक शून्य में गुम गयी है। न होने की अवस्था को प्राप्त हो गयी है।

मन के भीतर एक विशाल हाथ पंजा फैलाये बढ़ रहा है, वह बन्नो को सजीव पकड़ लेना चाहता है। चाहता है कि वह उसे स्मृति के गह्वर से बाहर खींच कर खडा कर लेगा। जैसे बन्नो शीशे के सामने गीली-गीली नम आँखें लिए बैठी है। जैसे वह खूब रोई है और उसकी आँखें सूज आयी हैं और मैं जोर से चीखकर उठना चाहता हूँ—'यह क्या बन्नो ?' दौड़ कर उसके कपोलों को, उसके होठों, उसकी पलकों को, अपने जलते होठों के चुम्बन से भर देना चाहता हूँ। मेरे होंठों में उसके नककीन आँसुओं की खराई अनुभव हो रही है।

आगे बढ़ता हूँ, तो श्रृङ्गारदान के पास पड़ी तिपाई से पैर टकराकर रह जाते हैं। स्मृति खंडित हो जाती है, मैं जहाँ-का-तहाँ खड़ा हूँ, मेरे ओठ जल रहे हैं। कमरा उसी तरह अस्तित्व हीन जैसा-का-तैसा मरा-मरा पड़ा है। अभी यहाँ जो जीवन की छिटकती चिनगारी थी, उसे अभी जीवन का सूर्य पश्चिम में अपनी सारी किरणों को साथ ले डूब गया है।

रात का काला स्याहपन हर चीज पर साया डाले पड़ा है, मैं उसे बर्दाश्त नहीं कर पाता ! शृङ्गारदान की हर चीज को काँपते हाथों से

स्पर्श कर मैं उस जीवन को अनुभव करना चाहता हूँ, जो थोड़ी देर पहले मुझे दिखा था।

आज से दस-बारह दिन पूर्व इन चीजों में एक कांति थी। वह बन्नो की प्यारी-प्यारी खुशनुमा कांति, जो उसकी नाजुक पतली अँगुलियों से निरन्तर फूटती रही है, जिनके स्पर्श से उस कमरे की हर चीज जिन्दा थी। लगता है इन सारी चीजों से एक सर्द मुर्दा आह निकल रही है। यह बिस्तर, यह तकिया, यह पलंग, यह आलमारी, यह हेयर पिन, यह रोज, यह क्रीम, यह पाउडर की डिबिया चीख-चीख कर मुझे प्रताड़ित कर रही हैं ! सारी चीजों पर लाल-लाल खून पुता है। बन्नो के खून का एक चहवच्चा इस कमरे में भरा है और सारी चीजें उस खून में तैर रही हैं, उतरा रही हैं। मैं इसे देख नहीं पाता और अपने आँख, कान पर हथेलियाँ जमाकर वापस भागता हूँ।

बन्नो के कमरे से लड़खड़ा कर बाहर निकलते हुए देखकर किसी ने मुझे टोका है, याद नहीं आता वह कौन था ? घर का ही कोई आदमी था।

बदहवास हालत में मैं घर के बाहर चौतरे पर आ खड़ा होता हूँ, साँस जोर-जोर से धौंकनी की तरह चल रही थी। तभी निर्मल तुम आ खड़े हुए।

'क्या बात है ?' चेहरे पर तुमने पैनी आँखें गड़ाकर पूछा था।

कुछ देर मैं चुप रहा। फिर न जाने क्यों मैं कह गया, 'आज पहली बार मैं बन्नो के कमरे में गया। पता नहीं क्यों, वहाँ खड़े रहकर ऐसा लगा, जैसे बन्नो मरी नहीं, उसे साँप ने नहीं काटा। एक अजीब-सा रहस्यपूर्ण वातावरण लगता है उस कमरे का।

तुम मेरी शंका को सुनकर न उथले हुए, न गम्भीर, कुछ बोले ही नहीं। मैं कहता चला गया, 'वहाँ थोड़ी देर खड़े रहने के बाद अजीब-सा

भय लगा मुझे और मैं बहुत चेष्टा के बाद भी अपने को सँभाल न सका।'

'भ्रम है!' कह कर तुम चुप हो गये।

मैं उसे शाश्वत कब कहता हूँ, भ्रम तो है ही! पर इस भ्रम के पीछे कारण क्या है? इस भ्रम का जन्म क्यों हुआ मेरे मन में? और मन में वह कारण क्यों आया?

मेरी इस बात का उत्तर तुम नहीं दे पाये। फिर थोड़ी-सी बहस के बाद तुमने कहा था—मैं भी यही सोच रहा हूँ राजू! मेरे मन में भी यह बात कई तरह से आयी है। बन्नो की मौत का रहस्य क्या हो सकता है? साँप की बात क्या काल्पनिक नहीं हो सकती? पर हमारे इस तरह सोचने का आधार क्या काल्पनिक नहीं हो सकता? बन्नो हम तुम सबके साधारण रिश्तों से अधिक है और शायद यही कारण है कि हमारा जी इस बात के लिए नहीं पतियाता कि बन्नो मर गयी।

'पर निर्मल इतना ही नहीं है,' मैंने कहा था, 'हर शंका के पीछे चाहे झूठा ही आधार क्यों न हो, कुछ-न-कुछ कारण होना ही चाहिए।'

लेकिन किसी के सामने मुँह खोलते हुए भी डर लगता था। बन्नो कहीं परायों के बीच नहीं थी, उसकी किससे अनबन हो सकती है? क्यों हो सकती है? और धीरे-धीरे बात एक तरह से समाप्त हो गयी। फिर भी न जाने क्यों मैं बन्नो के कमरे में जाने की हिम्मत से पस्त हो जाता था, जा ही नहीं पाता था। उसके कमरे के भीतर पैर रखने के पूर्व ही दिल की धड़कन बढ़ जाती थी, और पैर जाने के पहले ही लौट आते थे।

—:०:—

पंडित नर्बदा प्रसाद

यह साँझ अच्छी लगत है, छत पर खड़ा होय के बादल देखित है। भाँग के नशा आज तनिक गहिरा है। ओहकर रंग बादल के रंग से खूब मेल खात है, खूब नीक, खूब अच्छा। भाँग के नशे में यही तो बाद-शाहत है, एक बार हल्की-गुलाबी से तनिक गहरी छन जाय फिर का पूछै का है। जहाँ-तहाँ बत्ती जल गयी है, छत की मुड़रिया पर बैठ के हम मजे माँ इधर-उधर देखित है। आसमान माँ कई एक पतंग लड़ रही हैं। मुँडेर के दूसर ओर कुँआँ की तरह आँगन देख के डर लागत है। जिव माँ आवत है कि एक बार कूदि जाव नर्बदा! देखा कैसा मजा आवत है?

कई बार पहले व जब भाँग पी कै छत पर खड़ा भै रहै तो ऐसन तबियत भी रहे कि बस एक छलाँग में आँगन के नीचे। पर जिव न जाने काहे साथ नाहीं दीये रहा और हम डर के मारे मुँडेरिया पर से हट गै रहे। पर आज आँगन वाली कुँआँ की गहराई की तरफ धियान जाय के पहिले ही निगाह दूसर ओर चली गै।

सामने आँगन का छज्जा है, किवाड़ा बन्द है। किवाड़े माँ शीशा लगा है, अन्दर रोशनी जल रही है। यह राजू का कमरा है। उहका कमरा देख के बुखार की तरह गुस्सा चढ़ि आवत है। हम दाँत पीसत बैठ के ऊ किवाड़ा की तरफ निगाह गड़ाये अही। पर आज बात कुछ और दूसर है।

कमरे के भीतर बत्ती जलत है तो किवाड़ कै मोट शीशा पर परिछाई पड़त है। आज ई परिछाई मन में खौलन डाल दिहेस है, एक बार पहिलेव ई परछाई ऐसेन दिखाई पड़ी रहे तौन हम आँख फेर लीहेन रह। पर आज परिछाई ज्यादा नीक लागत है काहे कि बहुरिया कपड़ा उघारेसि है। ओहकर देहें की पूरी परछाई से जैसन आग धधकि आयी करेजवा

मां। हम घड़-घड़ सीढ़ी उतर कै नीचे पहुँच गा। राजू कै कमरा का किवाड़ा बंद नहीं। मेरे आँख मां नशा छल-छलाय आवा! —'हाय ई गदराई देहियां, ई जोबन! सरवा नीच रहा जौन छोड़गा।'

दोनों हाथ से किवाड़ा ठेल दिया। चकराय गयी औरत। ऊ समय हमार लिए वह और का रेहै। हम नाहीं जान सके कि ऊ काहे जैसन की तैसन खड़ी रह गै। धीरे से हम आपन पीछे का किवाड़ा बंद कै दिहेन। फिर हमार हाथ बिजुली कै बटन पर गा।

हम केवल इतना ही सुना रहा, 'नाहीं चाचा!'

ऊ निगोड़ी चीखिस काहे न! चिल्लाइस काहे न! का डर रहा ऊ छिनार कै। लेकिन जब तलक ऊ ससुरी कुछ सोंच पावै, ओहकर पहिलवा विजली की तरह ओह पर फाट पड़ा रही। रंच्चौ बखत तो नाहीं दीन। एकै पल मां हम कमरा मां ओलियाने और न जाने कैसे हमरे समझ माँ आवा कि बिजुली बुताय दे। अगर बिजुली तनिक देर और रहि जात, तो हम भाग खड़ा होइत। दिप-दिप करत ओहकर देहिया! बदन छिपावै के लिए उठा ओहकर हाथ—और ओहकरै ऊपर ओहकर आँख की चमक, सब बिजुली के बुताते समाप्त होई गा। हम लपक के धै तो लिहिन और ठूस दिहेन ओही का साड़ी ओहकर मुँह मां।

'सरवा राजू सुफल नाहीं किहेस तोहार देहियां हम करित है।' जौन मसका कि छट्ठी का दूध याद आय गा होई। तोर डारा ओहकर अंग-अंग हम। पहिले ऊ छटपटान बहुत, पर ससुरी हमार बाजू से छूट के कैसन जात। पानी-पानी कै दिहेन ओहका हम। अगर मुँह मां धोती का पल्ला न ठूँस देइत, तो कुछ नाहीं होय सकत रहा।

हम नाहीं जानित की ई सारी अक्किल कै बात आई कैसे। कुच्छौ तो हम नाहीं सोंचा रहा पहिले।

थोड़ी देर बाद चलते बेरिया हम जोर से डाँट के कहि दिहेन रहा, 'सुन ले छिनार, अगर जबान खोले और पंडित नर्बदा का बद-नामी भा, तो गँडासा से पहिले काट डालब तोहका! हम जाइत है गंगा जी, भला आपन अच्छा-बुरा समझ के जबनिहाँ खोले।'

कहि तो आये रहा। पर जब निकसा तो ओहकर रोवैं कै फुफकार सुनाई पड़ी। जैसे ऊ आवाज मोर कलेजवा माँ गड़ि गै।

गंगा जी के किनारे पहुँच कै चैन न मिला। जैसे लागत रहा कि अब कोई आय के कहत है! अब कोई आय के कहत है! जैसे-तैसे बखत काटा। दूसर दिन साँझ का घर लौटे। कहीं कोई बात नहीं रही। यह बात मन का और पछितावा करै लाग। बिना बिना मनई कै औरत की का बिसात! ससुरी केकर आगे मुँह खोलत? जेकरे आगे कहत, कौन मानत ओकरे बात! लोग वही कै उलटा गरिआवैं लगतें। शायद यही डर रहा। फिर कई रात हम ओहकर दरवाजा बाहर गये। पर हर समय दरवाजा बंद रहा। चौका, आँगन, गुसल जहाँ-तहाँ पहिले दिख जाति रही, अब कहूँ भेंट न भई। बहुत चाहा कुछ पता चले। पर बात ऐसन खतम होय गा जैसन कुछ भवा ही नाहीं। ओहकर यादि मां दहें जुड़ाय लाग। ऊ दिन का मजा वु सोच कै मनवाँ मां खटक होय लागै। का एक बार पुन न मिली हमका बहुरिया। मन राजू का गरियावै लाग। हरामजादा कैसन नीक पतुरिया छोड़ कै चला गया।

जहाँ-तहाँ गदेलवन से पूछ कै थाह लेन चाहा। सुना, 'भाभी कमरा माँ औलियाई रहित हैं।' ओहकर आगे कौनो कुछ न बताइस। ई जरूर समझ में आवा कि ऊ हमार नजर बचावत है। चुप रहत है, जैसन कोई ताला पड़ि गा है मुँह पर!

'हमका यही तो बुरा लागत है। जो कुछ किया ओहमा हमार का गुनाह, हम मन मां ठान कै कुछ करै थोड़ी गै रहे। लेकिन एकै बात

खटकत-रही—'ई मुँह चोरी काहे की ।' कौन बात रही जौने से ऊ इन तरह छिप कै रहय लाग । बहुत कोशिश कीन पर औरत की जात—कुछौ पल्ला न पड़ा ।

समय के साथ बात पुर गयी । फुन हमऊ आपन काम धँधा माँ सब कुछ बिसर गये । झूठी नाहीं । जब जब ऊपर आकाश की ओर निगाह जाय, तो राजू कै कमरा का किवाड़ा याद आय जाय । लेकिन हमेशा ओही एक काम थोड़ी रहा । हाँ, रात-बिरात जब आँख खुल जाय तो जी यही होय, 'कैसन है बहुरिया !' बहुरिया कहत शरम लागत ही । एक अजीब-सा लगाव मन-मां जुड़ गा रहा ओहकर संघे । शायद यही बरे हम सोचत, रहिन सोचत रहिन पर कुछ पल्ले न पड़ा ।

—:०:—

निर्मल

कल फिर आयेगा । आज की बात पुरानी पड़ जाएगी । इस तरह कब तक बैठे रहोगे । पता नहीं क्यों तुम मेरी बात को उपदेश समझने लगते हो । मैं जो कुछ कह रहा हूँ सहज ही कह रहा हूँ । न मैं बौद्धिकता का भ्रम उत्पन्न करना चाहता हूँ, न मैं रुग्णा मनोवृत्ति का अस्वस्थ प्रकाशन । इसलिए तुम्हें चुप देखता रह गया । खोजता रह गया, किस जगह से बात उठाऊँ । तुम मन की अन्तर-गुहा में भटक रहे थे । मैं तुम नहीं हूँ, फिर भी तुम्हारी मनःस्थिति का बहुत कुछ अंश भाँप सकता हूँ ।

तुम्हें चाचा ने बुलाया था । वह खुद नहीं आ सकते थे । तुम जब उनके सामने जा खड़े हुए, उस समय तुम पर क्या बीत रही थी,

यह तुम्हारे बिना मुँह खोले भी जान चुका हूँ। कैसे निरीह नग्न पुरुष-से अपने को अनुभव कर रहे होगे तुम। हीनता, और हीनता में डूब गये होगे। बन्नो को मैं तुम्हारी तरह निकट से नहीं जानता, फिर भी मैं समझ सकता हूँ--कल्पना के प्रेम और इच्छा के प्रेम का अन्तर मेरे सामने स्पष्ट अंकित हो उठा है।

बन्नो मरी नहीं, मार डाली गयी है। चाचा के इस कन्फेशन से तुम्हारे पैर तले की धरती खिसक गयी। मैं नहीं जानता कि तुम किस तरह वह सब सुन सके पर जिस तरह से तुमने बयान किया है, उससे मैं बहुत कुछ अनुभव कर सका हूँ। जड़ पत्थर की तरह मैं खुद द्रवित हो अपने घनीभूत मन में डूब गया था। फिर कैसे कुछ कह पाता।

मैं तुम्हें पुकारते-पुकारते सामने आया था, तो एकबारगी तुम्हारी आँखें कहीं शून्य में डूबी थीं। इतना दुःख मैं नहीं सह सकता। पर दुःख का अगम्य दरिया बन तुम बैठे थे। इच्छा हुई थी कि एकदम से तुम्हें अपनी बाहों में भर लूँ फिर तुम्हारी आँखों में टप-टप आँसू थे, जिन्हें देखते ही मेरी बाहें शिथिल हो उठीं थी। फिर मैं कारण जानने को उतावला केवल पूछता ही रह गया था। मैं सोच रहा था। किस नयी अनहोनी की गिरफ़्त में तुम आ गये हो। तुम्हारी इस दशा से मैं तिल-तिल गल रहा था। एकबारगी तुम मय हो कर तुम्हारे दुःख से परिचय पाना चाहता था। शायद तुम इसे मेरा फूहड़पन ही कहोगे।

फिर धीरे-धीरे तुम खुले। तुमसे बातें करते हुए भी मैं बराबर तुम्हारी आँखों की पकड़ में था--वहाँ आत्मा को शुद्ध करनेवाला दुःख था। दुःख, जो एक आग है और मैंने उसमें तुम्हें जलते देखा है। लेकिन केवल सतही तरह से तुम्हें बहलाने के लिए मैंने कह दिया था, 'क्यों मानते हो कि बन्नो मर गयी। वह तुम्हारे लिए जीवित है और

हमेशा जीवित रहेगी।' फिर मैंने आत्मा की अमरता पर एक छोटा-सा लेक्चर दे डाला था।

लेकिन जो कुछ भी मैं कह रहा था, मैं उन शब्दों के खोखलेपन को जानता था। मैं जानता था कि इन बातों के पीछे मेरे मन का कोई आधार नहीं है। मैंनें तुम्हें केवल कुरेदने के लिए ही कह डाला था, 'क्या यौन सम्बन्ध ही सब कुछ है ? क्या उससे ऊपर प्रेम की कोई तुम सत्ता नहीं मानते। क्या प्रेम हरहराते वेगमय प्रपात की तरह नहीं है, जो तिरंतर बाँटना जानता है। फिर लेने की बात क्यों सोचते हो ?'

तुम ज्वालामुखी की तरह फट पड़ोगे, यही मैंने आशा की थी। मैं चाहता था, जो गुब्बारा तुम्हारे अंतर में सिमट बैठा है, वह बाहर आ जाय। मैं जानता था औरत की माँसलता से विदग्ध तुम मरुभूमि में प्यासे भटक रहे थे। किसने धीरे से तुमने कहा था, 'जो कुछ तुम कह रहे हो, क्या मैं नहीं जानता ! पर मैं तो उस शरीर के लिए रो रहा हूँ, जिसमें वह आत्मा थी। मैं उस माध्यम के लिए रो रहा हूँ, जिसके द्वारा प्रेम आत्मा को स्पर्श करता है। फूल न होने ही से सौंदर्य उद्भासित नहीं होता।'

तुम्हारे इस उत्तर ने मुझे निरुत्तर कर दिया था। कैसी प्यासी आँखों से तुम मुझे देख रहे थे ! मैंने बात बदलनी चाही थी, पर मुझे सफलता नहीं मिल सकी थी। तुम जानते हो जीवन को परास्त भाव से मैं नहीं देख पाता। और तुम्हारी यही दशा मुझे उद्वेलित कर रही थी। काफी देर चुप बैठे रहने के बाद मैंने बताया था कि किस तरह मैंने रऊफ़ मियाँ के पास आदमी भेजा। मेरा विश्वास था कि यह घटना तुम्हारे मन की बखिया उधेड़ सकेगी। तुम्हें रऊफ शुरु से अच्छा नहीं लगा। न-जाने क्यों मेरे मन में एक भाव आ गया था और मैंने

सुबह-सुबह एक आदमी रऊफ़ के घर पर लगा दिया। शायद बन्नो के मरने का सुराग उससे खुल जाय। शायद वह कुछ जानता हो! बड़ी अट्टालिका की नींव में छोटे-छोटे कुछ ऐसे ही लोग होते हैं, जो समय-कुसमय बड़े काम आते हैं। मैं तो केवल एक चाँस ले रहा था।

अपने साथी केशव को जानते ही हो। वह उसके पीछे लग गया। वह रऊफ से दो बार ही मिल पाया है। केशव की शंका ठीक निकलेगी मैं नहीं जानता था। पर वह कह रहा था, मुझे देखते ही वह अजीब तरह से घबड़ा गया था। और फिर केशव अपने खोज के विवरण बताता रहा। अगर चाचा कन्फेस न करते तो बात रऊफ से जरूर खुल जाती।

पर तुमने बीच में ही मुझे चुप करा दिया। तुम कह बैठे थे, 'नाम मत लो उस नीच का!'

फिर मैंने निगाहें पैनी करके तुम्हें अच्छी तरह से देखने की चेष्टा की। तुम दो शब्द कह कर चुप हो गये। लेकिन यह चुप्पी बड़ा भयानक मनोभाव लिए थी। अंदर-ही-अंदर तुम अपना सिर धुन रहे थे, मेरे पास प्रेम की समस्या नहीं थी। मेरे पास कोई समस्या नहीं थी। फिर क्यों निर्मल, क्यों, मैंने इतनी विशाल उलझन पाल ली। मैं क्यों पगु बन गया?

तुम्हारे इस क्यों का उत्तर क्या नहीं है?

मैं देख रहा था, कैसे यत्किंचन हो उठे हो तुम! बन्नो के प्रति सीमाहीन आत्मसमर्पण करने के लिए किस कदर लालायित हो। शायद बन्नो के होने पर तुम्हारे मन में उसके प्रति इतनी तीखी अनुभूति न जागती। न होना ही होने की निशानी है। मैं तुम्हें निरे अतीत में भटकते नहीं रहने देना चाहता था। दुःखी वर्तमान से तुम्हें बाहर खींच लाने के लिए भविष्य की रंगीनी कहीं नहीं थी। फिर भी मैं तुम्हें खींच रहा था।

भावावेश में विह्वल होना, टूट जाना, नष्ट हो जाना—यह सारी दशा खंडित व्यक्तित्व की है। मैं आत्मा का शैथिल्य नहीं चाहता। नहीं चाहता कि तुम वह सब फिर दोहराओ, जो एक बार कर चुके हो। यह केंचुल है, जिसे अपने चारों ओर कस कर तुम लपेटे हो। उस आलोक को देखो, जो अंतर से निरन्तर प्रस्फुटित होता रहता है।

समय सबसे बड़ा पूरक है; और यह दुःख शायद बहुत भारी पड़ता। मैंने समझाया था, जिन्दगी को इतना सीरियस नहीं लेना चाहिए। उसे उघाड़ कर देखने से नफ़रत पैदा होती है। बुद्धि और भावना सब फेर है। अनुभवों का सपुंज बन कर रह जाना कोई जीवन नहीं। लालसा का वेग नहीं मिटना चाहिए। शायद उस समय तुम्हारे मन की मनःदशा बहुत ही अजीब होती, अगर तुम एकबारगी यह जान जाते कि चाचा ने, तुम्हारे नर्बदा चाचा ने बन्नो के साथ यह किया! उस समय शायद विवेक, तुम्हारा साथ नहीं देता। हो सकता था तुम चाचा की हत्या पर तुल जाते। तुम ही कह रहे थे कि यह परिस्थितियाँ ही हैं, जो अनहोनी करती हैं। नहीं तो नर्बदा चाचा को क्या पड़ी थी कि वह तार भेजते। तुम्हारा पता तुम्हारे आदमियों ने पहुँचा दिया था। जब तक बात तुम्हारे बाबू के कानों तक पहुँचती, तो शायद तुम कहीं और जा चुके होते। या उस समय आते, तब घटना कुछ और ही होती। सम्भावनाएँ अनन्त हैं और यह मनुष्य ही है जो उन्हें सोच सकता है।

'लेकिन चाचा ने तार भेज कर अपनी करनी पर पर्दा ही डालना चाहा था।' तुमने जोर डाल कर कहा था।

तुम्हारी इस बात का और क्या उत्तर हो सकता है कि आदमी अपनी हर करनी अच्छी ही समझ कर सकता है। उसे सही बताने के लिए हर तरह की सफाई देता है। हमारे जीवन के सारे क्रिया-कलाप उन प्रश्नों की कोरी सफाइयाँ नहीं, तो और क्या हैं?

फिर हम लोग घंटों बातें करते रहे। घूम-फिर कर सारी बातें बन्नो के इर्द-गिर्द चलती रहीं। कभी हम लोग बात करते-करते चुप हो जाते, गहन सन्नाटे में डूब जाते। एक चुप्पी का धुंध हम लोगों को घेर लेता है। फिर मन उमड़ता। बातें निकलतीं। अदूरत्व, आप्लावनकारी बोध होने लगता। यों ही ऐसे ही जैसे जीवन चलता है। हम लोग चलते हैं--क्षण के बाद क्षण, दिन के बाद वर्षों तक। एक क्षण भी जिस की सीमा है और वर्ष पर वर्ष भी जिसके लिए कम।

जड़ित, हतसंज्ञ, निर्निमेष हम तुम बैठे रहे। न-जाने कितनी देर तक! मेरे पास और कुछ नहीं जिससे मैं तुम्हें पूरित कर सकूँ। शब्दों से ही मैं तुम्हारा दुःख बटा सकता था। वह करता रहा। किसी अधिकार से नहीं, किसी इच्छा से नहीं। न जाने क्यों अच्छा लगता था।

इसलिए बैठा रहा। बातें करता रहा ज्ञान की, समाज की, मर्यादा की, आदर्श की, अनुभूति की, बुराइयों की, संसार की, नश्वरता की। एक मदहोश ध्वनियाँ थीं, जिसे हम लोग बकते जा रहे थे। भावनात्मक उलझनों में बहते हुए निःसत्व और पंगु पने। क्योंकि मैं चाहता था तुम मेरी तरह सोचो, मेरे अनुरूप बनो। बस इसी महती इच्छा की पूर्ति के लिए मैं खप रहा था। यह मैं जानता हूँ, पर कहने पर स्वीकार नहीं करूँगा। बल्कि उलटे मोटे-मोटे कोटेशन दूँगा। अपने को बड़ा साबित करूँगा।

कहूँगा फर्ज समझ कर कर्त्तव्य निभा रहा हूँ।

--:०:--

बन्नो

यह क्या हो रहा है?

मैं स्वयं कुछ सोचने में असमर्थ हो उठी हूँ--यह भी नहीं जानती!

इतना अधिक सोचने लगती हूँ कि यह नहीं समझ पाती कि क्या सोचती हूँ। जैसे सोच का एक दरिया उमड़ आया है और उसमें कब डूबती हूँ, कब उबरती हूँ—पता ही नहीं चलता।

एक मशीन है जो अकारथ चल रही है, जिसके लिए कुछ दूर नहीं, कुछ पास नहीं, कोई समय नहीं, कोई जगह नहीं। कहीं है भी, यह नहीं जानती। ऐसा लगता है कि समझ ने साथ छोड़ दिया है। एक बड़ी-सी खामोशी की कंदरा है, जिसमें कहीं हूँ भी मैं इसका मुझे पता नहीं। एक बड़ा-सा प्रश्न है--क्या होगा मेरा, क्या करूँगी मैं? एक सिरा खोजती हूँ, तो दूसरा खो जाता है, दूसरा खोजती हूँ तो पहला छट जाता है। कहीं निस्तार नहीं मिलता!

कभी-कभी पूछती हूँ, क्या मैं हूँ? इस का कहीं से कोई उत्तर नहीं आता।

मेरे सामने तो बस एक चुप है और सब अंधकार!!

—:o:—

राजू

तुम सामने आते-आते रुक गये निर्मल! मैं तुमसे जितना छिपना चाहता हूँ, तुम उतना ही पीछा करते चले आते हो। यहाँ इस निर्जन में चले आये। तुम्हारे पास आते ही मेरी आँखों की नसें फटने लगीं। मन का बाँध एकाएक क्यों टूट गया। ग्लानि का कोहरा छाने लगा। तुम मुझे कोसते हो। मेरे दर्द को कोसते हो। कहते हो, विश्वास दर्द से ऊपर होता है। कहते हो, मैं अपरिपक्व हूँ, कच्चा हूँ! विश्वास नहीं

जानता। लेकिन जिस का विश्वास पंगु हो गया, वह किस का सहारा करे। उन्हें, जिन्हें कि महानतम समझता था, कैसे यत्किचन निकले।

वह दु:ख जो कल तक कम हो गया था, आज फिर फफोले डाल गया है। पंद्रह दिन के अंदर नर्बदा चाचा को कोढ़ फूट आया है। हाथ-पैर की अँगुलियाँ पानी-पानी हो गल रही हैं। जाओ, एक बार देख आओ उनको और जान जाओगे जिस आत्मा का ढिंढोरा पीटते हो, वह कितनी विशाल होती है! शरीर का ऐसा रूप भी वह वाहन कर सकती है, यह कल्पना में नहीं सोचा जा सकता। उन का चेहरा इतना विकृत हो उठा है कि उन्हें देख नहीं सकोगे। मुँह नोच लोगे अपना––हाय यह आदमी! चाची वह औरत है, जो चाचा के घाव-पीप धोते हुए घिनाती नहीं। वह कह रही थी, 'वह रात भर पीड़ा से तड़पते रहते हैं। इन की कुछ दवा करो।'

मेरी बात को सुन कर चौंक पड़े। चाचा को क्या हुआ? पर मैं चौंका नहीं था, मैं पत्थर हो उठा था, जिस समय मैंने चाचा को देखा। देखा था उस हाड़-माँस के आदमी को। उमर पा कर आदमी ऐसा क्यों हो जाता है?

मेरी आँखें लाल आसमान पर टिकी हैं। मेरे जलते हृदय का रंग आकाश में छाया है। तुम चुप पास आ कर खड़े हो गये हो। मेरी आँखों को देखने की तुम्हारी हिम्मत पस्त है।

बड़ी कठिनाई से मैं वह सब बता सका हूँ, जो चाचा ने बताया है। मैंने जीवन में इनी-गिनी मौत ही देखी है। वह बचपन था जब पहली बार बाबा को मरते देखा था। दूसरी, तीसरी बार जिन की मौतें हुई––उनकी मौत को याद कर मन और बोझिल हो जायगा। जैसे वह सब लोग मेरे सामने अभी-अभी मरे पड़े हैं। आँखें बंद करते ही मुझे वे लाशें दिखायी पड़ने लगती हैं, आँखें खोलते ही मेरी आँखों के आगे मुझे चाचा का

बदबू करता हुआ शरीर दिखने लगता है। ऐसी सड़ान्ध जिससे अभी भी मेरा माथा फटा जा रहा है। पाप का अपच हो गया है चाचा को।

कल्पना करो—स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण की सहजता और उसकी आवश्यक पापमय परिणति की ! वह परिणति, जो चाचा को बन्नो के कमरे तक ले गयी। उस समय, चाचा के लिए बन्नो उस औरत से क्या कम थी, जो खुश होने पर गू-मूत का टोकरा खोल देती है ! बन्नो ने वह भेंट खुशी-खुशी नहीं दी थी। चाचा के पशु ने जबरन् उससे उसका सहज छीन लिया था। रूप-लावण्य का वर्णन चाचा अभी भी गलते हुए मूँह से करते नहीं थके। बन्नो के लिए लालसा की झलक चाचा के मन में अभी अवशेष है।

वह भाँग के नशे में थे, निर्मल भाई !

नशे में आदमी अंधा होता है। चाचा के मत से उन्होंने कोई पाप नहीं किया था।

बन्नो की मौत मुझे इतनी नहीं खली थी। मैं शाँत हो चुका था। पर चाचा की यह घटना ने मुझे तोड़ डाला है, मरोड़ डाला है, चिथड़े-चिपड़े कर डाला है। क्या रह गया है अब मेरे लिए !

चाचा को दुःख था कि उस साँझ के बाद बन्नो क्यों इतनी चुप हो गयी। वह उसे फिर क्यों नहीं दिखी। क्या चाचा की उमर थी बन्नो को समझने की। यह उन्हें कौन समझाये।

वह बेचारी ! उसके तो मुँह के बोल ही बंद हो गये होंगे। औरत की कोई लाज होती है—मैं नहीं मानता। मैं नहीं मानता कि चाचा ने कोई पाप किया था बन्नो के साथ। फिर वह इस तरह क्यों बन गयी ? मैं खुद उलझन में हूँ, जैसा कि चाचा कहते हैं—वह इतनी शाँत क्यों हो गयी। वह ऐसी कभी नहीं थी। उसके शरीर के लिए चाचा अभी भी

तड़पते हैं। रोते हैं कि उनकी बुद्धि को क्या हो गया था। वे मुझसे माँफी माँग रहे थे। मेरे पास क्या था देने के लिए ?

चाचा ने बताया कि महीनों बाद जब वह एक इस घटना को भूल चुके थे एक दिन––चाची कहीं पड़ोसे में गयी थीं कि उन्होंने देखा—कोई औरत खड़ी है ! रोशनी काफ़ी थी, लेकिन वह बन्नो को पहचान नहीं सके। निर्मल भाई, बन्नो ऐसी हो चुकी थी।

'उसका शरीर आधा नहीं रह गया था !' चाचा ने कबूल किया है। उसके शरीर पर पपली-सी साड़ी थी। उस निरवसना को देख कर चाचा अचानक कह पड़े थे, 'निरलज्ज, इस तरह क्यों आयी मेरे पास ? क्या चाहती है अब!' चाचा के इस सहज कथन में कितना रोब था; यह आसानी से आँका जा सकता है। चाचा के वर्णन से बन्नो की मानसिक दशा अब समझ में आती है। जानते हो बन्नो ने क्या जवाब दिया था। वह सिर्फ 'इतना ही बोली थी, इसलिए चाचा कि मैं तुम्हारे बच्चे की माँ हूँ।'

क्या ?––तुम चौंक पड़े। कोई भी चौंक पड़ता। और चाचा इतना सुनाने के बाद फूट-फूटकर रो पड़े थे। विश्वास करोगे तुम ?

रऊफ तुम्हें अब नहीं मिलेगा। वह पाकिस्तान भाग गया है।

चाचा एक और सन्तान के बाप बन गये हैं, जिसे वह स्वीकार नहीं कर सकते थे। बदनामी का मुकुट पहन कर कोई, समाज में कैसे चल सकता है। 'चाचा तुरन्त ही भाग कर बाजार गये। बन्नो से वह कह कर गये थे, 'घबड़ाने की क्या बात है। कमरे का किवाड़ खुला रखना, मैं रात को लौट कर आता हूँ, सब इन्तजाम कर दूँगा।'

चाचा रात भर दौड़े, दूसरे दिन वह दो सूइयाँ खरीद कर लाये। साँप के जहर की बुझी दो सूइयां। जिसकी एक चुभन से स्वर्ग मिल जायेगा बन्नो को। भोली बन्नो !

सवेरा हुआ और बन्नो को साँप ने काट लिया। सोचो निर्मल--किस निर्ममता से चाचा ने बन्नो की बाहों में दो सूइयाँ चुभाई होंगी?

किवाड़ा खोल कर वह अपलक नेत्रों से आसरा देख रही होगी। धीरे-धीरे रात बीत गयी। उस दिन चाचा नहीं आये। दूसरी रात को वह फ़िर उसी तरह उस आदमी का आसरा देखती रही, जो उसे जीवन का वर्दान देने आनेवाला था--झूठी बदनामी का कोरा डर! और फल क्या मिला उस डर का? एक ऐसा फल, जिसके अर्थ नहीं होते। जिसे केवल सोचा जा सकता है। अँधेरे में एक परछाइं दबेपाँव उसके कमरे में आयी होगी और...और आ.... ।

जानते हो चाचा ने बन्नो से कहा था, 'यह सूई लाया हूँ, इससे तेरा पेट गिर जायेगा। कानों-कान किसी को खबर न होगी। मैंने सब इन्तज़ाम कर लिया है।'

झूठ! इतना गहरा झूठ! इतना बड़ा धोखा! जबरन लूट लिया बन्नो को इन लोगों न।--(मुझे माफ करना मैं आवेश में चीख पड़ा हूँ। फिर शान्त हो कर कहता हूँ।) बोलो, चाचा कोढ़ में गल कर दुःख भोग कर मर जायेंगे। उनकी अवस्था मेरी जैसी नहीं। अपने दुःख को उन्होंने पाप के प्रायश्चित में सहज रूप से स्वीकार कर लिया है।

पर, पर मैं क्या करूँ! तुम मुझे पिछले दस-बारह दिनों से इस घर को स्वीकार करने के लिए कहते थे। काश मैं अपढ़ होता, इन्हीं की तरह पशु होता, तो जरूर सिर झुका कर, आँखों में पट्टी बाँध, कोल्हू के बैल की तरह, इनमें डूब जाता। फिर उबरने की बात ही नहीं उठती। वह घर जहाँ इतना पैसा है--तुमने पैसे की दुहाई दी है--क्या किया उसने?

मैं सम्पूर्ण जीवित होते हुए भी अन्दर से बहुत-बहुत टूट गया हूँ। अन्दर जो कुछ है सब मृत है, जीवन एक नकाब है, चलता-फिरता केंचुल

है, जिसे हम सब लोग ढो रहे हैं। पहले मैं बन्नो की मौत को नियति का धोखा समझता था। पर नियति कुछ नहीं होती, उसका कोई अस्तित्व नहीं। अस्तित्व हमारा, तुम्हारा है, उस चाचा का है जो अपनी मौत के लिए हर घड़ी भगवान् से प्रार्थना करता है और मौत उसके करीब नहीं आती। मौत माँगने और चाहने से नहीं मिलती। ठहरो, तुम जीवन के लिए लालसा की दुहाई देते हो। मैंने तुम्हें उन भिन्न-भिन्न जीवन के सम्बन्ध में सुनाया है, जो रास्ते-रास्ते भटकते हुए मुझे मिले हैं। क्या है उनके जीवन में। दूर की बात व्यर्थ है। उस मन की कल्पना करो जिस का उस दिन जबरन संभोग किया गया है। वह एक दिन रजस्वला हो कर निकली है। क्या उसने कामना की थी पेट से होने की? वह, जो पाप का बोझ ढोते हुए शर्म से जमीन में गड़ गयी होगी! वह, जो इज्जत के नाम पर पेट में पलते हुए रत्न की बलि देने को तैयार हो गयी और अनजाने ही विष की ठंडी आग में जल मरी। उस की तरह से अनगिनत मौतों के दाग़ हमारे दामन में हैं। यह कोई तरीका है, इस दाग से मुक्ति पाने का? मेरा यह सवाल नया नहीं है। मन्दिर और गिरजे के हर घंटे की चोट में यह दामन का दाग़ अपना दायज माँगता है। पूजा का हर स्तोत्र, अर्चना का प्रत्येक मंगल-पाठ मेरे प्रश्न की गवाही देता है--मन, आत्मा और शरीर का मिला-जुला यह प्रश्न है—क्यों? आखिर क्यों ऐसा होता है?

मंगल-पाठ, स्तोत्र और घंटी की ध्वनियाँ खाली बजती रही हैं, जिनसे हलकी-सी सतही सान्त्वना ही केवल मिलती है, उत्तर नहीं।

तुम आलोक की बात करते हो जो अन्दर है। अन्दर कुछ नहीं, सब बाहर है। अन्दर एक आईना है, जो अक्स लेता है--अर्थ देता है। अगर उसे ही सही मान लोगे, तो तुम्हारी यह दुनिया होते हुए भी मिट जायेगी। माध्यम मिट जायेगा, तो अन्त तक कैसे पहुँचोगे। तुम मुझे बन्नो के

लिए मेरी आकुलता पर, बन्नो को न पा सकने की निराशा पर जलते हो, ताने देते हो, उसके लिए मेरे मन में किशोरावस्था का अधकचरा प्रणय नहीं, रूपासक्ति नहीं। मानता हूँ, सेक्स के बिना प्यार की ऊँचाई भी चढ़ी जा सकती है। तुम उसके लिए मुझे ताने नहीं दे सकते हो। लेकिन तुम यह भी नहीं कह सकते कि बन्नो एक फूल नहीं थी और नदी की लहरों पर झर कर उसने जल को सुवासित नहीं किया। स्मृतियाँ भूलने के लिए नहीं होतीं निर्मल ! स्मृतियों की हल्की थपकियों के सहारे ही जीवन का मरु पार किया जा सकता है। तुम मेरी इस बात से सहमत हो, लेकिन बातों को खूब तोड़ लेते हो। इस एकान्त में बैठ कर तुम मेरा दुःख बता रहे हो। मेरे मुँह से बातें निकलवा कर मुझे हल्का कर रहे हो। ऐसा काम तुम्हारा नया नहीं है। बचपन से आज तक तुमने हमेशा ही ऐसा किया है, पर तुम मुझसे वचन लेना चाहते हो कि मैं अपने को नये सिरे से शुरू करूँ।

लेकिन मैं किसी भी तरह तुम्हारा लदना स्वीकार नहीं कर पाता। मैंने वादा भी दिया है कि मैं योग्य बनूँगा। जीवन को ऐसे उस तरह काटा नहीं जा सकता, जैसा तुम चाहते हो। मैं मर जाऊँगा। बन्नो मेरी है और उसकी स्मृति तुम मुझसे नहीं छीन सकते। मैं मर जाऊँगा, तो फिर बन्नो को याद करनेवाला कौन रहेगा ? दुनिया माने या न माने, उस की याद को जीवित और अक्षुण रखने के लिए मेरा जीवित रहना बहुत जरूरी है; और इसीलिए मैंने तुमसे वादा किया है कि मैं जीवित रहूँगा।

पर यह सब करने-कहने के बावजूद भी तुम जो अन्तःसंयमित जीवन को एक विशाल साधना बताते हो, समाज की स्वाधीनता की बात करते हो, आदर्श के प्रति निष्ठा दर्शाते हो, ऐसा तो नहीं कि कहीं स्वयं आदर्श से च्युत हो, स्वयं कहीं बँधे हुए हो। तुम्हारे प्रति मेरे मन में ऐसी शंका

अनायास क्यों उठ रही है। तुम बाहर हो, और बाहर को समझ में पूरा ले आना अतिक्रमण है।

तुम निर्मल तुम ! तुमसे मैं हमेशा से घृणा करता हूँ। यह तुम जानते हो, तुम यह स्वीकार नहीं करते लेकिन तुम भी मुझसे घृणा करते हो। पर हम दोनों इस घृणा के बावजूद एक-दूसरे के लिए मरते हैं। एक-दूसरे से त्यज नहीं पाते। क्यों है ऐसा ? तुम बार-बार कहते हो तुम मेरी मानसिक अवस्था से परिचित हो। क्या यह सही है ? मैं बन्नो की मानसिक अवस्था से परिचित होता, तो शायद कभी बन्नो नहीं मरती। शायद कभी मैं उसे छोड़ कर न जाता। शायद उसके मरने पर इतना दुःखी न होता, जितना हो रहा हूँ। काश, मैं बता सकता कि हम दोनों एक-दूसरे को कितनी घृणा करते हैं। काश, तुम जान सकते कि मेरे कलेजे पर क्या बीत रही है !

हम जानते हैं कि हम दोनों एक ही बात कर रहे हैं। पर हम दोनों के कहने में कितना फर्क पड़ जाता है। तुम्हारा अहं, तुम्हारा बड़प्पन हर बार तुम्हें गुमराह कर देता है, जब तुम मुझे इस जीवन के बारे में, इसकी गुत्थियों और विश्लेषणों के बारे में समझाने लगते हो--तब, तुम वह नहीं कह पाते, जो मुझे चाहिए। पर, तुम वह कहते हो, जो तुम्हें चाहिए। हमारी यही विवशता है और लाख चेष्टा के बाद भी हम हम उसे जीत नहीं पाते हैं। चाहने के अंदर घृणा न होती, तो शायद हम तुम यहाँ न बैठे होते। मैंने अच्छी तरह आँका है, बचपन से जीवन के प्रति मेरे मन में एक जुगुप्सा ही रही है, जिसे ज्ञान का सुख नहीं भर सका।

आज मेरी समझ में ये सारे संकेत, जो जीवन में अस्पष्ट-से बिखरे-बिखरे फैले थे, स्पष्ट हो रहे हैं। माँ का गीता-पाठ, बाबू की गाली, रतन बाई की ठुमरी, बाबा के हुक्के की नली, सरकसवाली लड़की की

नंगी कलाई, सुप्रभा का, 'तुमी की जानो तुमी वोगा !' डाकिया राम चरित्तर की दी हुई घुमक्कड़ी की सूझ, भाई का बहिन के घर पेशे के लिए जा पहुँचना--पतले स्लेक्स वाली लड़की का मौन आग्रह, नर्बदा चाचा के मन में पाप का अनपच--सब एक ही सूत्र में गुंथे हुए लग रहे हैं और समझ में आने लगा है—सभी की गति एक है, जो एक होते हुए भी सब हैं और सव होते हुए भी एक है। जो सम्पूर्ण विखराव के बाद भी बिखरे नहीं है और जो न बिखरते हुए भी बिखर गये हैं। जिन्हें मैं बखूबी अप्रयास अपने मानस-पटल पर अलग-अलग अंकित कर लेता हूँ। यह मानस-पटल ही तो है, जो उन सब का अर्थ करता है। बिना छाप लगा, वह कौन-सा अछूता जीवन है, जिसे नये सिरे से शुरू किया जा सकता है। क्या इस एक और उन सब का जीवन निर्दय लालसाओं के ढेर के अलावा और भी कुछ है ?

यदि वह कुछ है तो कहीं सूक्ष्म कल्पना के किसी कोने में उनींदी साँस लेता हुआ जीवन है, जिससे हम तुम कभी परिचित नहीं होंगे। जिससे परिचित हैं--वह कलांत व्यक्ति के रुदन का आनन्द है, जो केवल भोगने के लिए आता है। जन्म के बीच में ही इस आनन्द के कण निहित हैं। सुख और अति सुख की खोज में भटकते हुए क्या हम सब उस कण को अपने से काटने के लिए बराबर नहीं तैयार रहते। यह जानते हुए कि हमारी सफलता के मार्ग में मील के पत्थर नहीं हैं। एक विशाल, इतना विशाल प्रांगण है, और उसकी कल्पना केवल मानव-मन में ही समा सकती है। लेकिन इन सारे फैलाव, सारे विकास के बाद भी अफसोस तो यही है कि मैं अपने मन के एक टुकड़े की सही झलक तुम्हें दे सकने में असमर्थ रह जाता है। शायद ऐसी स्थिति बन्नो की रही होगी, जो वह चुप हो गयी और एक ऐसी स्थिति हम सबके जीवन में आती है, जब हम सब प्राण रहते हुए भी मौन हो जाते हैं। और मौन के भी स्वर होता है। उसके भोग का भी एक असीम आनन्द होता है। बातें करते हुए हम तुम जब-तब चुप हो जाते हैं।

तुम पूछते हो, मैं क्या सोच रहा हूँ ? मैं सोचता हूँ कि क्या मेरा जीवन उस आदमी की तरह नहीं है, जो तार मिलने पर, घर वापस आते हुए मुझे गाड़ी में दिखा था। जो बिना टिकट यात्रा कर रहा था। जिसके भाई का कत्ल हो गया था। जो परेशानियों के पहाड़ ढोता हुआ घबराया, घबराया-सा बहक रहा था। जिसकी अच्छी-भली आँखों के आगे अँधेरा छाया था और दूसरे सारे मुसाफिर हिदायत दे रहे थे। हाहाकार करती हुई गाड़ी, नदी में बहती लहर की तरह भाग रही थी।

शायद हम सब का जीवन उससे कुछ भिन्न नहीं—अदृश्य अनन्त की ओर अकारथ भागता हुआ।

जड़ की तरह मौन समय पूरते हुए हम दोनों निष्कलंक आलोक के जगत् में विचरते है। जो शायद जिन्दगी से बहुत दूर की कोई चीज है, जिसे हम सब जानते हुए भी नहीं जानते !

--:o:--

और सब · प्रेम कपूर